

पाल्यो विसवावीस

(श्रेणिक ना बेटा, जालि आदिक तेवीस)

आत्म-बन्धुओं !

पाणस्स सव्वरस पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

(उत्तरा. ३२/२)

जिनेन्द्र भगवान की पावन वाणी वर्तमान में ३२ आगमों में समाहित है। उन्हीं आगमों में एक है—उत्तराध्ययन। इस सूत्र के ३२वें अध्ययन की इस दूसरी गाथा में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान महावीर ने फरमाया है—

“सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग और द्वेष के सर्वथा क्षय से जीवन एकान्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।”

□ दुःखों का मूल कारण है—तृष्णा !

किसी व्यक्ति के पास भौतिक सुख-साधनों का विशाल भंडार है, धन है, बंगला है, कार है, टी. वी. है, फ्रिज है जाने क्या-क्या है? नहीं है जो उसे खरीदने का सामर्थ्य है। ऐसे व्यक्ति को कभी यदि पूछें कि “भाई! तुम सुखी तो हो न?” क्या कहेगा वह? उसका उत्तर होगा—“कहाँ सुखी हूँ? मेरे बेटे ऐसे हैं, बहुएँ ऐसी हैं, शरीर अस्वस्थ है।” आदि अनेक बातें या फिर इन बातों से अलग कुछ अन्य बातें कहकर वह बताएगा कि वस्तुतः मैं दुःखी हूँ।

दुनियाँ के अधिकांश व्यक्ति ऐसे ही मिलेंगे। क्या कारण है इसका? मूल कारण है मानव की अनंत तृष्णाएँ, असीम कामनाएँ, कभी न मिटने वाली बाह्य पदार्थों की चाह। जब तक ये कामनाएँ सीमित नहीं होंगी, तृष्णाओं का अंत नहीं आयेगा, व्यक्ति दुःख को ही देखेगा, उसे जीवन की सम्यक् राह नहीं मिल सकती।

व्यक्ति एक बार तृष्णा के चक्कर में पड़ता है फिर उस चक्कर से निकल नहीं सकता। निकलना भी चाहे तो तृष्णाएँ उसे इतना जकड़, पकड़ लेती हैं कि उसका उनसे छूटना दुष्कर हो जाता है। इसके लिए मैं आपके समक्ष एक दृष्टान्त प्रस्तुत है—

(कथा-प्रसंग)

किसी समय एक वृद्धा अपने युवा पौत्र के साथ अपना गाँव छोड़कर किसी जरूरी कार्यवश एक अन्य ग्राम के लिए रवाना हुई। रास्ते में एक नदी बह रही थी। वृद्धा के पौत्र ने देखा कि नदी में कोई काले रंग की वस्तु तैरती हुई आ रही है। उसे लगा, यह कोई काला कम्बल होना चाहिए। अपनी दादी से वह बोला—“दादी माँ! नदी के पानी में एक अच्छा-सा काला कम्बल बहकर आ रहा है। तुम कहो तो मैं वह कम्बल ले आऊँ।”

दादी जानती थी कि उसका पौत्र अच्छा तैराक है, नदी के जल से उसे कोई खतरा नहीं है, पर कम्बल के लिए नदी में तैरकर जाना उसे पसंद नहीं आया। वैसे भी उसके पास दो-तीन अच्छे कम्बल थे। उसने अपने पौत्र से कहा—“वत्स! अपने घर दो-तीन अच्छे कम्बल पड़े हैं। अतः कम्बल के लिए नदी में मत उतर।”

पौत्र नहीं माना। घर पर कम्बल पड़े हैं, इसका अर्थ यह तो नहीं कि मुफ्त की वस्तु छोड़ दी जाए। उसने दादी के कथन की कोई परवाह नहीं की और उतर गया नदी में। अच्छा तैराक था। पानी में हाथ-पैर मारते हुए उस काली वस्तु तक पहुँचने में उसे कोई दिक्कत नहीं हुई। पास पहुँचकर उसने उस काली वस्तु को पकड़ लिया।

जैसे ही उसने उस काली वस्तु को पकड़ा, काली वस्तु ने भी उसे पकड़कर जकड़ लिया। तब उसे ज्ञात हुआ कि यह कम्बल नहीं, काला भालू है। अब दोनों में गुत्थमगुत्था होने लगी। काफी समय व्यतीत हो गया तो वृद्धा चिल्लाई—“वत्स! क्या हुआ तुझे? अभी तक कम्बल लेकर बाहर नहीं आया? कम्बल हाथ नहीं लगा क्या? पकड़ में नहीं आया हो तो छोड़ उसे और बाहर आ जा।”

वृद्धा का पौत्र चिल्लाया—“पकड़ में तो आ गया, पर मेरी पकड़ से उसकी पकड़ मजबूत है। मैं उसे छोड़ना चाहता हूँ, पर अब वह मुझे नहीं छोड़ रहा है।”

वृद्धा ने समझ लिया कि कुछ विपरीत, कुछ अनहोनी घटी है, कुछ अप्रिय हुआ है।

भालू से जीतना संभव नहीं था। पौत्र का क्या हुआ होगा? इसकी कल्पना आप अच्छी तरह कर सकते हैं।

बंधुओं! यहाँ भालू तृष्णा है, पौत्र आम व्यक्ति है, वृद्धा ज्ञानी, साधु, त्यागी, संत आदि हैं। यह तृष्णा ही है जो हमें भटका रही है, घुमा रही है, फिरा रही है चौरासी के चक्कर में। अनंत तृष्णाओं के मजबूत जाल से कोई-कोई पराक्रमी, साहसी, धीर-वीर ही निकल सकते हैं।

□ असली सुख बाहर नहीं, भीतर में है

जीवात्मा अनादिकाल से इन भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति के लिए भाग रहा है, दौड़ रहा है, अथक प्रयत्न कर रहा है। ज्ञानी कहते हैं—असली सुख भीतर में है, बाहर नहीं। धन, दौलत, यश आदि बाह्य पदार्थ, बाह्य सुख-साधन हैं और आत्मा से दूर हैं। जो दूर हैं, उन्हें दौड़कर पकड़ा जा सकता है, पर जो निकट है, अन्दर है, वह कैसे प्राप्त हो? असली सुख, शाश्वत सुख तो आत्म-सुख है, आत्म-ज्ञान है और वह आत्मा के, अपने स्वयं के भीतर ही है। जो अन्दर है, उसके लिए भाग-दौड़ की आवश्यकता नहीं। उसके लिए तो चाहिए सांसारिक क्रियाओं से विराम, चाहिए सामायिक, पौषध रूप विश्राम। भाग-दौड़ से जितना अपने को रोकेंगे, उतनी ही शांति प्राप्त होगी और अन्ततः सुख प्राप्त होगा।

सुख आप सभी को भी चाहिए। सुख की खोज में ही तो आप जाते हैं—बैंगलोर, चैन्नई, असम, मुम्बई जैसे दूरस्थ देश-प्रदेशों में। क्या सुख पाया आपने? कितनी शांति मिली आपको? चिन्तन करिए इस बात का। सुख का अनन्त सिंधु आपके अन्तर् में लहरा रहा है। पाना है उसे, करना है उसका रसास्वादन, लगानी है उसमें शांतिप्रदायिनी डुबकी तो अपने भीतर में उतरिए, अपने को जानिए-पहचानिए, बाहर की भाग-दौड़ से रुककर, विराम लेकर आत्म-रमण के पथ पर कदम धरिए। बाहर की दौड़ जितनी-जितनी मिटेगी, उतनी-उतनी समस्याएँ मिट जाएँगी, दुःख दूर हो जाएँगे।

□ समस्त समस्याओं के मूल में है—आरंभ और परिग्रह !

शिष्य ने पूछा गुरु भगवंत से—“भगवंत! समस्याओं का अंत कहाँ है?” विश्व के समस्त प्राणी समस्याओं में उलझे हैं, तनावग्रस्त बने हुए हैं, अतः दुःखी हैं। प्राणी के जीवन का अंत आ जाता है, पर समस्याओं के अम्बार का अंत नहीं आता। समस्याओं के समाधान में वह जीवनभर दौड़ता-भागता रहता है और मर जाता है। कहते हैं, मरने पर भी समस्याएँ पीछा नहीं छोड़तीं, वे तो साथ-साथ चलती हैं, आगे के भव में भी जन्म के साथ तैयार रहती हैं। जन्म-जन्मान्तरों का, अनंत-अनंत जन्मों का अन्त होने तक इन अनंत समस्याओं का अंत नहीं आता है।

बंधुओं! वीतराग वाणी में समस्त समस्याओं का निदान मिलेगा। सारे प्रश्नों का हल मिलेगा, सारी उलझनों से छुटकारे का रहस्य खुलेगा। गुरु भगवंत ने शिष्य को बताया—“वत्स! वीतराग वाणी ही समस्त तालों की चाबी है।” सर्वज्ञ प्रभु का कहना है कि सारी समस्याओं के मूल में दो कारण हैं। उन दो कारणों का निवारण कर दीजिए। फिर कहीं कोई समस्या, उलझन, कष्ट नहीं रहेगा। इन दो के नष्ट होने पर जीवात्मा अनंत सुख, शाश्वत शांति, चिर-चैन की अनुभूति कर सकेगा।

वे दो कारण हैं—‘आरम्भ और परिग्रह’। इन दो कारणों से जिन्होंने अपने को दूर कर दिया, हटा लिया अपने आपको आरंभ-परिग्रह से, त्याग दिया इन दोनों को तो समझ लो वे सर्व समस्याओं का समाधान पा गये, सर्व दुःखों से मुक्त बन गये, तनावों की दुनियाँ से छुटकारा मिल गया उन्हें। जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान आरंभ-परिग्रह के त्याग में है।

आपमें से अनेक श्रावक अनेक बार पौषधव्रत-दयाव्रत धारण करते हैं। एक दिन के उस व्रत में उनके मन को कितनी शांति, कितना आनन्द मिलता है। पौषधव्रत-दयाव्रत समाप्त हुआ, पाल लिया व्रत को तो दूसरे दिन पुनः अशांति, दुःख, तनाव। वापस आरंभ-परिग्रह में आते ही शांति अशांति में परिवर्तित हो जाती है और व्यक्ति पुनः समस्याओं के अम्बार में घिर जाता है।

□ प्रवृत्ति में हिंसादि अठारह पापों को स्थान देना ही ‘आरंभ’ है

किसे कहते हैं आरंभ? पच्चीस बोल में तीसरा बोल है—काया छः। बंधुओं! एक कायिक जीवों से लेकर षट्कायिक जीवों तक की हिंसा करना, उनकी विराधना करना, उन्हें पीड़ा पहुँचाना आदि ‘आरंभ’ है। पापस्थान अठारह होते हैं, इन अठारह ही पापों की प्रवृत्ति करना, ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे एक या एकाधिक पाप का भागी बनना पड़े, वह आरंभ-प्रवृत्ति है। आरंभ से बचना है तो सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करिए, ऐसी प्रवृत्ति करिए जिसमें निवृत्ति की प्रधानता हो, जिसमें किसी तरह की हिंसा न होती हो। हम कह सकते हैं कि जो पूर्ण अहिंसक हैं, वे अनारंभी हैं और जो अनारंभी हैं वे निश्चय से सुखी हैं। अतः प्रभु ने वीतरागी मुनियों को एकांत सुखी बताया है।

□ व्यक्तियों के चार भेद

सांसारिक व्यक्ति सभी आरंभी हैं, पर उनकी भी तारतम्यता है तथा जो संयमी होते हैं वे अनारंभी भी होते हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति चार प्रकार के बताए गये हैं—

१. **अल्पारम्भी**—एसे संसारी जिनकी सावद्य प्रवृत्तियों की निश्चित मर्यादा होती है, वह मर्यादा भी केवल इतनी जो उनके सांसारिक, पारिवारिक, सामाजिक और व्यावसायिक जीवन के लिए अति आवश्यक हों। श्रावक के बारह व्रतों में से जो एक या एकाधिक व्रतधारी श्रावक-श्राविका हैं, वे सभी अल्पारंभी हैं। वे चाहें तो कभी भी महाव्रत धारण कर आत्म कल्याण का पथ अपना सकते हैं।

२. **अति-आरम्भी**—एसे सांसारिक व्यक्ति जिनकी प्रवृत्तियों में आरंभ की बहुलता है। जो पेट का ही नहीं, पेट भरने का काम भी करते हैं और उसी में जीवन का सुख मानते हैं। उन्हें दिन-रात धनार्जन, धन-रक्षण, धन-वृद्धि की चिन्ता सताए रहती है। इसके लिए वे अनैतिकता का सहारा लेने में भी नहीं हिचकिचाते। उनकी इच्छाओं का कोई पार नहीं होता, वे आकाश की तरह अनंत, असीमित होती हैं।

३. **महारम्भी**—इनमें वे सांसारिक व्यक्ति आते हैं जिनका वैभव, जिनकी ऋद्धि चक्रवर्ती के समान होती है। चक्रवर्तियों के आरंभ-समारंभ का कोई ओर-छोर नहीं होता। आगमिक भाषा में कहूँ तो यह नियम है कि चक्रवर्ती यदि आरंभ का त्याग न करें, महाआरंभ में ही मृत्यु पर्यन्त पड़े रहें तो नरक के भागी होते हैं, यहाँ तक कि उन्हें सातवीं नरक में भी जाना पड़ सकता है।

४. **अनारम्भी**—मन, वचन और काया-इन तीनों योगों की प्रवृत्ति जिनकी अशुभ से शुभ में बदल जाये। जो षट्कायिक जीवों की रक्षा, पालना करें और उन्हें अभय प्रदान करें, जो शरीर से भी ममत्व हटाकर उसके लिए भी किसी प्रकार का आरंभ, पाप-प्रवृत्ति न करें, केवल साधना के लिए शरीर की सुरक्षा करें ऐसे त्यागी, संयमी मुनिराज अनारंभी होते हैं। इनकी यदि कोई प्रवृत्ति होती है तो वह निवृत्ति प्रधान होती है। ये ही जब वीतरागी बन जाते हैं तो होते हैं—‘एकांत सुखी’।

□ आसक्तिभाव ही परिग्रह है

दूसरी समस्या (समस्याओं का कारण) है—परिग्रह। परिग्रह कहते हैं आवश्यकता से अधिक एकत्रित करना व जो है उसमें आसक्ति रखना, ममत्वभाव रखना, मूर्च्छित रहना। धन, वैभव, माया, परिवार आदि अनेक पदार्थ व प्राणी हैं जिनमें व्यक्ति आसक्त बन मूर्च्छित रहता है।

आरंभ और परिग्रह का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। व्यक्ति आरंभ करेगा परिग्रह एकत्रित करने के लिए और परिग्रह एकत्रित होगा तो उसकी सुरक्षा के लिए आरंभ करेगा, उसके

संरक्षण के लिए सावद्य-योग करेगा। ये दो एक-दूसरे के पूरक बन सम्पूर्ण प्राणी जगत् को उलझाए रखते हैं और इस तरह उन्हें चार गति, चौरासी लक्ष जीवयोनि में भटकाते हैं।

जो व्यक्ति इन्हीं में उलझे रहकर, इस उलझन को ही अपना आनंद, सुख, अपनी शांति मानते हैं वे निरन्तर पापकर्मों, अशुभ कर्मों से आत्मा को भारी बनाते हुए संसार-चक्र को बढ़ाते रहते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति इनसे दूर हटने का प्रयत्न करते हैं, उनके आत्मिक गुण प्रकट होते जाते हैं और आत्म-गुणों से सर्वथा सम्पन्न होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है।

बंधुओं ! यह परिग्रह एक ऐसा मजबूत बंधन है, एक ऐसा उलझाने वाला घेरा है जिसे केवल जिनवाणी रूप धन के प्रहारों से ही तोड़ा जा सकता है। जीव इस घेरे में अनंतकाल से पड़ा हुआ है। जीवात्मा को जिनवाणी श्रवण का कभी लाभ न मिला हो यह बात नहीं, अनेक बार लाभ मिला है, पर उस वाणी का असर भीतर तक नहीं हो पाया। यही कारण है कि अब तक परिग्रह का घेरा टूट नहीं पाया। स्थिति यह है कि मोहभ्रमित जीव मृत्यु को स्वीकार कर लेगा, पर परिग्रह का त्याग करना स्वीकार नहीं करेगा।

□ अर्जन के साथ विसर्जन आवश्यक

व्यक्ति जब केवल अर्जन का लक्ष्य रखे और विसर्जन-भाव को सर्वथा तिलांजलि दे दे तो क्या होगा ? घर, परिवार, समाज की सुख-शांति चली जाएगी। पेट भरते जाइए, ठूँसते जाइए भोजन के रुचिकर पदार्थ पर उनके विसर्जन का नाम मत लीजिए, मत जाइए शौचादि नित्यकर्म के लिए। बताइए, क्या होगा इस स्थिति में ? अजीर्ण हो जायेगा, पेट अफरा जायेगा, इलाज कराना पड़ेगा, डॉक्टरों के पास अस्पताल जाना पड़ेगा। संतुलन चाहिए, यह प्रकृति का नियम है। जहाँ संतुलन बिगड़ा, अशांति प्रारम्भ। जिसका मानसिक असन्तुलन हो जाए तो क्या कहेंगे आप उसे ? इलेक्ट्रिक शॉट्स दिलवाने पड़ते हैं ऐसे हालात में। आर्थिक संतुलन बिगड़े तो व्यक्ति पागल ही नहीं, महापागल बन जायेगा। ऐसे व्यक्ति सावद्ययुक्त, पापकारी, आरंभ-परिग्रह वाली प्रवृत्तियों में पल-पल, क्षण-क्षण अपने को उलझाए रखेंगे। स्पष्ट है, इनके परिणामस्वरूप उन्हें बार-बार दुर्गतियों में जाना पड़ेगा। इसीलिए किसी चिन्तक ने कहा है—

आरंभ-परिग्रह दोय, तेइ विषय-कषाय।

जब लग पतला नहीं पड़े, समकित नाहि आय ॥

इम समकित मन थिर करो प्राणी, पालो शुद्ध आचार.....

□ क्या है अनुत्तरौपपात ?

ऐसे ही आरंभ-परिग्रह दूर कर, विषय कषाय का निवारण कर जो महनीय पुरुष समस्त आत्म-गुणों से सम्पन्न बन गये, उन श्रेष्ठ आत्म-साधकों का भाव-वन्दन किया एकभवावतारी पूज्य आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने, अपनी सर्वजनप्रिय, ख्याति-प्राप्त रचना 'बड़ी साधु वंदना' में। अब तक आपने उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र और अंतगडसूत्र आदि में वर्णित उन मुक्तात्माओं का विवेचन सुना। आगे की कड़ियों में 'अनुत्तरौपपातिकसूत्र' में वर्णित उन महनीय आत्म-साधकों को भाव-भीना वन्दन किया गया है, जिन्होंने 'अनुत्तर' अर्थात् श्रेष्ठ, उत्तम को 'उपपात' अर्थात् प्राप्त किया है। संसार की चार गति में ऐसा स्थान जिससे श्रेष्ठ कोई अन्य स्थान नहीं, ऐसे स्थान में जो उत्पन्न हुए और निकट भव में मोझ जाएँगे।

□ अनुत्तरौपपातिकदशा का अर्थ

बंधुओं! सूत्र का नाम है—'अनुत्तरौपपातिकदशा।' यह द्वादशांगी का नौवाँ अंगसूत्र है। शब्द व्युत्पत्ति करें तो 'अनुत्तर, उपपात और दशा' इन तीन शब्दों का मेल है यह। यहाँ अनुत्तर का अर्थ 'अनुत्तर विमान' से है। सौधर्म, ईशान आदि नाम के बारह स्वर्ग कहे गये हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर वन-ग्रैवेयक विमान आते हैं और इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध—ये पाँच ऐसे विमान हैं, जो अनुत्तर हैं, अर्थात् इन विमानों से उत्तर, उत्तम, प्रधान, श्रेष्ठ कोई अन्य विमान नहीं है। उत्कृष्ट तप और उत्कृष्ट संयम की साधना द्वारा ही साधक इनमें उपपात पाते हैं, अर्थात् उत्पन्न होते हैं। इन विमानों में उत्पन्न देव 'अनुत्तरौपपातिक देव' कहलाते हैं। इन देवों की एक विशेषता यह है कि ये अल्प-संसारी होते हैं और अपने देवलोक से च्युत होकर एक या दो बार मानव रूप में जन्म लेकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। सर्वार्थसिद्धि वाले नियमा एकभवावतारी होते हैं, शेष चार विमानों में जीवात्मा मात्र उत्कृष्ट दो बार जा सकता है।

□ श्रेणिक महाराज के अनुत्तर तेवीस पुत्र

ऐसी तैंतीस 'अनुत्तरौपपातिक' भव्यात्माओं का वर्णन इस सूत्र में आया है। इस सूत्र के तीन वर्ग हैं। प्रथम व द्वितीय वर्ग में श्रेणिक राजा के क्रमशः दस व तेरह पुत्रों का तथा तीसरे वर्ग में 'भद्रा' नामक सार्थवाही के दस पुत्रों का जो वर्णन है, उसमें विस्तार से वर्णन केवल भद्रा के पुत्र धन्यकुमार का है, शेष का संक्षिप्त वर्णन है। सूत्र के प्रथम व द्वितीय वर्ग में वर्णित भव्यात्माओं की स्तुति करते हुए, उनका गुणगान करते हुए, उनको वन्दन-अभिनन्दन करते हुए एकभवावतारी पूज्य आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. कहते हैं—

श्रेणिक ना बेटा, जाली आदिक तेवीस।
 वीर पै व्रत लेई ने, पाल्यो विसवावीस ॥७८॥
 तप कठिन करीने, पूरी मन जगीश।
 देवलोके पहुंच्या, मोझ जासे तजी रीश ॥७९॥

□ महारानी धारिणी का स्वप्न

राजा श्रेणिक राजगृही नगर का अधिपति था। उसके धारिणी नाम की रानी थी। रानी धारिणी ने एक रात्रि में सुखपूर्वक शयन करते हुए सिंह का स्वप्न देखा। गर्भ में जब कोई पुण्यवान जीव आता है तो माताएँ सिंह, गज, वृषभ, सूर्य, चन्द्र आदि के शुभ स्वप्न देखा करती हैं। धारिणी ने रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वप्न देखा था। स्वप्न देखकर वह जागृत हुई। जागृत होकर स्वप्न का विचार करते धर्माचरण, नित्य-नियम, माला, स्वाध्याय आदि करने लगी।

□ स्वप्न और स्वप्न-फल : एक विचार

बंधुओं ! स्वप्न यदि शुभ है और रात्रि के अंतिम प्रहर में आता है तो जगने के बाद पुनः सोना नहीं चाहिए अन्यथा स्वप्न-फल नष्ट होने की संभावना रहती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर का स्वप्न अवश्य फल देता है, अतः यदि स्वप्न शुभ है तो उसके फल में सन्देह न करते हुए फल की पूछताछ भी किसी उत्तम एवं शुभ पुरुष के करनी चाहिए। अयोग्य व्यक्ति से पूछा हुआ फल उसके द्वारा निकाले गए निम्न-स्तर के फलादेश तक सीमित हो जाता है। इसी प्रसंग के सन्दर्भ में जयगच्छीय दशम पट्टधर आचार्यप्रवर श्री लालचन्द्र जी म. सा. एक कथा फरमाया करते थे।

□ राजकुमार मूलदेव का राज्य निष्कासन

राजकुमार मूलदेव से एक समय किसी कारणवश उसके पिता महाराज रुष्ट हो गये। महाराज ने अपने पुत्र राजकुमार मूलदेव को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। वे बोले—“निकल जा यहाँ से, मुँह मत दिखाना अब कभी मुझे।”

□ पूरे चाँद का शुभ स्वप्न

पिता का आदेश था, निकल गया पिता की राज्य-सीमा से दूर। पहुँचा पड़ोसी राज्य में। वहाँ के किसी पंथागार में विश्राम के लिए जगह देखने लगा तो ज्ञात हुआ पूरी धर्मशाला में अनेक पथिक ठहरे हुए हैं। धर्मशाला के बाहर देखा उसने तो अनेक भिक्षु डेरा जमाए हुए थे।

प्रयत्न करने पर उसे भी स्थान मिल गया। रात्रिभर वहाँ सुख से सोया। सूर्योदय के समय से कुछ पूर्व, ब्रह्ममुहूर्त की वेला में उसे एक शुभ स्वप्न दिखाई दिया। स्वप्न में उसने देखा कि आकाश से उतरकर पूरा का पूरा गोलमटोल पूनम का चाँद उसकी हथेली पर आ गया है। स्वप्न देखकर वह जगा। प्रभु-स्मरण कर, नित्यकर्म से निवृत्त हो वह पंथागार से बाहर निकला तो उसने देखा एक भिक्षु जोर-जोर से अपने स्वप्न की बात अपने साथियों को बता रहा था। वह जिज्ञासावश खड़ा हो सुनने लगा।

□ भिक्षुक ने पाया घी-खांडयुक्त रोट

अद्भुत संयोग था। उस भिखारी को भी वही स्वप्न आया था, जो उसे आया था। उस भिक्षु ने अन्य भिक्षुओं से अपने स्वप्न का फल पूछा। एक भिक्षुक बोला—“बड़ा अच्छा सपना दिखाई दिया है। आज तुम्हें पूरे चाँद जितना बड़ा और गोलमटोल रोट घी से चुपड़ा हुआ मिलेगा, जिस पर खांड रखी हुई होगी।”

आखिर भिक्षुक था। बुद्धि ही कितनी थी? जितनी बुद्धि होगी उतनी बात ही कहेगा। स्वप्न देखने वाला भिक्षुक भी इस स्वप्न-फल को सुन प्रसन्न हो गया। खूब बड़ा रोट, उस पर घी और शक्कर! मजा आ जाएगा। उसका मन-मयूर नृत्य करने लगा।

□ विश्वास नहीं होता, ऐसे शुभ स्वप्न का ऐसा फल !

राजकुमार सुन रहा था। उसने सोचा—‘इतना शुभ स्वप्न और फल क्या? सिर्फ एक रोट! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मेरा भी यही स्वप्न, यही समय। स्वप्न का फलादेश ठीक नहीं निकाला गया है। मुझे किसी अन्य अच्छे ज्योतिषी से पूछना चाहिए।’

□ फलादेश के लिए विज्ञ पंडित की खोज

वह नगर में प्रविष्ट होता है। इधर-उधर से पूछकर एक ख्यातनाम ज्योतिषी पंडित के घर पहुँचकर फलादि भेंट करता है और पंडित से अपने स्वप्न की बात बताकर फलादेश की पृच्छा करता है।

□ मेरी एक बात माननी होगी

पंडित ज्योतिष-ज्ञान का उपयोग लगाता है। मन ही मन उस स्वप्न के फलादेश को जानकर कुछ लाभ उठाने के दृष्टि से राजकुमार मूलदेव को कहता है—“फलादेश तो मैं कुछ देर में बता दूँगा, पर तुम्हें पहले मेरी एक बात माननी होगी।”

राजकुमार ने पूछा—“कहिए, क्या बात है?”

पंडित बोला—“पहले तुम्हें मेरी कन्या से शादी करनी होगी।”

मूलदेव ने सोचा—‘मैं तो अभी अपने पिता द्वारा निष्कासित हूँ। स्वयं मेरे रहने, खाने, ठहरने का कोई ठिकाना नहीं और ये पंडित जी अपनी कन्या की शादी मुझसे कर देना चाहते हैं।’

पंडित ने कहा—“किसी प्रकार के विचार की आवश्यकता नहीं है। तुम तो फटाफट ‘हाँ’ भर दो। बाकी का विचार मैं करूँगा।”

□ राजकुमार मूलदेव की पंडित-कन्या के साथ शादी

राजकुमार मूलदेव के ‘हाँ’ भर लेने पर पंडित ने अपनी कन्या की शादी उससे कर दी। शादी के बाद फलादेश बताते हुए पंडित ने कहा—“कुँवर जी! आप अभी, कुछ ही देर में इस राज्य के स्वामी बनेंगे।”

□ मूलदेव राजा बना

बंधुओं! फलादेश सुनाने के कुछ समय पश्चात् ही राज्य का राजा परलोकवासी हो गया। अर्थाँ उठने से पूर्व सिंहासन की रिक्तता दूर करने का नियम था। सभी की सलाह से पट्टहथिनी की सूँड़ में फूलों का हार रख दिया गया। हथिनी नगर के राजमार्गों पर घूमने लगी। मूलदेव शादी के बाद पंडित जी के घर में एक कमरे के झरोखे में बैठा था। हथिनी जब उधर से निकली तो उसने वह पुष्पहार उछाल दिया। पुष्पहार जाकर सीधा झरोखे में बैठे मूलदेव के गले में पड़ा। राजकुमार मूलदेव को सभी ने ससम्मान सिंहासन पर बिठाया और उनका राज्याभिषेक कर उस नगर का राजा बना दिया।

□ स्वप्न एक, समय एक, पर !

इस प्रकार एक ही समय, एक ही प्रकार का स्वप्न दो भिन्न व्यक्तियों ने देखा, पर एक को मिला रोट, दूसरे को राज्य। स्पष्ट है शुभ स्वप्न का फलादेश हमेशा किसी अच्छे जानकार, ज्ञानी-ध्यानी से ही निकलवाना चाहिए। अन्यथा कई बार फल विपरीत भी हो सकता है और नष्ट भी हो सकता है।

स्वप्न तीर्थकर की महनीया माता को भी आते हैं और चक्रवर्ती की माता को भी। स्वप्न वे ही हैं, पूरे चौदह महास्वप्न दोनों देखती हैं। एक अनुत्तर योगी तीर्थकर की माता तो दूसरी अनुत्तर भोगी षट्खंडाधिपति की माता। दोनों में महान् कौन? निश्चय ही योग महान्, योगी महान्। भोगी का सिर झुकता है त्यागी व रोगी के चरणों में। अतः दोनों के स्वप्नों में भी

अन्तर। तीर्थकर की माता स्पष्ट, अधिक उज्ज्वल स्वप्न देखती है, जबकि चक्रवर्ती की माता कम स्पष्ट, धुँधले-धुँधले-से वे ही स्वप्न देखती है।

बंधुओं ! स्वप्न आने के अनेक कारण हैं। कई बार चिन्तन में कोई बात रह जाती है, तब भी स्वप्न आ जाता है। मारवाड़ी में कहावत है—“लवलिया रेगी।” अर्थात् इच्छा बाकी रह गई।

भीलवाड़ा में एक बार एक ज्ञानी महाराज साहब का व्याख्यान हो रहा था। विद्वान् संत थे, ओज था वाणी में, व्याख्यान देने की शैली मंत्रमुग्ध कर देने वाली थी। अतः प्रतिदिन बड़ी संख्या में श्रोता सुनने आते थे।

□ आप तो फरमाओ

एक श्रावक जी नित्य उनका व्याख्यान सुनने आते थे। श्रोताओं में सबसे आगे बैठते थे। कपड़े के व्यापारी थे। अतः कई बार व्याख्यान सुनते हुए भी मन व्यापार में, दुकान में, ग्राहक में, विक्रेता में, खरीद-फरोख्त आदि में चला जाता था। मन चीज ही ऐसी है। व्यक्ति बैठा कहीं है और उसका मन कहीं और ही चला जाता है। बड़ा चंचल होता है यह। जहाँ नहीं जाना चाहिए, वहाँ जरूर जाएगा और जहाँ उसे एकाग्र होना चाहिए, वहाँ वह टिकेगा नहीं। इसीलिए आचार्यों, मनीषी संतों और ऋषि-मुनियों ने कहा है कि सबसे अधिक दुष्कर है इस चंचल मन को नियंत्रण में रखना।

सेठजी का मन भी नियंत्रण में नहीं रहता था। उस दिन व्याख्यान कुछ लम्बा हो रहा था। सेठ साहब तल्लीनता से सुनते-सुनते विचार-लीन बन गये। सोचने लगे—‘टाइम तो हो गया है, महाराज साहब व्यर्थ लम्बा खींच रहे हैं, इनके कुछ काम-धाम तो है नहीं। हम तो घर-गृहस्थी वाले हैं।’ आदि अनेक बातें उनके चिन्तन में आने लगीं।

बातों में मन लीन हुआ तो ऐसा कि कुछ ख्याल ही नहीं रहा, कहाँ बैठे हैं, क्या कर रहे हैं? निद्रा के झोंके भी आने लगे। निद्रा के झोंके और अंतर्मन के विचार मिलकर स्वप्न बनने लगे। देखा स्वप्न में कि वे दुकान पर बैठे हैं। ग्राहक आ-जा रहे हैं। तभी कुछ रेजा बुनने वाले बुनकर रेजा बेचने आये। सेठ साहब ने पूछा—“कहो भाई क्या भाव देना है?” बुनकर ने पाँच रुपये माँगे। सेठ साहब ने तीन रुपये धामे। मुँहमाँगे पैसे तो वे कैसे देते? रेजा लाने वाले ने तीन रुपए में बेचने से इन्कार कर दिया।

स्वप्न में ही दोनों तकरार करने लगे। रेजे वाला पाँच पर अड़ा रहा तो सेठ साहब तीन पर। तीन से अधिक वे देना नहीं चाहते थे। सौदा नहीं बैठा तो रेजा उठाकर रेजे वाले पर फेंक दिया और कहा—“जा, जा! बेचना तो है नहीं। नहीं लेना मुझे।”

बंधुओं ! स्वप्न में तो उन्हें लगा कि वे रेजा फेंक रहे हैं, पर हकीकत में तो वहाँ न दुकान थी, न रेजा बेचने वाला था और न रेजा था। वे व्याख्यान में बैठे थे, सामायिक व्रत में थे और हाथ में था जीव-रक्षार्थ काम में आने वाला सामायिक का एक उपकरण, अर्थात् पूंजणी। स्वप्न में तो रेजा फेंका, पर हकीकत में फेंक दी पूंजणी। संयोग ऐसा कि फेंकी गई वह पूंजणी सीधी व्याख्यान दे रहे महाराज साहब पर गिरी। इधर महाराजश्री चौंके, उधर सेठजी स्वप्न से जगे। सारी बात समझ में आई तो शर्मिन्दा हुए।

महाराजश्री ने पूछा—“क्या हुआ श्रावक जी?”

श्रावक जी बोले—“आशातना हो गई अन्नदाता, माफ कराओ!”

तो बंधुओं ! चिन्तन में दुकान, रेजे आदि की बातें थीं अतः स्वप्न भी उन्हीं बातों का आया। इसके अतिरिक्त भी अनेक कारण हैं, स्वप्न आने के। यथा—

(१) भूत, वर्तमान, भविष्य की किसी घटना को संकेतित करने के लिए, (२) शरीर में वात, पित्त, कफ के प्रभाव से, (३) मल-मूत्र आदि का संवेग अवरुद्ध होने से, (४) घर के पितर आदि का आना, (५) किन्हीं देवी-देवता का इष्ट या अनिष्ट कथन हेतु, (६) शुभ कर्म उदय से, (७) अशुभ कर्म उदय से, (८) सोते समय कोई पुस्तक पढ़ते-पढ़ते, टी. वी. देखते-देखते, रेडियो आदि सुनते-सुनते सोए हों, दिमाग में देखी, सुनी या पढ़ी कोई बात-विशेष रह गई हो इत्यादि।

कभी-कभी स्वप्न का फलादेश विपरीत बता देने से अनर्थ भी हो जाता है। इसी संदर्भ में एक प्रसंग आता है—एक महिला को स्वप्न आया। स्वप्न में उसने देखा कि अंतहीन विशाल समुद्र उत्ताल तरंगों भरता हुआ हिलोरें खा रहा है और वह उस समुद्र का सारा पानी पी गई।

उस महिला ने जो स्वप्न देखा, वह भविष्य-फल का दर्शक, सूचक था। महिला सोच रही थी—‘अवश्य यह कोई प्रभावी और शुभ फलदायी स्वप्न है।’ उसने निश्चय किया, किसी स्वप्न-फल पाठक, ज्योतिषी, निमित्तज्ञ से स्वप्न-फल पूछने का।

प्रसन्न मन से उस महिला ने स्नानादि किया। सुरुचिपूर्ण वस्त्रालंकार से स्वयं को सज्जित किया। एक थाल लेकर उसमें पंडित जी को भेंट देने हेतु वस्त्र, फल-फूल आदि रखे। शुभ

कार्य के लिए जाना हो तो खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। अच्छे परिणाम की प्राप्ति के लिए कुछ उपहार, कुछ भेंट साथ होनी चाहिए। फल साथ हों तो बढ़िया। फल को शुभ माना है अतः फल साथ में ले जाते हैं तो स्वप्न-फल भी शुभ मिलेगा, वांछित फल मिलेगा, ऐसी लोक धारणा है।

महिला थाल लेकर घर से बाहर आई और किसी अच्छे पंडित जी के यहाँ जाने लगी। राह चलते हुए, मध्य राह उसे उसकी एक मुँहलगी सहेली मिल गई। वह महिला अभी उससे मिलना नहीं चाहती थी, पर सहेली ने देख लिया, रास्ता रोक लिया, पूछ लिया—“कहाँ जा रही हो?”

महिला को थोड़ा आवेश आया। जहाँ राग होगा, वहाँ क्रोध स्वाभाविक है, द्वेष भी होता है। ‘क्या जरूरत है इसे इस तरह रास्ता रोकने की? जरूरी कार्य से जा रही हूँ, कुछ तो ध्यान रखना चाहिए इसे?’—सोचा महिला ने। पर महिला ने अपनी नाराजगी प्रकट नहीं की। शांत स्वर में बोली—“रात एक स्वप्न आया था। स्वप्न-फल पूछने अमुक पंडित जी के पास जा रही हूँ।”

सहेली बोली—“अच्छा ! स्वप्न देखा है? क्या स्वप्न था? मुझे भी तो बताओ कुछ!”

महिला ने कहा—“तुम क्या करोगी सुनकर? वैसे भी स्वप्न किसी को सुनाना नहीं चाहिए।”

सहेली ने कहा—“अरे! मैं तो तुम्हारी सहेली हूँ। मुझसे क्या छुपाना? स्वप्न ही तो है, कोई खजाना तो है नहीं! क्या स्वप्न ऐसा है कि उसे मुझसे भी गुप्त रखा जाए?”

अब महिला भला उसे क्या कहती? विवशता थी। उसे स्वप्न बतलाना पड़ा।

सहेली ने स्वप्न सुना तो जोर से हँसी और बोली—“वाह ! वाह !! क्या स्वप्न देखा है? अरी पागल ! इतना पानी, पूरा का पूरा समुद्र भी कहीं पिया जाता है, क्या? पेट नहीं फूटा तुम्हारा? इतना पानी? हे राम ! अवश्य पेट फूट जाएगा। पंडित जी को ही पूछना है तो चली जा। पूछ ले जाकर। देखें वे क्या बताते हैं?”

सहेली तो कुछ का कुछ कहकर चली गई।

□ सुन्दर स्वप्न का शुभ फल नष्ट हो गया

महिला चली आगे। पहुँची पंडित जी के घर। भेंट की थाली रखी उनके सामने। पंडित जी का संकेत पाकर उन्हें अपना स्वप्न सुनाया और स्वप्न-फल जानना चाहा।

पंडित जी ज्योतिषादि विद्याओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने प्रश्न-कुंडली बनायी और उसकी गणना कर फल चिन्तन करने लगे। बंधुओं! आज तो पंडितों की भरमार है। कम्प्यूटर से भी फलादेश निकाले जाते हैं, पर उनमें से कितने ऐसे हैं जो सही-सही फलादेश कर पाते हैं? हरेक निमित्तज्ञ के वश की बात नहीं है, सही फल का चिंतन करना। इने-गिने विद्वान् और साधना के साधक पंडित ही पूरी लगन व श्रम से गणना करते हैं। इन सिद्ध साधकों के इष्ट स्वयं आकर उनकी जिह्वा पर विराजमान हो जाते हैं। अतः कहीं भी किसी भूल का अवसर नहीं रहता।

पंडित जी भी सिद्ध-साधक थे। गणना करने पर उनके मुँह से शब्द निकले— “देवी! तुम्हारे स्वप्न का तो फल नष्ट होने के संकेत मिल रहे हैं? कब देखा तुमने स्वप्न? स्वप्न देखकर कब जागृत हुई? स्वप्न-फल पूछने के लिए घर से कब निकली? स्वप्न देखने के बाद तुम्हें कौन-कौन मिला? क्या तुमने किसी से अपना स्वप्न बताया?”

महिला ने पंडित के सभी प्रश्नों के सही-सही जवाब दिये। सहेली के मिलने, उसके द्वारा पूछे जाने पर विवश हो स्वप्न बताने, सहेली द्वारा उसके स्वप्न पर कहे गये विचार आदि सब कुछ पंडित जी को बता दिया उसने।

पंडित जी बोले— “देवी ! मुझे खेद है कि इतने सुन्दर स्वप्न का फल मारा गया, नष्ट हो गया। यदि तुम उसे स्वप्न नहीं सुनाती तो ऐसा नहीं होता। तुम इस सुन्दर स्वप्न का सुन्दर फल प्राप्त करती। तुम्हारे गर्भ से ऐसा तेजस्वी, साहसी, वीर बालक जन्म लेता, जो बड़ा होकर समुद्र पर्यन्त समस्त धरती पर शासन करता।”

बंधुओं ! महिला बहुत ही उदास मन से घर लौटी। सातवें दिन उसके पेट में अचानक भयंकर दर्द प्रारम्भ हुआ। कोई इलाज काम नहीं आया। महिला की उसी तीव्र पीड़ा में मृत्यु हो गई। उसका गर्भ भी उसके साथ नष्ट हो गया। इस प्राचीन प्रसंग से यह स्पष्ट है कि स्वप्न-फल सदैव सुयोग्य पंडित, ज्योतिष या नैमित्तिक को ही पूछना अच्छा है।

□ महारानी द्वारा स्वप्न फलादेश की पृच्छा

रानी ने भी राजा श्रेणिक को स्वप्न सुनाया। स्वप्न-फल जानने के लिए उत्तम ज्योतिष-विज्ञों को बुलाया। ज्योतिष-विज्ञों ने एकमत होकर बताया कि रानीजी के गर्भ में कोई उत्तम, पुण्यवान, आत्म-बल का धनी जीव आया है।

□ जालिकुमार : जन्म व विवाह

समय पर रानी ने पुत्र का प्रसव किया। पुत्र का नाम रखा गया—जालिकुमार। शिशु से बाल्यावस्था प्राप्त करने पर जालिकुमार ने कलाचार्यों के पास विद्याध्ययन किया। सभी कलाओं में निपुण बन जाने और युवावस्था में पदार्पण कर लेने पर उसका पाणिग्रहण आठ सुन्दर, सुशील, कुलीन, उच्च घरानों की कन्याओं के साथ कराया गया। पाणिग्रहण के समय उसने आठ-आठ करोड़ हिरण्य, सुवर्ण की मोहरें, आठ स्वर्ण-मुकुट, बत्तीस श्रेष्ठ स्वर्ण-कुण्डलयुगल (रत्नजटित), बत्तीस उत्तम मुक्तावलि हार, बत्तीस कनकावलि हार, बत्तीस रत्नावलि हार इत्यादि प्रीतिदान प्राप्त किया। शास्त्रों में वर्णन आता है कि प्रीतिदान में उसे जो धन, भोगोपभोग की वस्तुएँ आदि मिलीं वे सात पीढ़ी तक दान देने, उपभोग करने और बँटवारा करने के लिए पर्याप्त थीं।

जालिकुमार इन आठ युवा सुन्दरियों के साथ राग-रंग में समय व्यतीत करता हुआ सुख भोगने लगा। रहने के लिए अतिश्रेष्ठ प्रासाद का ऊपरी हिस्सा, सुनने के लिए एक से एक मधुर संगीत, प्रीतिदान में प्राप्त प्रेक्षणकारिणी स्त्रियों द्वारा नाटक व गायन-इन सभी से रत क्रीड़ा केलि में मगन जालिकुमार मानव सम्बन्धी उत्तम कामभोगों को भोगता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

बंधुओं! धन आपके पास भी होगा, भोग्य पदार्थ भी होंगे, पर समय-परिवर्तन होता है तो सब कुछ बदल जाता है। बुरा समय आने पर आप लोग आर्त्तध्यान करते हैं, भगवान को कोसते हैं, दुःखी होते हैं, आठ-आठ आँसू रोते हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि आप ऐसा समय आने ही क्यों देते हैं? आपने संत कबीर का एक दोहा बहुत बार सुना होगा, पढ़ा होगा पर कभी उसे मनन नहीं किया। आवश्यकता इस बात की है कि आप सभी अन्तर्मन से उस दोहे पर मनन-चिन्तन करें। दोहा है—

दुःख में सुमिरण सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरण करे, तो दुःख काहे को होय॥

□ सम्यग्ज्ञान से भेदविज्ञान

जो भवि जीव हैं, पुण्यात्माएँ हैं, महनीय व्यक्तित्व है जिनका; वे समय रहते, सुखों के झूले में झूलते, वैभव के अम्बार पर काम-भोगों का सेवन करते-करते, ऐश्वर्य के सागर में डूबते-उतराते संयोग उपस्थित होने पर संसार के इन दुःखरूप सुखों की सुखानुभूति को एक ही झटके में ठोकर मारते हुए शाश्वत-सुखों की प्राप्ति के सत्य-पथ को ग्रहण कर लेते हैं।

समय रहते उन्हें इस बात की अनुभूति हो जाती है कि केवल मुक्ति में ही अव्याबाध सुख है, जिस सुख को एक बार प्राप्त करने पर पुनः कभी दुःखी नहीं होना पड़ेगा।

बंधुओं! जालिकुमार भी भवि-जीव था, हलुकर्मी था अतः संयोग जब मिला उसे वीतराग प्रभु के दर्शन का, उनके श्रीमुख से निःसृत अमृतोपम आत्म-कल्याणी वाणी को सुनने का तो उस सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में हो गई भेदविज्ञान की अनुभूति, शरीर और आत्म-तत्त्व के भेद की जानकारी। इसके पश्चात् जो होना चाहिए वही हुआ।

जाग उठा वह सुषुप्त जीवात्मा। चल पड़ा वह शरीर और आत्मा की एकत्व बुद्धि को मिटाने की साधना हेतु संयम पथ पर बढ़ने के लिए। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर शरीर और आत्मा की एकत्व बुद्धि कैसे मिटता है? इसके लिए एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत है।

(रूपक—कथा)

किसी ग्राम का एक व्यक्ति तीर्थयात्रा के लिए निकला। अपनी पत्नी और पुत्री को उसने तीर्थयात्रा में साथ ले लिया। अनेक तीर्थों की उसने यात्रा की। तीर्थयात्रा के अंतिम पड़ाव पर वह जब आया तो वहाँ पूरे एक दिन व एक रात ठहरने का निश्चय किया। उसका नियम था कि पहले तीर्थ-स्थल पर जाकर साधना-आराधना करना और बाद में भोजन करना।

उस व्यक्ति की साधना-आराधना सांसारिक कामनाओं से रहित थी अतः यह कहा जा सकता है कि अन्य व्यक्तियों, तीर्थयात्रियों से उसकी यात्रा विशिष्ट थी, अधिक फलदायी थी, सफल थी। किसी सांसारिक फल की कामना से जब कोई धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान दूषित बन जाता है, आत्मिक फल नहीं मिल पाता उसका।

उस दिन वह व्यक्ति जब इष्ट-आराधना के लिए स्नानादि कर आराधना-सामग्री साथ ले साधना-स्थल को जाने लगा तो पत्नी से बोला—“मुझे लगभग दो घंटे लगेंगे। तुम तब तक भोजन बना लेना।” अपनी पुत्री से कहा—“बेटी ! सामने ही सब्जी की दुकान है, कोई सब्जी लाकर अपनी माँ को दे देना और यदि आम हों तो आम भी ले आना।”

व्यक्ति अपनी धार्मिक साधना-आराधना के लिए चला गया। कोई एक घंटे बाद लड़की सब्जी लाने गई। सब्जी की दुकान पर सब्जी खरीदी और पैसे दिये। फिर पूछती है दुकानदार से—“आम हैं क्या ?”

दुकानदार कहता है—“ताजा तो दोपहर में आयेंगे। पहले के कुछ आम रखे हैं, बता देता हूँ। पसन्द आएँ तो ले जाओ।”

दुकानदार ने पाँच रुपये कीमत बताई।

लड़की ने कहा—“पाँच रुपये तो ज्यादा हैं, चार रुपये ले लो।”

दुकानदार बोला—“बोहनी का समय है। अतः मैंने तो पहले से ही वाजिब दाम बताए हैं।”

लड़की—“बोहनी के समय क्यों आनाकानी करते हो? चार रुपये ठीक हैं।”

दुकानदार—“क्यों बोहनी बिगाड़ती हो? सही कीमत पाँच रुपये ही है। चार में तो मुझे हानि होगी।”

अभी ये तकरार चल ही रही थी कि एक युवक वहाँ आया और पूछा—“आम हैं क्या?”

दुकानदार—“कल के बचे ये तीन आम हैं।”

युवक—“कितने के हैं?”

युवक ने जेब से बटुआ निकाला, पाँच रुपये निकालकर दुकानदार को दे दिए और बोला—“किसी थैली में डालकर दे दो।”

लड़की ने देखा कि आम तो जा रहे हैं। पिताजी को आम बहुत प्रिय हैं। नहीं ले जाऊँगी तो क्या कहेंगे? वह दुकानदार से बोली—“अरे वाह ! इसे कैसे दे दोगे? पहले मैं आई थी आम लेने, लो ये पाँच रुपये, मुझे दो आम।”

युवक बोला—“मेरे से छः रुपये ले लो पर आम मुझे दे दो।”

लड़की—“नहीं, आम मैं लूँगी। मैं दस रुपये देने को तैयार हूँ।”

अब दोनों तकरार करने लगे, आमों की कीमत उस तकरार में बढ़ती गई। युवक ग्यारह कहता तो लड़की बारह। इस तरह कीमत पाँच से बीस रुपये तक पहुँच गई। दुकानदार मूकदर्शक बन उनकी तकरार देखता रहा।

उधर लड़की का पिता जप-साधना करके विश्राम-स्थल पर आया तो लड़की वहाँ नहीं थी। पत्नी से पूछा तो पत्नी ने बताया—“सब्जी व आम लेने गई थी। एक घंटा हो गया। अभी तक वापस नहीं लौटी।”

वह व्यक्ति सोचने लगा—‘सामने दुकान और इतनी देर? आखिर क्या बात हुई ऐसी? जवान लड़की है, चलकर देखना चाहिए।’

चला सब्जी वाले की दुकान की ओर। दूर से देखा लड़की किसी युवक से तकरार कर रही थी। कुछ नजदीक आया तो युवक का चेहरा कुछ पहचाना-सा लगा और नजदीक पहुँचा तो वह युवक को पहचान गया।

निकट आने पर लड़के ने उन्हें देखा तो झुककर चरण छुए। लड़की यह देख अकचका गई। कौन है ये? क्या रिश्तेदारी है हमारे घर से? पिताजी को प्रणाम किया है तो कुछ तो कारण होगा ही?

तभी उस व्यक्ति ने लड़की से कहा—“बेटी ! तुम किनसे उलझ रही हो? तुम जानती नहीं ये कौन हैं? जानोगी भी कैसे? तुम्हें कुछ मालूम भी तो नहीं। ये वही युवक हैं जिनसे कुछ दिन पहले मैंने तुम्हारी सगाई तय की है। जिनके प्रति समर्पित होना है, उनसे कैसी तकरार?”

लड़की तो यह सुनकर कि सगाई इनसे की है, अत्यंत शर्मिन्दा हुई, शर्म से लाल चेहरा लिए वह वहाँ से तेज कदम रखती अपनी माँ के पास आ गई।

□ रूपक का तात्पर्य

बंधुओं ! यह केवल एक घटना मात्र नहीं है, एक रूपक भी है। इसमें युवक है आत्मा, कन्या है शरीर, पिता की वाणी है सम्यग्ज्ञान और पिता हैं गुरु।

आपके गुरु आपको जिनवाणी का आगमोक्त उपदेश विभिन्न कथानकों से समझाकर सम्यग्ज्ञान, भेदविज्ञान का रहस्य प्रदान करना चाहते हैं, जिससे आपकी आत्मा जागृत हो सके, आपको समकित रत्न की व समत्वभाव की प्राप्ति हो सके। जब तक सम्यक्त्व नहीं आता तब तक शरीर और आत्मा में एकत्व बुद्धि होती रहेगी। इस एकत्व बुद्धि में, ज्ञान के अभाव में आप शरीर की ओर झुके रहेंगे, भौतिक जगत् में उलझे रहेंगे। पर जैसे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, वैसे ही आपको शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान की जानकारी हो जायेगी, एकत्व बुद्धि समाप्त हो जायेगी, आप अन्तर्मुखी बन जाएँगे। यही स्थिति होगी आपके अध्यात्म जगत् में प्रवेश की। धीरे-धीरे वीतराग वाणी पर श्रद्धा बढ़ेगी, श्रद्धा अटूट बनेगी तब सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की त्रिवेणी से जीवन का कर्ममल धुलता चला जायेगा। रत्नत्रयीरूप इन तीनों आमों की कीमत होगी पंच महाव्रतरूप पाँच रूपए। चुका दिया यदि यह मूल्य तो त्रिरत्न की प्राप्ति संभव बन जायेगी। नहीं चुका पाए तो रत्नत्रयी से अलग-थलग रह जाएँगे, शायद समकित भी टिका पाएँ या नहीं।

□ सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु महावीर की धर्मदेशना

एक बार वीतराग सर्वज्ञ प्रभु महावीर राजगृह नगर में पधारे। राजा श्रेणिक सपरिवार प्रभु-दर्शनार्थ गये। राजकुमार जालि भी गये वहाँ। समवसरण में प्रभु की धर्मदेशना सुनी।

शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान का उपदेश मिला तो दोनों के एकत्व बुद्धि को, दोनों के संयोग को मिटाने की महती प्रेरणा जगी। आत्मा शाश्वत और शरीर नश्वर। आत्मा चेतन और शरीर जड़। इस पर भी जब तक आत्मा अष्ट-कर्ममुक्त नहीं बनती, संसार में रहने के लिए उसे शरीर के अवलम्ब की आवश्यकता पड़ती है। शरीर नष्ट होता रहता है और पुनः निर्मित होता रहता है। जड़-पुद्गलों का स्वभाव है—सड़न, गलन और विध्वंसन।

(उदाहरण द्वारा पुष्टि)

एक हरा-भरा छत्राकार विशाल वृक्ष। मानवों, पशुओं, पक्षियों को अतिप्रिय—अपने फलों के कारण, अपनी छाया के कारण, अपनी विशाल शाखाओं और टहनियों के कारण। समय कहाँ कभी किसी का एक-सा रहता है, वह तो हर पल-हर क्षण परिवर्तनशील है। विशाल वृक्ष का भी समय बदला। पुद्गल के स्वभावानुसार वह सूखने लगा। पत्ते पीले पड़ने लगे, टहनियाँ और शाखाएँ कमजोर पड़ने लगीं। पक्षी उस पर से डेरा उठाने लगे। छाया कम हुई तो पशुओं का उसके नीचे आकर विश्राम लेना छूट गया। फल नहीं लगते थे, अतः मानव संतति ने भी उससे मुँह फेर लिया।

शनैः-शनैः सूखते-सूखते वह वृक्ष पूर्ण रूप से सूख गया तो उसे काट दिया गया। लकड़ी में फिर भी गीलापन था। अतः उसे सुखाया गया। उस सूखी लकड़ी से एक नव-निर्मित मकान के दरवाजे, खिड़कियाँ आदि बने।

वर्षों बाद मकान खण्डहर बनने लगा। दरवाजे, खिड़कियाँ सड़-गल गये। अतः उन्हें उतारकर चूल्हे में जलाने के काम लिया गया।

“लकड़ी जल कोयला भई, कोयला जल भई राख।”

उस राख को खेतों में डाल दिया गया।

फसल बोने के समय राख मिट्टी में मिल गई। वर्षा के पानी के साथ राख पूरी गल गई। उसका सत्व, उसका अंश फसल के साथ उग आये एक वृक्ष में आया। वृक्ष फिर बड़ा हुआ, विशाल बना, घेर-घूमेर बना फिर सूख गया और वही चक्र। अनादि से अनंत तक यह सृजन-विध्वंसन का चक्र गतिमान है। वियोग और संयोग का यही चक्र शरीर व आत्मा के भी अनादि से चल रहा है, तब तक चलता रहेगा, जब तक आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं बन जाती।

□ भेदविज्ञान जानकर आत्मा के साथ शरीर का संयोग समाप्त करें

जीवन का चरम उद्देश्य है—इस संयोग व वियोग के चक्र से छुटकारा प्राप्त करना, शरीर व आत्मा के संयोग व वियोग को समाप्त करना। इसके लिए अयोग की साधना करनी होगी। अयोगी बन गये तो संसार-चक्र से, सर्व दुःखों से, सभी समस्याओं से मुक्ति मिल जायेगी।

□ जालिकुमार को वैराग्योत्पत्ति

सुना प्रभु उपदेश। कितना श्रेष्ठ उद्बोधन। अनादिकाल से सुषुप्त जीव को, चेतन को, आत्मा को झकझोर देने वाला। सुनकर जालिकुमार संसार की पापात्मक प्रवृत्तियों के प्रति उद्विग्न बन जाता है। मन में कामना उत्पन्न होती है—‘आत्मा को शरीर की गुलामी से, कर्मों के बंधन से मुक्त बनाने की।’ वह पापभीरु बन संसार से विरक्त बन जाता है।

बंधुओं! जिनवाणी के उपदेश से नर-देह में छिपे नारायण को प्रकट करने की भावना जग जाये तो सुनना सफल है, नहीं जगे ऐसा भाव तो श्रुतवाणी का श्रवण कोई अर्थ नहीं रखता।

जालिकुमार के मन में वैराग्यभाव जगा। उत्कृष्ट वैराग्यभावों में डूबे जालिकुमार ने प्रभु से कहा—“प्रभु ! आपकी वाणी सत्य है। विषय-कषायों से जलते इस संसार को त्यागकर मैं अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर आपके पास प्रव्रजित होना चाहता हूँ।”

तीर्थकर प्रभु ने कहा—

“अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेइ।”

प्रव्रज्या की कामना करने वाले प्रत्येक भव्य-प्राणी के लिए प्रभु सदैव यही कहते हैं।

□ माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा माँगना : माता-पिता का समझाना

घर जाकर जालिकुमार ने माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा माँगी। सरलता से मिलती नहीं दीक्षा लेने की आज्ञा। माता-पिता ने दीक्षा-पालन को दुष्कर, अतिदुष्कर बताकर संयम-पथ के कष्टों का वर्णन किया, पर जिस आत्मा में वैराग्य-बीजांकुरित हो और उसे प्रभुवाणीरूपी खाद और पानी की प्राप्ति हो चुकी हो फिर भला उसके संयमरूपी कल्पवृक्ष को पनपने, विकसित होने, फलने-फूलने से कौन रोक सकता है?

□ एक दिन की राज्य-ऋद्धि : दो भिन्न विचार

पिता ने उसे रोकने के लिए अंतिम अस्त्र फेंका, कहा—“हम तुम्हारी एक दिन की राज्य-ऋद्धि देखना चाहते हैं।”

पिता का विचार था—‘राज्य-ऋद्धि पाकर पुत्र उसमें लिप्त हो जायेगा, उलझ जायेगा, भूल जायेगा दीक्षा की बात।’

जालिकुमार ने सोचा—‘मेरा मन दृढ़ है तो फिर क्यों मैं इनके मन को ठेस लगाऊँ। इनकी यदि ऐसी इच्छा है तो यही सही।’

जालिकुमार मौन धारण कर लेते हैं। ‘मौनं स्वीकृति लक्षणं’ की मान्यता के अनुसार पिता उनका राज्याभिषेक कर उन्हें नृपति बना देते हैं। राजा श्रेणिक एक करोड़ इकहत्तर लाख ग्रामों के अधिपति थे। राज्यभिषेक के साथ उन एक करोड़ इकहत्तर लाख ग्रामों के अधिपति जालिकुमार बन गये। कल तक के महाराज श्रेणिक आज राज्यदरबार में आँगन पर खड़े पूछ रहे हैं जालिकुमार से—“राजन्! क्या आज्ञा है?”

□ किरमिची वैराग्य और मसाणिया वैराग्य

बंधुओं! जालिकुमार का वैराग्य किरमिची वैराग्य था, मसाणिया वैराग्य नहीं जो प्रलोभनों से उतर जाये। प्रलोभन भी कितना भारी! राज्य-ऋद्धि, राज-सिंहासन! अरे! आपका वैराग्य तो केवल श्मशान में चिता जलने तक का है। वहाँ जब तक बैठकर प्रज्वलित चिता देखते हैं—वैराग्यभाव भरे अनेक विचार आते हैं आपके मन में कि ‘एक दिन हमें भी यहीं आना है, यही हालत होनी है सभी की। फिर क्यों पाप-पंक में फँसे हैं। छोड़ देना चाहिए। यह सब हमें।’ पर जैसे ही सिर पर पानी के दो लोटे उँडेलते हैं, सारा वैराग्य रंग धुल जाता है, पर वैसा वैराग्य नहीं था भव्यात्मा जालिकुमार का।

राजा बने जालिकुमार ने सोचा—‘अवसर अच्छा है। पिताश्री आज्ञा माँग रहे हैं तो ऐसी आज्ञा देनी है, जिससे मेरे आत्म-कल्याण का पथप्रशस्त बन जाये।’

बंधुओं! आपमें से किसी व्यक्ति को ऐसा, राजा बनने जैसा अवसर प्राप्त हो जाये तो क्या करेंगे आप? सबसे पहले तो राजकोष पर धावा होगा। जितना खाली करके घर भेज सकेंगे, भेज देंगे। खाली हो जाये खजाना तो खाली पेटियाँ भी वहाँ नहीं छोड़ेंगे। कोई शत्रु-वत्रु हो तो बदला भी शायद ले लें। कारण, आपकी आत्मा जागृत नहीं है। आपका धर्म अभी बाहर तक ही सीमित है, पर जालिकुमार का धर्म, उसका वैराग्य अंतःकरण में जागृत बन गया था, उसे अन्तर् का खजाना प्राप्त हो गया था फिर वह क्या परवाह करता इस बाह्य धन की।

□ दीक्षा की तैयारियों का आदेश

उसने हाथ आए अवसर को जाने नहीं दिया। तुरन्त कहा—“तीन लाख स्वर्ण-मुद्रा श्री भण्डार से निकलवाकर मेरी दीक्षा की तैयारियाँ करवाइए। ओघे पातरे मँगवाइए, मुनि-वेश मँगवाइए, नाई को कहलवा दीजिए।”

देखा आपने! वैराग्य का किरमिची रंग था यह। न उतरने वाला रंग भला कैसे उतरता? श्रेणिक महाराज भी आदेश सुन दंग थे। क्या सोचा था, क्या हो गया? सिंहासन की आज्ञा की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। जालिकुमार की दीक्षा राजसी ठाट-बाट से हो, ऐसी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गईं।

□ राजकुमार और राजा थे, बन गये मुनि जालिकुमार

महाभिनिष्क्रमण-यात्रा का ठाट देखने लायक था। जालिकुमार प्रभु-चरणों में उपस्थित हुए और बोले—“प्रभो! संसार के इस महाभयानक दावानल में मैं जल रहा हूँ। विषय-कषाय और भोगों के कीचड़ में फँस रहा हूँ। मुझे इस अग्नि में जलने से बचाइए, इस दलदल से बाहर निकालिए, आपके चरणों में स्थान दीजिए। मुझे दीक्षा-मंत्र प्रदान कर अपना शिष्य बना लीजिए।”

बंधुओं! इस तरह जालिकुमार प्रभु के श्रीमुख से दीक्षा अंगीकार कर जीवनभर के लिए आरंभ-परिग्रह का, सर्व सावद्य योगों का, काम-विषय-भोगों का, क्रोधादि कषायों का तीन कारण तीन योग से प्रत्याख्यान करते हैं।

□ संयम व तपाराधन, समाधिमरण

दीक्षित बनने के पश्चात् मुनि जालिकुमार स्थविर मुनिराजों से उनकी सेवा में रहकर ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हैं। पाँच समिति का यतनापूर्वक पालन करते हुए त्रिगुप्तियों से गुप्त बन जाते हैं।

इस तरह ज्ञान-दर्शनमय चारित्र की साधना करते हुए सोलह वर्ष पर्यन्त शुद्ध श्रमण-पर्याय का वे पालन करते हैं। अनेक तपस्याएँ करते हैं। गुणरत्न संवत्सर तप की आराधना करते हैं।

जब देखते हैं कि तप के द्वारा मेरा शरीर अत्यंत कृश बन गया है तो सोचते हैं—‘जब तक शरीर में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम है, तब तक मुझे आत्म-साधना का पूर्ण लाभ ले लेना चाहिए।’ बंधुओं! तप द्वारा आत्म-विकारों को नष्ट कर देने वाले वे मुनि जालिकुमार यह सोचकर प्रभु के चरणों में पहुँचते हैं और प्रभु से विपुलगिरि पर्वत पर जाकर

समाधिभाव में रमण की आज्ञा चाहते हैं। प्रभु की आज्ञा पाकर वे मुनि जालिकुमार विपुलगिरि पर्वत पर चढ़कर पूर्वकृत दृष्टकृत्यों के लिए सभी जीव योनि से क्षमायाचना कर, पूर्व में लिए महाव्रतों के अतिचारों की शुद्धि कर, पुनः नये महाव्रतों पर आरूढ़ हो संथारा कर लेते हैं और ६० भक्त के संथारे के पश्चात् आयुष्य के अंत में मरणधर्म को प्राप्त करते हैं।

□ अनुत्तर वैमानिक देव बने, मोक्ष जायेंगे

मुनि जालिकुमार के समाधिमरण का समाचार प्राप्त होने पर गणधर गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं—“प्रभु! आपके शिष्य मुनि जालिकुमार जो प्रकृति से अत्यंत भद्र थे, अपनी आयुष्य पूर्ण करके कहाँ उत्पन्न हुए हैं?”

भगवान समाधान करते हुए बताते हैं—“हे गौतम! जालि अणगार अपनी आयुष्य पूर्ण करके ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहसमूह, नक्षत्रगण, तारागण आदि ज्योतिष-चक्र से असंख्य, कोड़ाकोड़ी योजन लाँघकर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों तथा तीन सौ अठारह नवग्रैवेयक विमानवासों को लाँघकर विजय नामक महाविमान में अनुत्तर देव के रूप में उत्पन्न हुए हैं।”

“हे गौतम ! वहाँ उसकी देव-भव की काल-स्थिति बत्तीस सागरोपम की है। वहाँ की स्थिति क्षय होने पर उसका जीव महाविदेह में उत्पन्न होगा और वहाँ से सिद्ध गति को प्राप्त होगा।”

बंधुओं! प्रभु के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने जीवात्मा के चरम और परम लक्ष्य प्राप्ति की जो साधना की, उसमें वे सफलीभूत हुए। धन्य है उनका वैराग्य, उनकी साधना, उनका तप!

आत्म-कल्याणी साधकों के लिए उनका आदर्श जीवन निश्चय ही महान् प्रेरणादायक है। ग्रहण कर सकें यदि उनके आदर्शों को, उतार सकें सामर्थ्य के अनुसार जीवन में उनका अंश भाग भी तो आत्म-कल्याण निश्चित है।

□ महाराज श्रेणिक के शेष बावीस पुत्र : जन्म, दीक्षा, साधना, समाधिमरण व अनुत्तर देवभव-प्राप्ति

कड़ी की प्रथम पंक्ति में श्रेणिक के जालि आदि तेवीस (२३) पुत्रों का उल्लेख हुआ है। उनके नाम इस प्रकार हैं—जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिसेन, दीर्घदन्त, लष्टदन्त,

वेहल्ल, वेहायस, अभय, दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदंत, हल्लकुमार, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुण्यसेन।

वेहल्लकुमार, वेहायसकुमार और अभयकुमार के अतिरिक्त सभी की माता का नाम धारिणी रानी था।

वेहल्ल और वेहायस रानी चेलना के पुत्र थे।

अभयकुमार रानी नन्दादेवी के पुत्र थे। इन सभी के पिता राजा श्रेणिक थे।

इन सभी का जीवन-चरित्र जालिकुमार के चरित्र की तरह ही है। माताओं के नाम में अंतर है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ के पाँच व अंतिम तेरह, इस प्रकार अठारह कुमारों ने सोलह-सोलह वर्ष की श्रमण-पर्याय का पालन किया। दीर्घदंत, लष्टदंत व वेहल्ल ने बारह-बारह वर्ष एवं वेहायस व अभयकुमार का श्रमण-पर्याय पाँच-पाँच वर्ष पर्यन्त रहा।

जालिकुमार, अभयकुमार, दीर्घसेन तथा महासेन विजय अनुत्तर विमान में; मयालिकुमार, वेहायस, लष्टदंत और गूढदंत वैजयंत अनुत्तर विमान में; उवयालि, वेहल्ल, शुद्धदंत और हल्लकुमार जयंत अनुत्तर विमान में; पुरुषसेन, लष्टदंत, द्रुम और द्रुमसेन उपराजित अनुत्तर विमान में तथा शेष सात (७) कुमार सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

ये सभी तेवीस ही कुमार एकभवावतारी बने, अर्थात् देवलोक से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में मानव-भव प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे।

□ अपनी धर्मकरणी को सम्यग्दर्शनयुक्त बनाइए

अनुत्तर धर्मकरणी कर अनुत्तरभव की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि आप सभी धर्म को जानें, धर्म के मर्म को समझें, धर्म के पथ पर चरण बढ़ाएँ। आत्म-कल्याण चाहते हैं तो धर्मयुक्त करणी करें, जीवन को विवेकयुक्त बनाएँ। समताभावपूर्वक सम्यक्त्व में गमन कर सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक्-साधना करें। जो-जो भव्यात्माएँ अपने जीवन को ऐसा मोड़ देकर साधना-पथ पर अग्रसर होंगी, उन्हें एक दिन शाश्वत-सुख की प्राप्ति निश्चित है।

आनंद ही आनंद !



बुद्धिनिधान अभयकुमार—जो अभय देकर अभय बन गये!

पूरी मन जगीस

(श्रेणिक-पुत्र अभयकुमार)

जो जीवे वि ण याणेइ, अजीवे वि ण याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो णाहिइ संजमं॥

आत्म-बन्धुओं!

वीतराग जिनेश्वर देव कहते हैं कि जो जीव और अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता है, वही आत्मा जीवन के समस्त दुःखों को नष्ट कर शाश्वत-सुखों में तल्लीन बन सकता है। जो इन्हें नहीं जानता वह वस्तुतः कुछ नहीं जानता। तत्त्वज्ञान के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं और सम्यग्दृष्टि बिना समस्त जाना हुआ भी अज्ञान-रूप है। भेदविज्ञान को वह जान नहीं पाता, अतः जीवन को समझ नहीं पाता। उस व्यक्ति के लिए जैसा पुण्य वैसा पाप, जैसा आस्रव वैसा ही संवर और जैसा बंध वैसा ही मोक्ष। बंधन को तोड़ने के लिए निर्जरा कैसे हो? यह भला वह क्या जाने?

□ जीवन-उद्धार : जीवन-कला

जो जान लेता है कि किन प्रवृत्तियों से बंध होता है और किस प्रकार की प्रवृत्तियों से बंध छूटता है तो वह निश्चित रूप से संसार के काम-भोग-वासनारूपी दलदल में रहते हुए भी कीचड़ में कमलवत् निर्लिप्त बना रहता है, सांसारिक प्रवृत्तियों को करते हुए उदासीन रहता है, आसक्त नहीं होता उनमें, प्रभावित नहीं होता उनसे, दलदल में फँसता नहीं, धँसता नहीं। यही जीवन की कला है। यह कला, व्यक्ति को संसार में रहते हुए किस प्रकार सम्यक् जीवन जीवन जीना चाहिए, इसमें निष्णात बनाती है। शास्त्रों में पुरुषों के लिए बहत्तर (७२) एवं स्त्रियों के लिए चौंसठ (६४) कलाओं का उल्लेख मिलता है, पर इन समस्त कलाओं में सारभूत कलाएँ यदि कोई हैं तो वे दो ही हैं। कवि ने कहा भी है—

कला बहत्तर जगत् में, ता में तंत दो सार।
एक जीव आजीविका, एक जीव उद्धार॥

कवि ने दोनों दृष्टिकोण इसमें सम्मिलित कर लिए हैं। पहला वह जिसे आप पसन्द करते हैं, अर्थात् पेट पालने की कला और दूसरी वह जिसका गुरुदेव उपदेश देते हैं, अर्थात् आत्मा का कल्याण।

आप्त-पुरुषों की, सर्वज्ञों की, वीतराग-भगवंतों की वाणी में संसार में रहकर जीने की कला का भी विधि-विधान है और संसार-सागर को तैरकर उस पार जाने का विधि-विधान तो है ही। दोनों ही कलाओं में मूलाधार है—धर्म! जीओ तो इस प्रकार कि जीवन का प्रत्येक व्यवहार धर्ममय हो और संसार-सागर से तिरो तो धर्म को ही जीवन का अंग बना लो।

□ सुख क्या है ?

कला आप भी सीखना चाहते हैं, जीवन जीने की कला चाहिए आपको, किन्तु दृष्टि में आपके पाप-प्रवृत्ति समाई है, मन में आस्रव-विचारधारा का बहाव है तो वह कला डुबो देगी। आप चाहते हैं सुखी जीवन, पर सुख क्या है? इसे समझ नहीं पा रहे हैं। आपकी विचारधारा जिसे सुख मान रही है, वह सही नहीं है, भ्रमपूर्ण है। आप मानते हैं धन में, ऐश्वर्य में, भौतिक साधनों में बाह्य जगत् में सुख पर इनमें कभी सच्चा सुख मिलेगा नहीं। इनमें तो मात्र सुखाभास है, क्षणिक सुख है और फिर दुःख ही दुःख। सच्चा सुख है—धर्म में, सम्यग्दृष्टि में, संयम-साधना में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप रत्नत्रयी की आराधना में।

□ एक भूखे घर का और दूसरा धाप्या घर का पावणा

मान लीजिए एक व्यक्ति के पास एक आलीशान बंगला है, लम्बा-चौड़ा व्यापार-धंधा है, सारी भोगोपभोग की सामग्रियाँ, साधन-प्रसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, पर लोभ से मन उसका सदैव उद्विग्न रहता है, मानो सिर पर भूत की तरह सवार रहता है, भय दिल को कचोटता रहता है कि कहीं कुछ हो न जाये। विवेक की कमी भी है, अतः आलीशान बंगला धूल की परतों से सटा पड़ा है, मकड़ी के जालों की भरमार है, फर्श पर गंदगी ने अखाड़ा खोल रखा है और नालियाँ कीचड़ से अटी हैं—डटी हैं। बहुमूल्य वस्त्रों का ढेर है बंगले में, पर सारे के सारे मैले-कुचैले, बिखरे हुए पड़े हैं। वर्षों से वैसे ही लगे हैं, लगने के बाद कभी झटके नहीं गये, धोए नहीं गये। फर्नीचर ऐसा कि देखते ही बने, अत्यंत कुशल कारीगरों की शिल्पकला का नमूना है उनमें, किन्तु उन्हें भी वर्षों से झाड़ा-पौँछ नहीं गया है। रसोईघर है, पर पूरा कालिमायुक्त और बदबूदार। मटकी में पानी है, पर अनछना, जीवाणुओं से युक्त। डब्बों में आटा है, पर उसमें भरपूर इल्लियाँ हैं। पूरे घर में कीड़ियों की रेलमपेल है, किसारियों (कडहाई) का जमघट है, मच्छरों की सेना है।

बंधुओं ! क्या वह व्यक्ति सुखी है? सब कुछ है उसके पास, पर वह दुःखी है। क्यों? क्या कारण है, उसके दुःखी रहने का?

कारण है जीवन जीने की कला से अनभिज्ञता! कवि कहता है—

जीव दया पाली नहीं, नहीं पाली छः काय।
भूखा घर रो पावणो, ज्यूं आयो त्यूं जाय ॥

है सब कुछ पर नहीं जानता तत्त्वज्ञान तो जीवों की दया कैसे पालेगा? कैसे पृथ्वीकाय आदि षट्काय जीवों की हिंसा से अपने को बचायेगा? कवि कहता है कि ऐसे व्यक्ति पाप में ही डूबे रहेंगे, पुण्योपार्जन नहीं कर सकेंगे और न निर्जरा के द्वारा कर्मबंध तोड़ सकेंगे। वे तो जैसे कोरे आये थे, वैसे ही कोरे चले जाएँगे।

पर जो जान लेता है जीव-अजीव को, जड़-चेतन को, पुद्गल और जीव को तो वह जीवों की दया पाल सकेगा, षट्काय को अभय दे सकेगा। भेदविज्ञान का यही लाभ है। कवि कहता है—

जीव दया पाले सदा, पाले है छः काय।
धाप्या घर रो पावणो, माल-मलीदा खाय ॥

जो जीव-अजीव के भेद को जानकर जीवों की रक्षा करते हैं, उन पर अनुकम्पा करते हैं और पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति से लेकर बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचिन्द्रिय आदि समस्त जीवों पर अनुकम्पा करते हैं ऐसे व्यक्ति पूर्वकृत पुण्य लेकर आते हैं। अतः यहाँ भी सुख पाते हैं और भावी जीवन के लिए भी पुण्य संचय कर अपने भविष्य को सुखद बना लेते हैं।

□ चेतना को जड़ से मुक्त करें

जीव का लक्षण है उपयोग। अनंतज्ञान व दर्शनयुक्त जीव उपयोग द्वारा ही यह जानता है कि शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। वह जान लेता है कि कर्म-पुद्गलों से आवृत्त है आत्मा, इसी कारण उसका शुद्ध चेतन-स्वरूप जड़-शरीर से सम्बन्ध रखता है। कर्म और शरीर, इन दोनों जड़ पुद्गलों से, अजीव तत्त्वों से मुक्त बनना है जीव को। यह ज्ञान हो गया यदि तो वह आत्म-साधना द्वारा शुद्ध परमात्म-स्वरूप को पा सकेगा। जब तक जड़ (शरीर, कर्म) जुड़ा है जीव से, जीव चार गति चौरासी लक्ष जीव-योनि में भटकता रहेगा।

□ तेजस् शरीर और कार्मण शरीर

शरीर के बंधन से आत्मा को छुड़ाना है! किस शरीर के बंधन से? केवल हाड़, माँस, रक्त, मज्जा आदि का नाम ही शरीर नहीं है। शरीर के शास्त्रों में दो भेद बताए हैं—सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर।

जीव जब एक गति से दूसरी गति में जाता है तो उसका पूर्वभव का स्थूल शरीर वहीं रह जाता है। नयी गति, नया जन्म, नया शरीर। कितने प्रकार के शरीर बताए हैं पच्चीस बोल में? शरीर पाँच हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् व कार्मण। एक गति से दूसरी गति में जाता है जीव तो तेजस् व कार्मण, दोनों सूक्ष्म शरीर साथ नहीं छोड़ते। सूक्ष्म शरीर तब तक आत्मा के साथ रहता है, जब तक आत्मा मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

तेजस् शरीर भीतर की ऊर्जा को कहते हैं। व्यक्ति का न्यूनतम औसत तापमान ९८० सेंटीग्रेड के लगभग बताया गया है। यह ताप जो शरीर में है वही ऊर्जा है, वही तेजस् है। खाना जो खाया जाता है उसको पचाता है यह तेजस्। तप द्वारा भीतर के तेजस् को बढ़ाया जाये तो वह तेज कई बार उस स्थिति पर पहुँच जाता है, जहाँ वह कर्म-पुद्गलों को, कार्मण शरीर को जलाने में सक्षम बन जाता है। इस तरह एक सूक्ष्म शरीर दूसरे सूक्ष्म शरीर को नष्ट कर देता है। योग-साधना में कुण्डलिनी जागृत करने की क्रिया तेजस् बढ़ाने की ही क्रिया है, नाम का अन्तर है और विधि का भी अन्तर है, पर लक्ष्य एक ही है। सूक्ष्म शरीर जब नष्ट हो जाता है तो जीव मोक्ष में चला जाता है।

□ भेदविज्ञान से छूट जाता है भोगाकर्षण

यह सब कब होगा? जब भेदविज्ञान की जानकारी होगी, अतः जरूरी है कि आप सभी शरीर और आत्मा के अन्तर को जानें। जान लिया जिन्होंने, उनके सामने चाहे जितने लुभावने आकर्षण रखे गये, पर वे नहीं फँसे। यही सत्य भी है, जो जानेगा भेदविज्ञान, वह भोगों के आकर्षण में नहीं फँसेगा।

□ अनुत्तर बुद्धिनिधान अभयकुमार

पिछले प्रवचन में कुछ ऐसी ही भव्यात्माओं के प्रसंग आपने सुने। वे सभी राजा श्रेणिक के पुत्र थे। अनुत्तर जीवन जीने वाले जीवात्मा, काम-भोग के साधनों की कोई कमी नहीं, पर समस्त सांसारिक सम्बन्धों को तोड़, काम-भोगों से मुँह मोड़ संयम-पथ पर कदम बढ़ाए और ऐसी अनुत्तर संयम-साधना की उन्होंने कि वे सभी अनुत्तर विमान के अनुत्तर देव बने।

इनमें एक नाम था—अभयकुमार। सभी राजकुमारों में विशिष्ट नाम है यह। बुद्धिनिधान थे अभयकुमार। आज भी दीपावली पूजन के समय बहीखातों में आप लिखते हैं—“अभयकुमार की सी बुद्धि होइ जो।”

आज उन्हीं का जीवन—प्रसंग आप सुनेंगे। एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन राजकुमारों की स्तुति में लिखा है—

श्रेणिक ना बेटा, जाली आदिक तेवीस।

वीर पै व्रत लेई ने, पाल्यो विसवावीस ॥ ७८ ॥

तप कठिन करीने, पूरी मन जगीश।

देवलोके पहुंच्या, मोक्ष जासे तजी रीश ॥ ७९ ॥

□ मगध-कुमार श्रेणिक का निष्कासन

मगध राज्य का महामन्त्री-पद प्राप्त करने से पहले अभयकुमार को अनेक प्रकार से अपनी विचक्षण बुद्धि की परीक्षा देनी पड़ी थी। परीक्षा लेने वाले थे, उसके पिता राजा श्रेणिक। अभयकुमार के जन्म की कथा भी अत्यंत रोचक है, क्योंकि जिस समय वे रानी नन्दा के गर्भ में अवस्थित हुए तब श्रेणिक अपने राज्य से निष्कासित थे।

श्रेणिक के पिता राजा प्रसेनजित ने श्रेणिक को तब निष्कासित किया था जब वे चौदह वर्ष के थे। यह निष्कासन दंड नहीं एक दिखावा था। वस्तुतः श्रेणिक अपने सभी एक सौ (१००) भ्राताओं में सर्वाधिक बुद्धिमान थे। ईर्ष्या व द्वेषवश अन्य राजकुमार छल-कपट से उनकी हत्या न कर दें, इसी चिन्तन के कारण उनका निष्कासन हुआ।

□ श्रेणिक का सेठ-पुत्री नन्दश्री (नन्दा) से परिणय

निष्कासित श्रेणिक जब राज्य छोड़कर जा रहा था तो राह में उसे वेणातट ग्राम का निवासी सेठ सुभद्र मिला। उस कुलीन युवक से प्रभावित सेठ उसे अपने गाँव में अपनी दुकान पर ले आया। संयोगवश उस दिन सेठ की दुकान पर अप्रत्याशित बिक्री हुई, अत्यधिक लाभ हुआ, पुराने सौदों में एकदम तेजी आयी, डूबत की अनेक राशियाँ प्राप्त हो गईं।

सेठ सुभद्र ने इस युवक को भाग्यवान समझा। कुछ दिनों तक यही स्थिति रही फिर सेठ सुभद्र ने हर तरह से योग्य समझकर अपनी एकमेव रूपवती व गुणवती पुत्री नन्दश्री का विवाह उसके साथ कर दिया। इसी नन्दश्री की रत्नकुक्षि में अभयकुमार अवस्थित हुए।

□ नन्दा को गर्भ : श्रेणिक को पिता का स्मरण

अभय के गर्भ में आने के पश्चात् श्रेणिक को अपने पिता और मगध की स्मृति आती है। उधर श्रेणिक के पिता राजा प्रसेनजित युवराज चिलाती की उच्छ्रंखलता से, उसकी विषय-लम्पटता से और उसके क्रूर प्रजा-शोषक रूप से अत्यन्त दुःखी और परेशान हो अनेक बार एकांत में आँसू बहाते हैं कि क्यों उन्होंने अपने सर्वगुण-सम्पन्न, समर्थ पुत्र को व्यर्थ ही राज्य से निष्कासित किया। उसकी अनुपस्थिति और चिलाती जैसे अयोग्य व दुराचारी पुत्र के हाथों राज्य की बागडोर, यह बात उनके हृदय में जहरीले काँटे की तरह चुभ रही थी। इस दुःख का आवेग बढ़ा तो वे अपने को रोक नहीं सके और उन्होंने अपने विश्वस्त अनुचरों को पुनः श्रेणिक की खोज में भेजा।

□ श्रेणिक का राजगृह के लिए प्रस्थान

खोज करते-करते अनुचर वेणातट गाँव में भी पहुँचे। श्रेणिक को पहचानने में उन्हें जरा भी दिक्कत नहीं हुई। एकांत में उन्हें राज्य की सारी स्थिति बताकर पिता महाराज की व्यथा बताई और संदेश दिया कि “समय बहुत कम है, आपके पिता के प्राण केवल आपसे मिलने के लिए अटके हुए हैं। अतः आपको तुरन्त चलना चाहिए।”

श्रेणिक तैयार हो गया। नन्दा ने सुना कि जा रहे हैं श्रेणिक तो आँखों में आँसू भर आये। बताया कि वह माँ बनने वाली है और उसे इस दशा में छोड़कर जाना अन्याय है।

बंधुओं! एक तरफ पत्नी के आँसू थे, उसकी गर्भावस्था थी और दूसरी तरफ पिता के प्रति कर्त्तव्य, राज्य की दुर्दशा-निवारण का उत्तरदायित्व। क्या करें वे? क्षत्रिय-पुत्र थे, पिता के दर्शन की अभिलाषा व राज्य-सुधार का कर्त्तव्य उसे पुकार रहा था। विवश नन्दा को उनकी बात माननी पड़ी। श्रेणिक ने कहा—यदि मुझे लौटने में विलम्ब हो जाये तो याद रखना—“मैं राजगृह नगर का गोपाल हूँ और वहाँ का श्वेतवर्णी, उज्ज्वल आभा वाला सबसे ऊँचा भवन ही मेरा निवास है।”

□ राज्याभिषेक

पिता से मिलन हुआ, उनकी समस्त चिन्ताएँ मिट गईं और अपने सुयोग्य पुत्र के हाथों में एक दिन वे मरणधर्म को प्राप्त कर गये। मगध के महामात्य, राजपुरोहित, सेनाध्यक्ष एवं समग्र प्रजा ने मिलकर श्रेणिक का राज्याभिषेक किया।

□ अभय—जन्म और शिक्षा

उधर नन्दा ने गर्भकाल पूर्ण होने पर 'अभय' को जन्म दिया। असाधारण बुद्धि थी, अद्भुत चतुरता थी, हर बात में विलक्षणता थी। अतः आठ वर्ष का होने तक अनेक विद्याओं में निपुण हो गया। पुरुषोचित बहत्तर कलाएँ भी सीख लीं उसने।

सेठ सुभद्र एवं स्वयं नन्दा को विश्वास था कि श्रेणिक उच्च कुलीन और क्षत्रिय है, अतः अभय को शस्त्र-संचालन में भी प्रवीण बनाया। बचपन में ही उसकी तेजस्विता, बुद्धिमत्ता और निडरता की अनेक बातें चर्चा का विषय बनकर उसे प्रसिद्धि देने लगीं।

□ 'कौन हैं मेरे पिता?'—अभय की जिज्ञासा

एक दिन प्रातःकाल के समय ग्राम के मैदान में बालक-बालक मिलकर खेल रहे थे। अभयकुमार भी था उनमें। अपनी बुद्धि और तेज के कारण वह अनायास उनका नेतृत्व करता और बच्चे भी उसकी बात मान लेते थे। पर आज अचानक किसी बात को लेकर एक बच्चा तुनक गया और कह बैठा कि रौब तो इतना करते हो, बड़े बुद्धि वाले और उच्च बनते हो, पर पिता का तो कोई अता-पता ही नहीं है।

अभय ने सुभद्र सेठ को अपना पिता बताया तो सब लड़के हँस पड़े। उसी लड़के ने कहा—“वे तो तेरी माता के पिता हैं, हम तो तुम्हारे पिता का नाम जानना चाहते हैं।”

सभी बच्चों का इस तरह हँसना अभय के अन्तर् में काँटे की तरह खटक गया। वह रुआँसा होकर घर आया और माँ से बोला—“माँ! मेरे पिता का नाम क्या है? कहाँ हैं वे? यहाँ क्यों नहीं आते?”

माँ ने उसे बहलाना चाहा। सेठ सुभद्र की ओर संकेत कर बताया भी कि यही तो हैं वे जिन्हें तू हमेशा 'पिताजी' कहता है।

अभय आज यह मानने वाला नहीं था। बोला—“वे तुम्हारे पिता हैं। आज तुझे मेरे पिता का नाम बताना पड़ेगा, जब तक नहीं बतायेगी, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।”

□ माता नन्दा का समाधान

माँ नन्दा को बताना पड़ा कि “वे जरूरी काम से राजगृह गये थे और कहकर गये थे कि वे राजगृह नगर के गोपाल हैं तथा नगर का सबसे ऊँचा, श्वेत वर्ण का भवन उनका निवास है।”

बुद्धिमान बालक अभय ने समझ लिया कि उसके पिता मगध के राजा हैं। प्रश्न यह था कि कैसे उन तक पहुँचा जाये? नन्दा को पहली बार पीहर से ससुराल जाना था और अब तो उसे ज्ञात था कि वह मगधेश की रानी है तो भिखारियों की तरह जाना, उसे कैसे शोभा देता? वह पूरे मान-सम्मान के साथ ससुराल में जाने की अभिलाषा रखती थी। अभय ने माता को आश्वस्त करते हुए कहा—“मातेश्वरी! दुनिया चमत्कार को नमस्कार करती है, आपका बेटा अपनी बुद्धि का ऐसा चमत्कार दिखायेगा कि पिता महाराज स्वयं आकर आपको पूरे मान-सम्मान के साथ अपने महलों में ले जाएँगे।”

□ माता नन्दा और अभय नन्दीनाथ के ग्राम में

बालक के मुँह से यह बात सुन माता अत्यंत प्रसन्न हुई। पिता सुभद्र की अनुमति से अनेक सेवक-सेविकाओं के सहित वह अभय के साथ राजगृह के लिए प्रस्थित हुई और राजगृह के निकटवर्ती एक ऐसे गाँव में ठहरी, जिस गाँव के प्रबंधक नन्दीनाथ से श्रेणिक नाराज थे क्योंकि जब श्रेणिक को निष्कासित किया गया था, उस समय भूख लगने पर उस गाँव की अतिथिशाला में उन्हें भोजन माँगने पर तिरस्कृत किया गया था। ऐसा ही व्यवहार सभी के साथ होता होगा, अतः वे चाहते थे कि राज्यकोष से वहाँ की अतिथिशाला के लिए दी जाने वाली सहायता-राशि बन्द कर दी जाये। पर एकदम वर्षों से मिल रही सहायता-राशि बन्द करना तो उचित नहीं रहेगा। अन्य प्रबंधक व प्रजा-जन मेरे बारे में क्या सोचेंगे? ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जो सहायता-राशि बन्द करने का कारण बने।

□ विचक्षण बुद्धि का धनी अभयकुमार

श्रेणिक ने महामात्य की सलाह लेकर एक हष्ट-पुष्ट बकरा तोलकर नन्दीग्राम भेजा और कहलवाया कि “इसे खूब खिलाओ-पिलाओ। एक सप्ताह बाद इसे वापस तोला जायेगा। वजन तनिक भी घटा-बढ़ा तो राजदंड दिया जायेगा और गाँव की जागीरी छीन ली जायेगी।”

मुखिया ने राजाज्ञा सुनी तो घबराया। सारे लोग इकट्ठे हुए, पर किसी को कुछ भी समझ में नहीं आया। समझ में एक बात ही आई कि राजा हमें दुःख देने पर कमर कसे हुए है।

ग्राम में अभय भी ठहरा था। उसने भी बात सुनी। उसने सभी को आश्वस्त किया और ऐसा उपाय बता दिया कि बकरे को खूब खिलाया-पिलाया जाय पर बकरे के सामने पिंजरे में

एक शेर रखा जाय। मृत्यु के भय के कारण से अच्छा खाना मिलने पर भी उसका न तो वजन घटेगा, न बढ़ेगा।

बंधुओं! एक सप्ताह बाद बकरे का वजन न रत्तीभर घटा और न रत्तीभर बढ़ा तो श्रेणिक चकित रह गया। उसने एक के बाद एक असाधारण लगने वाले जटिल कार्यों की नन्दीग्रामवासियों के समक्ष झड़ी लगा दी, पर अभयकुमार की विचक्षण बुद्धि ने वे सारे जटिल काम सरलता से सफलतापूर्वक पूर्ण करवा दिये।

□ सूखे कुँ में हीरे की बहुमूल्य अँगूठी

श्रेणिक ने सोचा—‘नन्दीग्राम-निवासी ब्राह्मण इतने बुद्धिमान नहीं हो सकते। कोई अन्य व्यक्ति है जो श्रेष्ठ बुद्धि का धनी है और इनके ग्राम में रह रहा है।’

सेवकों को आदेश मिला कि “दूँदो ऐसे व्यक्ति को।” गुप्तचरों ने पता लगाया और महाराज श्रेणिक को बताया कि “उस ग्राम में एक बारह-तेरह वर्ष का तरुण गजब का बुद्धिमान है। उसी ने गाँव वालों को मुसीबतों से बचाया है।”

राजा ने सोचा—‘ऐसे विलक्षण तरुण से मिलना चाहिए पर युक्तिपूर्वक।’

उसने एक आयोजन किया। एक सूखे कुँ में अपनी हीरों की बहुमूल्य अँगूठी डलवाकर घोषणा करवाई कि “जो व्यक्ति किनारे पर खड़ा होकर अँगूठी निकाल देगा उसे राजकीय सम्मान से अलंकृत किया जायेगा।”

बंधुओं! श्रेणिक के चार सौ निन्यानवे (४९९) मंत्री थे। वह एक विचक्षण प्रतिभा-सम्पन्न अति बुद्धिशाली योग्य महामंत्री की तलाश में था, जो पूरे मगध राज्य के सभी मंत्रियों के ऊपर प्रमुख हो। यह आयोजन करते समय उसके मन में यह भी विचार था कि उस बुद्धिमान को महामंत्री बना दिया जाये।

□ कुँ के किनारे पर खड़े रहकर अँगूठी निकाल ली अभय ने

अभयकुमार उस दिन घूमते हुए राजगृह के राज्योद्यान तक चला आया था। उसने भी घोषणा सुनी। गया कुँ तक। देखा—हजारों व्यक्ति आ-जा रहे हैं, देख रहे हैं कुँ में झाँककर, पर किसी को उपाय नहीं सूझ रहा है।

वह आगे बढ़ा। श्रेणिक ने देखा उसे। चेहरे पर उद्भुत तेज, आँखों में बुद्धिमानी की निराली चमक, दिखने में अत्यंत चतुर। अभय ने महाराज श्रेणिक को देखा, अभिवादन किया और कहा—“आज्ञा हो तो मैं प्रयत्न करूँ?”

श्रेणिक महाराज बोले—“मगध के बड़े-बड़े अनुभवी विद्वान्, बुद्धिमान, चतुर व्यक्ति भी जिस काम को न कर सके, उसे तुम कैसे करोगे? तुम तो अभी बहुत छोटे हो!”

अभय ने कहा—“महाराज! यह तो वक्त की बात है वरना मगध का गौरव तो विश्व-प्रसिद्ध है। वीरों और विद्वानों की धरती है यह। बुद्धिमानों की भी यहाँ क्या कमी है? आप मुझे आज्ञा दीजिए।”

महाराज बोले—“तुम्हें मेरी आज्ञा है। कार्य की सम्पन्नता के लिए कुछ साधन आदि चाहिए तो मिलेंगे। मुद्रिका निकाल दी तुमने तो हम तुम्हें विशेष राजकीय सम्मान देंगे, महामात्य का प्रतिष्ठित पद देंगे और एक राजकन्या भेंट दिलवाएँगे।”

अभय तो बुद्धि का कुबेर-कोष था। महाराज को प्रणाम कर उसने कुछ गोबर मँगवाया, कुछ प्रज्वलित अग्नि के अंगारे लिए, सूखी घास व चिनगारी की व्यवस्था करवाई। वह कुएँ के पास गया। निशाना बाँधकर अँगूठी पर गोबर डाल दिया। उस पर सूखी हलकी घास डालकर चिनगारी डाल दी। घास ने आग पकड़ ली। आग गोबर को सुखाने लगी। गोबर सूख गया तो उसने राजसेवकों को आज्ञा दी—“कुएँ को पानी से लबालब भर दो।” कुएँ में पानी भर दिया गया। सूखा गोबर तैरता हुआ पानी में ऊपर उठने लगा। कुआँ लबालब भर गया, गोबर तैरता हुआ किनारे लग गया, अभय ने हाथ बढ़ाकर उसे उठा लिया। उसने उसमें से मुद्रिका निकाली, साफ की और श्रेणिक महाराज के चरणों में रख दी।

आनंदित महाराज श्रेणिक ने उससे उसके जन्म-स्थान, वंश, गौत्र, माता-पिता आदि का परिचय जानना चाहा।

□ पिता-पुत्र मिलन : अभय महामंत्री बने

ग्राम ‘वेणातट’ और माता के नाम पर ‘नन्दा’ का नाम सुन श्रेणिक महाराज वर्षों पूर्व की घटनाओं में खो गये। सेठ सुभद्र का नाम भी आया। पिता के नाम पर जब कहा गया कि वे राजगृह के गोपाल हैं और नगरी के सर्वोच्च भवन में रहते हैं। सुनकर श्रेणिक हर्ष से विभोर बन गये। आँखों में हर्षाश्रु छलक पड़े। पुत्र अभय को आगे बढ़कर गले से लगाया। रानी को ससम्मान नगर में लेकर आये। अपनी बहन सुसेना की पुत्री के साथ अभय का सम्बन्ध तय कर दिया गया और उसे अन्य पाँच सौ मंत्रियों पर महामात्य के पद पर प्रतिष्ठित किया महाराज श्रेणिक ने।

□ महामंत्री अभय की बुद्धि के चमत्कार

वैसे तो अभयकुमार का सम्पूर्ण जीवन ही बुद्धिमानी का जीता-जागता प्रत्यक्ष उदाहरण है, पर कुछ विशिष्ट घटनाएँ हैं जो उसकी औपपातिकी, वैनयिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि में अति प्रवीणता की सूचक हैं।

(१) पहली विशिष्ट घटना है—महाराज चेटक की महासुन्दरी, महाशीलवती, महागुणवती पुत्री चेलना का महाराज श्रेणिक की पत्नी के रूप में हरण करने में अपनी बुद्धि का उपयोग और उसमें सफलता।

(२) दूसरा विशिष्ट उदाहरण है—चेलना के गर्भ में कूणिक के आने पर महाक्रूर, अशुभ दोहद का आना। विचित्र घृणास्पद दोहद था—“मैं अपने प्राणप्रिय पति के हृदय का माँस खाऊँ।” अपनी बुद्धिमत्ता से अभय ने बिना महाराज को एक खरोंच भी पहुँचाए और बिना रानी चेलना को सन्देह का अवसर दिये, दोहद की पूर्ति की।

(३) तीसरा विशिष्ट उदाहरण तब का है, जब मेघकुमार रानी धारिणी के गर्भ में आये और रानी को दोहद उत्पन्न हुआ कि वे सज-धजकर महाराज के साथ सेचनक हस्ती पर आरूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ राजगृह नगर के राजपथों से विचरण करती हुई, नगर-जनों के अभिनन्दन को स्वीकार करती हुई वैभारगिरि पर्वत के नीचे भ्रमण करें और उस समय पाँच वर्ण के मेघों से आच्छादित गगन देखें। उनका गर्जन-तर्जन सुनें, उनके मध्य चमकती चपला देखें, उनसे जलधारा का वर्षण होते देखें।

अभयकुमार ने तपाराधन कर अपने देव-मित्र के सहयोग से माता धारिणी का यह दोहद भी पूर्ण किया।

(४) बुद्धिनिधान अभयकुमार तलवार के भी धनी थे, शूरवीर थे, पर हिंसा का रास्ता उन्हें नापसंद था। अन्याय और अत्याचार का नाश भी वे बुद्धि के प्रयोग से ही करने का प्रयत्न करते, पर ऐसा न हो पाए तो तलवार उठाने में भी नहीं हिचकिचाते थे। युद्ध टालने में भी उनकी बुद्धि निपुण थी, अतः प्रशंसा के योग्य थी।

एक बार अचानक अवन्तीपति राजा चंडप्रद्योत ने मगध पर आक्रमण कर दिया। श्रेणिक चिन्तातुर हो गये। वे रक्तपात नहीं चाहते थे। युद्ध हर तरह से विनाश का कारण था और राजा श्रेणिक इसे अच्छी तरह जानते थे। उनका विचार था कि इतना अधिक रक्तपात हो, इससे अच्छा है कि किसी भी तरह युद्ध टल जाये।

महामात्य अभय राजा श्रेणिक के विचारों से सहमत थे, पर सवाल था कि युद्ध टले कैसे? अभयकुमार ने महाराज श्रेणिक को निश्चिन्त रहने की बात कही और कहा कि वे अपने बुद्धि-बल से निश्चित ही कोई उपाय कर लेंगे, जिससे युद्ध टल जाये।

योजन बनाकर अभयकुमार ने एक विश्वस्त गुप्तचर के हाथों चंडप्रद्योत के पास एक पत्र भेजा। चंडप्रद्योत ने पत्र खोला, उसमें लिखा था कि आप भी मेरे निकट के आत्मीय-जन हैं, रिश्ते में आप मेरे मौसा लगते हैं, अतः आपके हित का विचार कर मैं आपको यह पत्र भेज रहा हूँ। आप तो जानते हैं कि राजा श्रेणिक भेदनीति में दक्ष हैं और रणनीति में अति प्रवीण। गुप्त सूचना यह है कि राजा श्रेणिक ने आपके सेनाधिकारियों को विपुल धन देकर उन्हें अपने पक्ष में कर लिया है। राजगृह में किसी प्रकार सैनिक हलचल न होने का यही कारण है।

आप इस बात का प्रमाण चाहें तो अपने सेनाधिकारियों के तम्बुओं के भीतर व आस-पास की भूमि खुदवाकर देखें।

पत्र पढ़ते ही चंडप्रद्योत का खून उबाल खाने लगा। विश्वासघात था यह उसके साथ उसी के सेनाधिकारियों का। गुप्त रूप से उसने भूमि खुदवाई तो बात सत्य निकली जहाँ बारूद की सुरंगें थीं। चंडप्रद्योत सेना लेकर, घेरा उठाकर वापस अवन्ती चला गया।

□ धर्म-छल से अभय बन्दी बना !

बंधुओं! ज्यों-ज्यों समय बीतता गया। चंडप्रद्योत की क्रोधाग्नि का तेज भी बढ़ता गया। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह सारी चाल थी और इस चाल का खिलाड़ी अभयकुमार था तब उसकी नजर में अभय जैसा धूर्त कोई अन्य नहीं था। प्रतिशोध की ज्वाला में सुलगते हुए उसने भरे दरबार में कहा—“उस महाधूर्त ने रिश्तेदारी का वास्ता देकर मुझे मूर्ख बनाया है। उस नराधम, नीच को पकड़कर जो कोई मेरी सभा में ले आयेगा, मैं उसे मालामाल कर दूँगा।”

इस कार्य को सम्पन्न करने का बीड़ा अवन्ती की एक गणिका ने उठाया। गणिका ने बहुत सोचकर जो योजना बनाई, वह धर्म के नाम पर बिछाए गये मायाजाल पर आधारित थी। कभी धूर्त लोग धर्म के नाम पर बुद्धिमान लोगों को धोखा दे देते हैं। वे धार्मिकता की ओट में उनके साथ खिलवाड़ कर लेते हैं। आज संसार में धर्म कम है और धर्म के नाम पर पाखंड, आडम्बर, प्रदर्शन और मायाजाल अधिक फैला हुआ है, इसका कारण भी यही है।

गणिका को यथेष्ट धनराशि राजकोष से लेने का अधिकार दे दिया गया। वेश्याएँ तो होती ही धन की दास हैं। उसने भी अपार धनराशि राजकोष से प्राप्त की। पूरी तैयारी कर वह अनेक दास-दासी रथों के साथ राजगृह के लिए चल पड़ी। राजगृह पहुँचकर बाहर एक उद्यान में वह ठहर गई। उसके साथ उसी के स्तर की दो और सुन्दरियाँ थीं। तीनों ने वहाँ अपने आपको धर्मनिष्ठ जैन श्राविकाओं के रूप में प्रसिद्ध किया। वे तीनों राजगृह नगर में मुनि-दर्शनार्थ जातीं, श्रमण-श्रमणी वर्ग का दर्शन करतीं, उन्हें बार-बार विधियुक्त वंदन करतीं, उनके धर्मोपदेश सुनतीं, समाधिक, उपवास, पौषध, प्रतिक्रमण आदि करतीं, विविध आध्यात्मिक विषयों पर तत्त्वचर्चाएँ करतीं। आने-जाने वाले लोग उन्हें देखते, उन्हें धर्मिष्ठ समझते, आपस में उनके विषय में वार्त्ता करते। उसके धर्माडम्बर को अभयकुमार ने भी सुना, उन्हें देखा, उनसे प्रभावित हो साधर्मिक-सेवा का लाभ प्राप्त करने की भावना से उन्हें अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रण दिया। वे यही चाहती थीं, उन्होंने और अधिक धर्म ठगाई करनी प्रारंभ कर दी।

अभिनय एवं आडम्बर कुशल गणिका ने उस दिन पर्व-तिथि पर चौविहार उपवास की बात कहकर अभय को और अधिक प्रभावित करने का प्रयास किया। हुआ भी यही। अभय ने कहा—“आज नहीं तो कल सही, पारणक का लाभ अनायास प्राप्त हो जायेगा।”

गणिका ने गंभीर बनते हुए कहा—“क्षण का भी तो भरोसा नहीं, कल किसने देखा है?”

बात ठीक थी, अतः अभय ने कहा—“मैं कल प्रातःकाल फिर आऊँगा।”

दूसरे दिन अभयकुमार वहाँ पहुँचा, आग्रहपूर्वक उन्हें अपने निवास पर लाया और उन कपट-श्राविकाओं को पूरी श्रद्धा के साथ भोजन कराया। भोजन के बाद गणिका के आग्रह पर अभयकुमार ने दूसरे दिन उसके यहाँ भोजन करने की स्वीकृति दे दी।

यही तो चाहती थी गणिका। खूब स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करवाये। मधुर पेय बनवाये। चन्द्रहास सुरा मँगवाई। चन्द्रहास सुरा-ऐसी सुरा जिसके स्वाद और गंध में सुरा होने का आभास तक न हो। उस सुरा का पेय पदार्थों में बड़ी चतुरता से मिश्रण करवाया।

समय पर अभयकुमार आया। धर्मनिष्ठ श्राविका के घर में ऐसे बड़े छल की बात तो उसके दिमाग में कैसे आती? बंधुओं! इस संसार में यही होता है। अधिकांश में मानव धार्मिक व्यवहारों और धर्म से संबंधित बातों में निर्भय, निश्शंक रहता है और उसी में अनेक बार पाखंडियों के पाखंड-जाल में उलझकर धोखे का शिकार बन जाता है। साधर्मिक-बहन समझकर अभयकुमार ने भी भोजन का आग्रह स्वीकार किया था, सर्वप्रथम मधुर पेय

पिया। फिर श्राविका बनी गणिका ने भी आग्रहपूर्वक भोजन कराया और खूब मधुर पेय पिलाया।

चन्द्रहास सुरा ने अपना प्रभाव दिखाना शुरू किया। अभय को नींद-सी आने लगी। गणिका ने आग्रह किया और वह वहीं मखमली शय्या पर सो गया। सुरा के प्रभाव से उसे गहरी नींद आ चुकी थी।

गणिका तो पहले से तैयार थी। तुरन्त अभय को बंदी बनाकर रथ में डलवाया और पवन-गति से रथ अवंती की ओर उड़ चला। अभय की तन्द्रा जब टूटी तो उसने अपने आप को चंडप्रद्योत के समक्ष एक बंदी के रूप में पाया। पलक झपकते ही उसे बात समझ में आ गई। ज्ञात हो गया उसे कि वह उन औरतों के जाल में फँस गया है, उनके आडम्बर से धोखा खा गया है, धर्म के नाम से छला गया है।

□ बन्दी अभय ने यहाँ भी दिखाए बुद्धि के चमत्कार

चंडप्रद्योत राजा के यहाँ बन्दी रहते हुए अभयकुमार ने उस राज्य की चार अनमोल, अद्भुत वस्तुओं में से तीन की हानि से राज्य को बचाया। लौहजंघ दूत को विष-मिश्रित लड्डुओं से, अनिलगिरि हाथी के मदमस्त बनकर विनाश-लीला मचाने पर उसके मद को उतारने का उपाय बताकर उस विनाश-लीला से और अवंती में हुए भयंकर अग्नि-उपद्रव से बचने का उपाय बताकर अग्नि-विनाश से।

हर बार प्रसन्न चंडप्रद्योत राजा ने अभय से कहा—“अपनी मुक्ति को छोड़ कुछ भी माँग लो।”

अभय ने यही कहा—“समय आने पर माँगूँगा, तब तक मुझे दिया गया वर-वचन आपके पास सुरक्षित रखें।”

चौथी बार जब दैवी-प्रकोप से अवंती में महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ और लोग सैकड़ों की संख्या में प्रतिदिन मरने लगे तो फिर अभयकुमार को बुलाकर महामारी से बचने का उपाय पूछा गया। अभयकुमार ने बताया कि “दैवी-प्रकोप है, शांति-जाप कराइए, सब शांत हो जायेगा।”

□ अभय ने वर के रूप में माँगीं तीन अमूल्य वस्तुएँ

इस बार भी कुछ माँगने को कहा गया तो अभय ने अपने पुराने तीन वर-वचनों की याद दिलाते हुए अनिलगिरि हाथी, लौहजंघ दूत और अग्निभीरु रथ-इन तीन अद्भुत, अमूल्य वस्तुओं की माँग कर दी।

चंडप्रद्योत कैसे देता? इनमें ही तो उसके प्राण बसे थे। कहा—“कुछ अन्य माँगो अभयकुमार! ये तीनों तो मेरे प्राण के समान हैं।”

□ प्रद्योत नहीं दे सका तो मुक्त कर दिया अभय को

अभय ने तब निर्भीक होकर कहा—“राजन् ! आप क्षत्रिय हैं, इस तरह थूककर चाटना आपको शोभा नहीं देता। फिर भी आप नहीं दे सकते ये तीन चीजें तो मुझे बंधन-मुक्त कर दीजिए, मैं आपको वर-वचन-मुक्त कर दूँगा।”

चंडप्रद्योत राजा ने विवश हो उसे बंधन-मुक्त कर दिया।

□ अभय की चुनौती

अवन्ती से राजगृह की ओर जब चला अभयकुमार तो चुनौती के स्वर में चंडप्रद्योत राजा से उसने कहा—“राजन् ! जो किया उसका फल भुगतने के लिए तैयार रहियेगा। दिन की दुपहरी में अपने आपको यहाँ का राजा बताकर तुम्हें पकड़कर सभी के समक्ष बाजार के मध्य से तुम्हें जूतों की बौछार के साथ ले जाऊँगा, नहीं कर सका ऐसा तो मेरा नाम अभयकुमार नहीं।”

□ अभयदान दोहद अतः नाम अभय

बंधुओं! वह व्यक्ति ही क्या, जो अपने कहे को क्रियान्वित नहीं कर सके। फिर वह तो अभयकुमार था। गर्भ में आने पर जिसके पुण्य के कारण माता को अभयदान का दोहद उत्पन्न हुआ था। अभयकुमार का मानना था कि एक अन्यायी को दंड देने से सैकड़ों निरपराधियों को अभय मिलता है।

□ चुनौती की क्रियान्विति—योजना

राजा श्रेणिक को पूरी बात कहकर मगध-महामात्य अभयकुमार अपनी चुनौती को क्रियान्वित करने की गुप्त योजना बनाने लगे। मगधेश को उसने सारी योजना बता दी। योजनानुसार सर्वप्रथम उसने राजा चंडप्रद्योतन की कद-काठी से मिलता-जुलता एक व्यक्ति ढूँढ़ा। उसे पागलपन का अभिनय सिखाया और बताया कि उसे क्या करना है? कैसे करना है? किन शब्दों का उच्चारण करना है? जब वह पूरी तरह ट्रेंड हो गया तो दूसरे चरण में उसे, दो सुन्दरियों और कुछ कर्मचारियों को साथ ले, स्वयं एक सेठ-वणिक का वेश धारण कर अवन्ती जा पहुँचा।

□ चंडप्रद्योत फँस गया अभय के बिछाए जाल में

अवन्ती में विशाल राजमार्ग पर बने एक विशाल भवन को उसने किराए पर लिया। योजनानुसार वे दोनों सुन्दरियाँ सज-धजकर भवन के झरोखे में बैठ जातीं। राजा चंडप्रद्योत की सवारी जब निकलती तो बहुत ही हाव-भावपूर्वक उन्हें निहारती।

राजा प्रद्योत तो वैसे ही सौन्दर्य-प्रेमी था, काम का पुतला था, वासना का दास था। फँस गया वह उन सुन्दरियों के सौन्दर्य जाल में। उसने अपनी एक विशेष चतुर दूती को उन सुन्दरियों के पास अपना प्रणय-प्रस्ताव रखने भेजा। कुछ मान, कुछ मनुहार, पहले ना फिर आधी हाँ और अंत में मान तो गई वे पर बता दिया दूती को कि हमारा यह भाई हम पर कड़ी नजर रखता है, अतः तुम जब-तब हमसे मिलती रहो, अवसर आने पर हम तुम्हें बता देंगी। दूती ने जाकर प्रद्योत से बतायी बात। प्रद्योत मन ही मन प्रसन्न हुआ कि चिड़ियाएँ जाल में फँसीं।

□ पागलपन का अभिनय

योजनानुसार अभय ने प्रद्योत जैसी कद-काठी वाले व्यक्ति से वही सब करने को कहा, जोकि उसे सिखाया गया था। वह व्यक्ति प्रतिदिन राजमार्ग पर पागलपन का अभिनय करता, उलूल-जुलूल बकता, अपने बाल नौचता, कपड़े फाड़ देता, सड़क पर बैठकर हाथ-पैर पटकता। अभय से पूछने पर अभय बताता वहाँ के लोगों को कि “मेरा भाई प्रद्योत है, पागल है, क्या करूँ?”

लोगों ने अभय से कहा—“हमारे नगर के अमुक वैद्य अत्यंत चतुर हैं। वे इसका भलीभाँति उपचार कर सकते हैं।”

योजना के अनुसार अभय उसे वैद्य के पास ले जाता पर पकड़कर नहीं अपितु पलँग पर लिटाकर, पलँग से बाँधकर, जूतों की बौछार करते हुए भरे बाजार में। पागल चिल्लाता—“अरे! मैं हूँ राजा प्रद्योत, ये मुझे बाँधकर जूते मार रहे हैं, मुझे ले जा रहे हैं, मुझे बचाओ।”

बचाता कौन? सभी जानते थे कि वही पागल है। भाई इसे वैद्य के पास लेकर जा रहा है। प्रतिदिन यही होता। न कोई पागल के चीखने-चिल्लाने पर ध्यान देता, न कोई उसे बचाने आता। कुछ दिन बाद लोगों ने भी उसमें अपनी सहभागिता आरंभ करते हुए उस पर जूतों की बौछार प्रारंभ कर दी। यह क्रम निरन्तर चलता रहा।

□ चुनौती का सफल क्रियान्वयन : चंड बंदी बना

योजना के अंतिम चरण की क्रियान्विति का समय आ गया। सुन्दरियों ने दूती से कहा कि कल हमारे भाई किसी आवश्यक कार्य से किसी अन्य ग्राम जायेंगे। अपने महाराज से कहना कि यही उपयुक्त अवसर है।

सूचना मिली राजा प्रद्योत को। तैयार था वह। दिन-दहाड़े गुप्त रूप से चला गया उस विशाल भवन में। सुन्दरियों ने प्रेम का नाटक प्रारंभ किया। संकेत मिलने पर अभय के सुभट प्रद्योत पर झपट पड़े और सुन्दरियों से प्रेमालाप करते राजा प्रद्योत को रस्सियों से कसकर पलंग पर बाँध दिया। चार सेवक हमेशा की तरह उस पलंग को लेकर राजमार्ग से निकले। प्रद्योत चिल्लाया—“अरे! मैं राजा प्रद्योत हूँ। ये मुझे बाँधकर ले जा रहे हैं, मुझे बचाओ।”

सुना सबने, हमेशा यही सुनते थे। किसी ने ध्यान नहीं दिया। जानते थे वही पागल है, उपचार के लिए वैद्य के पास ले जाया जा रहा है। नित्य की भाँति उस पर लोग जूतों की बौछार करने लगे।

□ चंड को बंधन-मुक्त कर सम्मानपूर्वक विदा किया

चारों सेवक पलग से बाँधे प्रद्योत को नगर से बाहर ले आये। एक तीव्र गति से चलने वाला रथ वहाँ पहले से तैयार था। चंड को उसमें डालकर राजगृही लाया गया और श्रेणिक राजा के समक्ष उसे उपस्थित किया गया। अभय बोला—“महाराज! मुझे धर्म के नाम से छलकर कैद करने वाला यह अवन्ती-नरेश मगध का अपराधी आपके समक्ष उपस्थित है।”

श्रेणिक तो उसे कठोर दंड देना चाहता था, पर दूरदर्शी महामात्य अभय ने अवन्ती और मगध की रिश्तेदारी का वास्ता देकर, यह कहकर कि अपराधी तो है यह पर राजा है और अभी निःशस्त्र है, अतः कठोर दंड देना उचित नहीं होगा। मुझे इसके छल का प्रत्युत्तर देना था सो दे दिया। अब मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी उदारता का परिचय दें, इसे माफ कर दें। श्रेणिक ने अभय की बात मान प्रद्योत को बंधन-मुक्त कर दिया। सम्मानस्वरूप श्रेणिक ने अपनी एक राजकुमारी की शादी भी चंडप्रद्योत से कर दी और उसे सम्मानपूर्वक विदा किया।

□ अंतिम मोक्षगामी मुकुट-बंध राजा कौन?

अभयकुमार विशाल मगध राज्य का महामात्य था और उत्तराधिकारी भी था। वह जानता था कि एक दिन वह मगधेश बनेगा, पर वह था महावीर प्रभु का समर्पित अनुयायी,

जिनवाणी का पालक, भेदविज्ञान का ज्ञाता। उसके अन्तर् चक्षु खुले थे और उनमें मोक्ष-प्राप्ति का दिव्य-दृश्य सदैव तैरता रहता था।

एक दिन अभय प्रभु के दर्शनार्थ गया। वन्दन कर धर्मदेशना सुनी। प्रभु से पृच्छा की—“प्रभु! इस आरक में अंतिम मोक्षगामी मुकुट-बंध राजा कौन होगा?”

प्रभु सस्मित बोले—“राजा उदयन!”

□ अभय का मन संयम के लिए उद्यत

बंधुओं ! उदयन राजा ने तो इस प्रश्न के पूछे जाने तक संयम-पथ अंगीकार कर लिया था और वे अब उदयन महाराज के स्थान पर उदयन मुनि कहलाते थे। अभय ने विचार किया कि ‘राजा बनूँगा तो मुक्ति नहीं, अतः राजा बनने से पूर्व ही क्यों न संयम के पथ पर अग्रसर हो जाऊँ?’

□ कहाँ अभय, कहाँ वर्तमान मानव?

कितने निर्मल, पावन, उच्च और शुभ विचार! विशाल राज्य, वैभव का स्वामी बनने वाला, पर मन में तनिक भी लोभ, आसक्तिभाव नहीं। आज किसी व्यक्ति को सत्ता के किसी पद का, किसी सरकारी नौकरी का अथवा ऐसा ही अन्य कोई लोभ दिया जाये तो शायद वह कुछ भी करने को तैयार हो जायेगा। सुनते हैं आप, पढ़ते भी हैं अखबारों में कि चुनावों में कैसे-कैसे जघन्य कृत्य किए जाते हैं? सत्ता और कुर्सी के लिए कैसे-कैसे अनीतिपूर्ण हथकण्डे अपनाये जाते हैं। रिश्वत देकर आदमी के ईमान की खरीद-फरोख्त आज साधारण बात हो गई है। गुपचुप, चोरीछुपे, सबकी नजरें बचाकर जो काम करते थे कभी, वही काम बेधड़क, खुलेआम, सबके सामने हो रहा है। अत्यल्प धनराशि, सुख-सुविधा के लिए मन की कैसी चंचलता? हँस-हँसकर पापयुक्त कर्म करता है मानव। धन्य हैं अभयकुमार जो सोचते हैं कि अब मुकुट-बंध राजा यदि दीक्षा लेकर मोक्ष नहीं जा सकता तो मैं राजा नहीं बनूँगा।

□ चाहता है दीक्षानुमति महाराज श्रेणिक से

पिता-महाराज श्रेणिक के पास आते हैं महामात्य अभयकुमार और दीक्षा लेने के विचार प्रकट कर उनकी अनुमति माँगते हैं, दीक्षा के लिए। सुनकर पिताश्री कहते हैं—“यह क्या कह रहे हो मेरे लाल! अभी तो तुम्हें राज-सुख भोगना है। पहले भोग फिर योग।”

अभय तो दृढ़-संकल्पी थे। उनके मन में तो विरक्ति का अद्भुत सुख लहराने लगा था। अतः बताया उन्होंने कि “मुझे तो संसार से विरक्ति हो गई है, मैंने तो दीक्षा लेने का पूरा निश्चय कर लिया है, आप मेरे आत्म-कल्याण में बाधक न बनें।”

□ जिस दिन कह दूँ—‘दूर हो जा मेरी नजरों से, चला जा यहाँ से’—तब दीक्षा लेना

श्रेणिक को अभय अत्यंत वल्लभ लगता था, सम्पूर्ण राज्यसत्ता और राजनीति अभयकुमार की शुभ भाव-धुरी पर धूम रही थी, अभय के होते श्रेणिक निश्चिन्त थे, अतः बोले—“पुत्र! मैं कैसे तुम्हें अनुमति दूँ। मेरे लिए तुम प्राणाधिक हो। यदि तुम दीक्षा लेने की बात पर अडिग हो तो जिस दिन मैं अपने मुख से तुम्हें कह दूँ कि “निकल जाओ यहाँ से, अपना मुँह फिर कभी मत दिखाना मुझे, कभी पुनः मेरी नजरों के सामने मत आना, उस दिन तुम दीक्षा ले लेना।”

□ अमंगल वचन, मंगल भाव

अभय से सोचा—‘इस विश्व में असंभव कुछ भी नहीं। पिता यही चाहते हैं तो ऐसा ही सही। मैं गृहस्थ रहते हुए भी अनासक्त, विरक्त ही रहूँगा। जहाँ तक मुझसे बन सकेगा, मैं अपने स्वभाव का प्रभाव डालकर अन्य-अन्य को भी सत्पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दूँगा। पापात्माओं को धर्मात्मा बनने की प्रेरणा दूँगा।’

□ किसी को भय या प्रलोभन से नहीं बदला जा सकता

कालसौरिक कसाई को जो नित्य पाँच सौ पाडे मारता था, राजा श्रेणिक ने उसे केवल एक दिन के लिए हिंसा-निवृत्त करना चाहा था, पर राजनीति के सारे उपाय करने पर भी, साम-दाम-दंड-भेद चारों कूटनीतियाँ काम लेने पर भी वह नहीं कर सका। उसे अन्धकूप में डाल दिया कि “कैसे मारेगा अब वह भैंसों को, कहाँ से लायेगा पाँच सौ पाडे मारने के लिए?” पर वाह री हिंसक-वृत्ति! कालसौरिक ने तो वहाँ भी शरीर पर जमे पसीने व मैल की बाटों के भैंसें बना बनाकर मारे और गिनता गया—एक, दो, तीन.....पचास.....सौ..... पाँच सौ! अभय ने सोचा—‘कालसौरिक को तो पिताजी हिंसक से अहिंसक नहीं बना सके, उसे एक दिन के लिए भी हिंसा-निवृत्त नहीं कर सके, पर उसका पुत्र ‘सुलस’! मैं प्रयत्न करूँ तो क्या उसे अहिंसक नहीं बना सकता, क्या उसके संस्कारों में परिवर्तन नहीं ला सकता? कालसौरिक को पूरी राजशक्ति लगाकर भी राजा नहीं बदल सका।’—यह बात अन्य लोगों के मन में विपरीत धारणा उत्पन्न करने वाली है। मेरे प्रयत्नों ने सुलस को

सुसंस्कारित बना दिया यदि तो जिन-धर्म की प्रभावना होगी, लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, एक उदाहरण बन जाएगा यह भविष्य में सद्प्रेरणा के लिए। मनुष्य के संस्कारों को बदलना सरल नहीं है। भय और प्रलोभन से भला कभी संस्कार बदले हैं? बदल भी जाएँ तो क्षणिक प्रभाव रहता है। संस्कार बदलना है, बदले हुए संस्कारों को स्थायी रखना है तो चाहिए प्रेम, सौहार्द, स्नेह और साथ ही सद् व सम्यग्ज्ञान!

□ वर्तमान पीढ़ी रूढ़ है तो छोड़ो उसे, आने वाली पीढ़ी पर ध्यान दो!

अभय ने सुलस से मित्रता की। वह राजपुत्र था, राजकुमार था, राज्य का महामंत्री था। सुलस कसाई का पुत्र था। दोनों की मित्रता का कहीं कोई जोड़ नहीं, पर अभय ने की मित्रता। सभी जिससे नफरत करते हैं, उसका चिन्तन अलग प्रकार का था वह अभय था। उसकी भावना में तो एक ही बात थी—“घृणा पाप से करो, पापी से नहीं।” मन में विचार कि बेटा बाप-जैसा न बने। दूरदर्शी था, वर्तमान में जीता और भविष्य की सोचता था। वर्तमान की पीढ़ी रूढ़ है, नहीं बदल रही है उनकी धारा तो उस पारम्परिक धारा को तोड़ दो और मोड़ दो उसे भावी की तरफ। बदल दो अगली पीढ़ी को, आने वाली सन्तानों को। चलती रही यह धारा तो अनादि से अनंत तक बहती रहेगी। तोड़ दी उसे, मोड़ दी उसकी दिशा तो अनादि से अंत के लिए तैयार हो जायेगी। आज भी इसी बात की आवश्यकता है। दादा, पिता धर्म से दूर हैं तो उन पर अधिक दबाव देने की जगह उनकी नई पौध पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यदि सुधर गई तो आने वाले समय का समाज और राष्ट्र सुन्दर, समुन्नत, सुसंस्कारित बन जायेगा तब सुख और शांति की लहरें स्वतः बहने लगेंगी।

□ अपसंस्कृति से बचने के लिए धार्मिक शिविर

गुरुदेवश्री की भी यही विचारधारा है, अतः आपश्री बालक-बालिकाओं में सुसंस्कार भरने, उन्हें नैतिक व आध्यात्मिक शिक्षा देने पर अधिक बल देते हैं। आप की ही प्रेरणा व अशीर्वाद से भारतभर के विभिन्न प्रदेशों के जैन बालक-बालिकाएँ नैतिक व संस्कार शिविरों में भाग लेकर अपसंस्कृति से बच रहे हैं। इस लक्ष्य से जयगच्छीय श्रुताचार्य स्वामीवर्य श्री चौथमल जी म. सा. ने भारत में सर्वप्रथम वि. सं. २००१, सन् १९४४ में सियाट ग्राम, जिला पाली (राज.) में सर्वप्रथम जैन धार्मिक शिक्षण शिविर की स्थापना की। वही क्रम आज तक निरन्तर चल रहा है। आज तक इन्हीं शिविरों से ज्ञानार्जन प्राप्त कर अनेकानेक शिविरार्थी विभिन्न परम्पराओं में दीक्षित हो चुके हैं।

□ सन्तति से दुःखी माता-पिता

बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ शिकायत लेकर आते हैं हमारे पास कि महाराज! हम तो दुःखी हो गये, परेशान हो गये अपनी ही सन्तान से, अपने ही पेट से। कर्हे तो किसे कर्हे? हमारी संतान हमारी जरा भी परवाह नहीं करती, सेवा नहीं करती, ध्यान नहीं रखती, हमारी सुख-सुविधा, स्वास्थ्य का। बन्धुओं! आपकी सन्तान आपकी सेवा नहीं करती तो दोष किसका? भूल कहाँ? कारण क्या? कारण है आप स्वयं। आपने उन्हें कैसे संस्कार नहीं दिये। जब पौधा कोमल था, मोड़ खा सकता था तब आपने ख्याल नहीं किया, ध्यान नहीं दिया। अब यदि वे आपका ख्याल नहीं करते, ध्यान नहीं देते तो शिकायत क्यों? संस्कार आते हैं सत्संग से। सुन्दर जीवन का निर्माण होता है संगति से। जिसको बाल्यकाल में जैसा वातावरण मिलेगा, जैसी संगति मिलेगी; जैसा उन शिशुओं को देखने-सुनने को मिलेगा बस उनमें वैसे ही संस्कार अंकुरित हो जाएँगे। वह उसी रूप में ढल जायेगा। उसका जीवन वैसे ही बन जायेगा।

□ शिविर बना वरदान

बन्धुओं! धार्मिक शिक्षण शिविर ही वह स्थल है जो अत्यल्प समय में मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों को बदल देने में सक्षम है। यह मेरा अपना अनुभव है, मेरे बचपन एवं तरुणावस्था के अनुभवों का निचोड़ है। पिछली घटनाओं को याद करता हूँ तो जीवन के अनेक मोड़ एवं उसमें सबसे अद्भुत, सबसे विचित्र वह मोड़ मेरे हृदय-पटल पर चलचित्र की तरह उभर आता है, जिसने मुझे आज यह वेष, यह बाना दिया, ये महाव्रत दिये। यदि मैं किसी ऐसे ही शिविरायोजन में भाग नहीं लेता, शिविर का शिविरार्थी नहीं बनता तो मेरे जीवन में यह आध्यात्मिक मोड़ कब आता और मैं अपने जीवन को इस संयमी-रूप में कब ले जाता।

बाल्यकाल में पिताजी (स्व. श्री मिश्रीमल जी कांकरिया) के साथ में जोधपुर स्थित सिंह पोल के जैन स्थानक में पर्युषण पर्व में होने वाले विभिन्न तप एकाशन दया पौषध आदि में भाग लेने से स्थानकवासी जैन धर्म के संस्कार जागृत थे। बचपनमें एक बार दीक्षा की प्रबल भावना भी जागृत हुई थी। परिजनों ने कहा अभी तू बहुत छोटा है। परिपक्व होने पर देखेंगे। कालान्तर में नौवीं, दसवीं में पढ़ते समय रुचि आर्य समाज की ओर हो गयी।

मित्रों की संगति से मेरी रुचि आर्य समाज की ओर बढ़ने लगी। मित्रों में ओसवाल, राजपूत, माहेश्वरी आदि सभी जाति के थे, जिनमें से अधिक आर्य समाज को मानने वाले थे। मेरा झुकाव भी आर्य समाज की ओर था कहते हैं कि आर्य समाजी उग्र विचार धारा के

पोषक होते हैं, कुछ सीमा तक बात भी सत्य है। धर्म, जाति, समाज की सुरक्षा के लिये युवकों को विशेष रूप से प्रशिक्षित करते हैं। स्थान-स्थान पर व्यायाम शालाएँ खोलते हैं, जिसमें उन्हें व्यायाम, खेल-कूद के साथ आत्मरक्षा के लिये लाठी तलवार के दावपेंच सिखाये जाते हैं। भाला बर्छी आदि से कैसे वार-प्रहार करना, प्रहार को कैसे निष्फल करना, जलती आग में कैसे कूदकर किसी को किस ढंग से बाहर निकालना आदि सिखाया जाता है। मैं इन सभी कार्यों में बढ़ चढ़कर भाग लेता था। दशहरा आदि त्यौहारों पर विशेष आयोजनों पर इसका प्रदर्शन भी होता था। कुछ मित्र मूर्तिपूजक परम्परा को मानने वाले थे उनके आग्रह से मूर्तिपूजन परम्परा के संस्कार शिविरों में भी जाने लगा। वहाँ पर कुछ तपस्याएँ भी की। मूर्तिपूजक परम्परा के दो-तीन शिविरों में भाग लिया था।

□ मातृश्री के साथ संत-दर्शन

संयोगवश परम पूज्य गुरुदेव आचार्य भगवंत श्री श्री १००८ श्री लालचन्द जी म. सा. (अब स्वर्गीय) का जोधपुर आगमन हुआ। वे अत्यधिक अस्वस्थ थे। उन्हें चिकित्सार्थ लाया गया था। गुरुदेवश्री को कॉटेज वार्ड में दाखिला मिला। मेरी मातृश्री तब उनके दर्शनार्थ गईं और कोई साथ जाने वाला था नहीं, अतः उनके साथ मैं ही चला गया वहाँ। स्थानकवासी जैन-सन्तों के प्रति मेरे मन में विशेष भावना नहीं थी। कॉलेज में जाने के बाद कभी उनके पास गया ही नहीं। कभी जाने की इच्छा भी नहीं हुई। आज अस्पताल तो चला आया। गुरुदेव कॉटेज वार्ड के कमरे में थे। मैं उनके पास जाना नहीं चाहता था। जैन-सन्तों के दर्शन करने की तब मेरे मन में कोई लालसा नहीं थी। मैं कमरे के बाहर ही ठहर गया। बाहर ही गैलरी में श्रद्धेय गुरुदेव श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. (उपाध्याय) खड़े थे। मुझे देखा। पुकारकर पास बुलाया। मैं गया, पर मन में संकोच था। हाथ जोड़कर सिर झुका दिया, जैसे वन्दन कर रहा होऊँ। मुनिश्री ने नाम, पिता का नाम, सांसारिक शिक्षा, धार्मिक ज्ञान आदि की बातें पूछनी शुरू कीं। धार्मिक ज्ञान की बात पर मैं शर्म से गड़ गया। बड़ी मुश्किल से मैंने बहुत धीमे स्वर में कहा—“मुझे सिर्फ आधा-अधूरा सामायिक सूत्र आता है।” शेष तो मूर्तिपूजक परम्परा के शिविरों में जाने के कारण पूजा विधि-विधान आते हैं।

□ आध्यात्मिक शिविर का प्रथम अनुभव

उस दिन गुरुदेवश्री ने कुछ ज्ञान-ध्यान सीखने, जैनेलॉजी की ओर झुकने, जैन-विद्या की ओर रुचि बढ़ाने की प्रेरणा दी। संयोग ऐसा बना कि एक वर्ष बाद महामन्दिर में धार्मिक शिक्षण-शिविर का आयोजन निश्चित हो गया। मेरी शिविर में जाने की तब भी

कोई आकांक्षा नहीं थी, किन्तु परमोपकारी गुरुवर वस्तुतः लोकोपकारक हैं, जगत् का कल्याण करने वाले हैं। आपने शिविर में आने हेतु प्रबल प्रेरणा दी। मैं विचारों के द्वंद्व में डूबता-उतरता दो दिन बाद वहाँ शिविर में प्रवेशार्थ गया वहाँ। परम कृपालु गुरुवर ने दो दिन व्यतीत हो जाने पर भी मुझे शिविर में सम्मिलित होने की अनुमति दे दी।

मेरा इस तरह के शिविर का स्थानकवासी परम्परा में प्रथम अनुभव था। नया-नया था मैं, अजनबी थे सब मेरे लिए, पर पहले ही शिविर में गुरु-भगवन्तों ने आत्मीयता से अध्ययन कराया।

□ अन्तर्-जागृति

बन्धुओं! रुचि दो तरफ से जागृत होती है। एक—“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।” और दूसरे—“तन्निसर्गादधिगमाद्वा।” एक में तत्त्व एवं उसके अर्थ के प्रति स्वतः श्रद्धा होने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, जबकि दूसरे में अधिगम के, प्रेरक के, निमित्त के मिलने से श्रद्धा आती है।

मेरे अंतर् के किसी कोने में उस प्रथम शिविर में आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति रुचि जागृत हुई, तो वह बढ़ती ही चली गई। इस रुचि के प्रेरक थे गुरुदेव श्री उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा.।

मेरे जैसे अनेक शिविरार्थी थे, जिनकी भी ऐसी रुचि जागृत हुई और जिनकी रुचि जागृत हुई, उनकी नींद छूट गई, खेलना बंद हो गया, खाने-पीने की सुध तक बिसर गई, उनकी! दिन-रात में मात्र २ या ३ घंटे नींद। प्रातः नाश्ते के लिए सूचना मिलती तो कह देते—“हमें नहीं चाहिए।”

इसका सुपरिणाम भी मिला। परीक्षा हुई तो कक्षा में द्वितीय स्थान पर रहा मैं और पूरे शिविर में तृतीय स्थान पर। शिविर के पश्चात् भी रुचि बनी रही। मैं जैन-विद्या, जैन-दर्शन, जैन-विज्ञान, जैन-धर्म के प्रति आकर्षित होता चला गया।

□ अध्यात्म-जीवन के लिए मेरा जिज्ञासु बना मन

आगामी शिविर में मैं अकेला नहीं गया, अपितु अपने कुछ मित्रों को भी प्रेरणा देकर साथ ले गया। ब्यावर के निकट जवाजा ग्राम में आयोजित किया गया था वह शिविर। ज्ञान-ध्यान में समग्र रूप से एकाग्र बन पूर्ण रुचि से सीखने लगा और साथ ही चिन्तन-मनन भी करता रहा। कक्षा में तब प्रथम स्थान पाया था।

उसी शिविर में गुरुदेवों ने संसार की नश्वरता पर, मोह-माया के विकट बंधन पर, कर्म-स्वरूप पर और भव-भ्रमण के कारणों पर अनेक प्रवचन दिये। कहा था एक बार गुरुदेवश्री ने कि “संसार के प्राणी घर-परिवार, भोजन, ऐश-आराम में सुख मानते हैं। आज का मानव धन, व्यवसाय, पत्नी, पुत्र आदि में सुख मानता है। किसी का सुख सत्ता की कुर्सी है तो कोई उच्च राज्य-सेवा में सुख मान रहा है, पर वस्तुतः इनमें से किसी में सुख नहीं है। भौतिक सुख का सम्बन्ध जब तक बाह्य पदार्थों से है, वह सुख नहीं होता। क्योंकि ज्यों ही इन बाह्य पदार्थों से बिछोह होता है, दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। अतः सच्चा सुख धर्ममय जीवन में है, आत्मा की आध्यात्मिकता में है, इन्द्रियों व मन के संयम में है।”

व्यक्ति अनेक बार अनेक बातें सुनता है, पर सभी बातें उसके अंतर् में नहीं बैठतीं। वह कभी कुछ बातों को पकड़ता है, पर अधिकांश को छोड़ देता है।

गुरुदेवों के प्रवचनों को सुनकर मैं बहुधा चिन्तन में उतर जाता कि “क्या अध्यात्म जीवन ही सच्चा सुख है? क्या ये गुरुदेव, मुनि, संयमी सच्चे सुखी प्राणी हैं? क्या मुझे इसी पथ की तलाश है? क्या मुझे अध्यात्म जीवन में प्रवेश लेना चाहिए?”

□ विरक्ति और संयम-पथ

अगले कुछ शिविरों में प्रवचनों में रुचि व अध्यात्म-पथ का चिन्तन बढ़ता गया। बंधुओं! लगभग छह शिविरों में भाग लिया था मैंने। प्रत्येक शिविर में वृद्धि पाते मेरे आध्यात्मिक चिन्तन और शुभ धर्म भावना के कारण मेरी विराग-रुचि जागृत बनी, विकसित हुई और अन्त में भाव-प्राबल्य पाकर मैं चल पड़ा संयम की डगर पर।

दीक्षा के पश्चात् भी गुरुवरश्री की निरन्तर प्रेरणा मिलती रही। माउंट आबू में आयोजित आध्यात्मिक ज्ञान-ध्यान संस्कार शिविर को बालक-बालिकाओं में सुसंस्कार विकसित करने वाला सफलतम शिविर बनाया उन लोगों ने, जिन्होंने उसे निकट से देखा।

□ सुलस (कसाई) और अभयकुमार बन गये मित्र

अभयकुमार ने भी बाल या युवा मन को संस्कारित करने की भावना से सुलस को अपना मित्र बनाया।

सुलस से मित्रता की, जब-तब मिलता उससे, बातें करता उससे। बातों ही बातों में कभी जीव-अजीव तो कभी पुण्य-पाप का विषय छेड़ बैठता। समझाता उसे कि जीव स्वयं कर्म

अर्जित करता है और शुभाशुभ जैसे कर्मबंध करता है उनका परिणाम भी उसे ही भोगना पड़ता है। हिंसा, असत्य, चौर्य-कर्म आदि के कटु फलों का वर्णन करता। प्रभु महावीर के दर्शन हेतु ले जाता, उनकी वाणी सुनने की प्रेरणा देकर प्रभु-देशना सुनने अपने साथ लेकर जाता।

बंधुओं! मित्र तो आप भी बनाते हैं, पर धर्म-पथ के लिए नहीं, पाप-पथ के लिए। पिकनिक पर जाना हो, पिकचर देखनी हो, ताश-चौपड़ खेलनी हो तो साथ चाहिए और साथ मिल भी जायेगा। आपसे भी कोई कहे तो आप क्या मना करेंगे?

□ मित्रता में छुपी थी मित्र के कल्याण की भावना

अभय की मित्रता से सुलस ने पवित्रता का आभास पाया, सत्पथ का स्पर्श पाया। वह मन ही मन हिंसा को घृणात्मक समझने लगा। उसमें परिवर्तन आया, उसके अंतर् में जागृति की नहीं चिनगारी सुलगी। उसने अपने मन में एक दृढ़ संकल्प ग्रहण किया—“मैं अपने पितृवर का अपना पैतृक धंधा जीव-हत्या एवं माँस-बिक्री का यह घृणित पापानुबंधी धंधा कदापि नहीं करूँगा। अपनी आजीविका के लिए मैं कोई ऐसा अन्य धन्धा करूँगा, जिसमें हिंसा का नामोनिशान न हो।”

□ कालसौरिक को इन्द्रिय-विपर्यास रोग

इन्हीं दिनों कालसौरिक को रुग्णता ने आ घेरा। रोग भी ऐसा-वैसा नहीं, महाभयंकर रोग। वैद्य जिसे इन्द्रिय विषय-विपर्यास का नाम देते हैं। वैद्यों ने उसका बहुत उपचार किया पर—‘मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।’ वैद्यों ने हाथ छिटक दिये। कह दिया—“अब उपचार व्यर्थ है। अंतिम घड़ी आ गई है।”

सुलस ने दिन-रात पिता की सेवा की, अच्छे से अच्छे वैद्य को बुलाया। महँगी से महँगी दवाइयाँ दीं, पर तीव्र पाप का, अशुभ कर्मों का उदय था। उसे प्यास लगती तो सुलस शीतल, सुगंधित, मधुर जल पिलाता। कालसौरिक एक घूँट भरता और थूक देता। चिल्लाता वह—“अरे दुष्ट! मैंने तो शीतल जल पिलाने को कहा था, तू यह तेजाब कहाँ से उठा लाया! तू मेरा बेटा है कि दुश्मन!” भूख लगती कालसौरिक को तो वह स्वादिष्ट खाना माँगता। सुलस बढ़िया-बढ़िया पकवान थाल सजाकर ले जाता। कालसौरिक एक कौर लेता और उगल देता बाहर। गला फाड़-फाड़कर कहता—“अरे नालायक! नहीं कुछ खिलाना था तो नहीं खिलाता, पर यह ऐसा कडुआ, जहरीला भोजन क्यों लाया?” और वह थाली फेंक देता। बदन में अपार जलन

होती। वह पीड़ा से चीखता-चिल्लाता। सुलस उसके पूरे शरीर पर चंदन घिसकर लेपन करता तो कालसौरिक कहता—“यह क्या लगाया है? कैसी तीव्र दुर्गंध है इसकी? सिर फटा जा रहा है इसकी दुर्गंध से। रोम-रोम जल उठा है मेरा। पहले से जलन और अधिक बढ़ गई है।” उसे मखमल की तरह मुलायम शय्या पर लिटाया जाता तो वह चीखता—“अरे, मुझे काँटों पर क्यों डाल दिया है, मुझे हटाओ यहाँ से, मैं मर जाऊँगा।”

□ विषय-विपरीत चिकित्सा से मिली शांति

बंधुओं ! जिन-जिन इन्द्रियों के जो-जो भी प्रिय विषय थे, वे उसे अप्रिय, दुःखदायी, कष्टकर लग रहे थे। सुलस नहीं समझ पाया कि आखिर ये सब क्या है? क्यों हो रहा है ऐसा?

सुलस अपने मित्रवर अभय के पास आया। पिता की बीमारी की सारी बात बताई। अभय तो जानता था कि उसके तीव्र पापकर्मों का उदय हो गया। अभयकुमार ने बताया सुलस को—पाँच इन्द्रियाँ, उनके तेवीस विषय। रोग ऐसा कि इन्द्रिय-विषय विपरीत अनुभव देते। तीव्र पापोदय में ऐसा रोग उत्पन्न होता है।

सुलस बोला—“यह तो ठीक है, पर अब करना क्या? पिता को शांति कैसे प्राप्त होगी?”

अभय ने कहा—“मित्र! तुम्हारे पिता मृत्यु-शय्या पर हैं। अत्यधिक हिंसक-प्रवृत्ति तथा अपने पापकर्मों के कारण उनका नरकानुबंध तो निश्चित है। इस समय उन्हें पूर्व अशुभ कर्मबंध का दारुण फल मिल रहा है। इन्द्रियों का पोषण इस समय उनको सुहायेगा नहीं, अतः जब वे शीतल जल माँगें, तुम उन्हें गटर का दुर्गन्धित और उबलता गर्म पानी पिलाओ, चन्दन के लेप की जगह विष्ठा का लेपन करवाओ, मुलायम शय्या पर सुलाने की जगह उन्हें काँटों की बाड़ पर सुलाओ।”

सुनकर सुलस ने कहा—“अभय! क्या यह तुम्हीं हो? मेरे मित्र होकर ये कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हो? कोई दुश्मन भी होता तो ऐसी सलाह कदापि नहीं देता।”

अभय ने कहा—“मित्र! कोई दुश्मन भले ही ऐसी बात न करे पर मैंने जो कहा है, वह वस्तुतः तुम्हारे पिता की व्यथा को शांत करने का सही उपाय है। तुम एक बार इस तरह का प्रयोग तो करो। प्रयास करने में क्या जाता है? कभी-कभी विष की औषधि स्वयं विष ही होता है।”

सुलस को वैसे भी अभय पर विश्वास था। अब उसने निश्चय कर लिया कि प्रयोग के तौर पर ही सही, वह ऐसा ही करेगा।

□ मिथ्यात्व हो तो सभी धारणाएँ विपरीत

घर आया। माँगाया गटर का गंदा, दुर्गन्धित पानी, उबाला उसे और एकदम उबलता पानी पिलाया शीतल जल माँगने पर पिता को। उस पानी को पीकर कालसौरिक के चेहरे पर शांति नजर आई। बोला—“पुत्र! तू कहाँ गया था इतने दिन? ऐसा शीतल, मधुर पानी पहले क्यों नहीं पिलाया।”

पुत्र ने विष्ठा का लेपन किया पिता के अंग-अंग पर, बड़ी शांति, बड़ा चैन मिला। बोला वह—“वाह! कितनी शांति मिली है आज? काश! पहले कभी ऐसा लेप किया होता!”

काँटों की बाड़ पर पटका उसे तो लगा कालसौरिक को जैसे मखमली मोटे गद्दे पर डाल दिया है। आनन्द की अनुभूति करते हुए कहा—“आज भरपूर नींद आयेगी। खूब सोऊँगा मैं आज। कितने आराम का बिस्तर है।”

बंधुओं! तीव्र मिथ्यात्व का उदय था। मिथ्यात्व में सारी धारणाएँ, सारे अनुभव, सारे निष्कर्ष विपरीत होते हैं।

□ कालसौरिक की मृत्यु पर सुलस का संकल्प

कालसौरिक सचमुच भरपूर नींद में सोया, ऐसी नींद कि फिर कभी उठा ही नहीं। मरकर कालसौरिक का जीव सातवीं नरक में गया।

पिता का अंतिम कार्य करते हुए सुलस ने दृढ़ संकल्प लिया कि वह पापों से सदैव दूर रहने का प्रयास करेगा, अति आरंभ वाला धंधा नहीं करेगा, पिता के पद-चिह्नों पर तो कदापि नहीं चलेगा। देख लिया और जान लिया उसने कि पाप का फल कितना भयंकर होता है।

□ इधर संकल्प, उधर दबाव

अल्पारंभी और अल्प पाप-प्रवृत्ति के लिए दृढ़ संकल्पित सुलस का परिवार, स्वजन, परिजन आदि उसके पिता की मृत्यु पर एकत्रित हुए। बारह दिन व्यतीत होने व सभी अंतिम कार्य सम्पन्न कर लेने पर उन सभी ने सुलस पर पिता का व्यवसाय पुनः प्रारंभ करने का दबाव डाला। सभी ने कहा—“बेटे को बाप से बढ़-चढ़कर होना चाहिए। बाप प्रतिदिन पाँच सौ (५००) भैंसे मारता था, तुम्हें यह संख्या बढ़ानी है, तभी तुम अपने पिता की कीर्ति बढ़ा सकोगे!”

□ वस्तुतः अभिजात कौन ?

बंधुओं ! यह तो सही है कि पुत्र को पिता से आगे निकलना चाहिए, पर किस बात में ? पाप-कार्यों में नहीं। पाप-कार्यों में पिता से आगे बढ़ता है पुत्र तो वह पिता के नाम को डुबोता है, अधम कहलाता है। कल्याणकारी प्रवृत्तियों में पिता से आगे बढ़ता है तो वह अभिजात कहलाता है, पिता-माता व वंश के यश में वृद्धि करता है।

□ तुम्हारे पाप में हमारा भी हिस्सा

सुलस अपने संकल्प में दृढ़ है। उसके मन में कोई विकल्प नहीं। सोच रहा था वह कि इन सबको कैसे समझाया जाए ? एक बुजुर्ग परिजन ने उसके हाथ में छुरा दे दिया। सामने भैंसे (पाडे) को लाकर खड़ा कर दिया। सभी के स्वर से एक ही बात—“करो शुरू! चलाओ छुरा!”

सुलस बोला—“इन मूक, निरीह प्राणियों का अपने व्यवसाय के लिए वध करना तो पाप है। इनमें भी जीव है। ये भी हमारी तरह सुख-दुःख अनुभव करते हैं। मैं यह पाप बढ़ाने वाला धंधा नहीं करूँगा। मैं कोई अन्य धन्धा करूँगा जिसमें हिंसा की पापकारी प्रवृत्ति न हो।”

एक परिजन यह सुनकर हँस पड़ा और जोर से बोला—“भई, यह छोरा तो गया काम से। इसे तो महामंत्री जी का रंग लग गया। ये क्या धंधा कर सकेगा ? भूखों मरेगा यह तो!”

एक अन्य ने सुलस को समझाते हुए कहा—“देखो सुलस! हमारी जाति का यही धंधा है। अपने धंधे को करते हुए कोई पाप-वाप नहीं। यदि लगेगा पाप तो हम सभी हैं न यहाँ। हम बाँट लेंगे तुम्हारे पाप को। पाँच-पाँच तोले भी लेंगे तो तुम्हारा बोझ तो हल्का हो ही जायेगा। चलाओ अब यह छुरा, ज्यादा धर्म का ढोंग मत दिखाओ।”

□ छुरा तो चला पर अपनी ही जंघा पर

सुलस समझ नहीं पा रहा था कि कैसे इन्हें समझाए ? कोई अन्य उपाय न देख उसने मन ही मन एक कठोर निर्णय लिया। छुरे वाले हाथ को ऊपर उठाया। देखा वहाँ सभी ने तो सभी के चेहरे चमक उठे—“आखिर हमारे समझाने का कुछ तो असर हुआ। अब ये छुरा चलेगा और एक के बाद एक पाडों का गला कटता चला जायेगा।”

सुलह आगे कदम बढ़ाता है, सभी की प्रसन्नता में और वृद्धि हो जाती है। उनकी प्रसन्नता में उनकी स्वार्थभावना रहती है। स्वार्थ यह कि एक घर, एक परिवार बढ़ेगा। उनके व्यवसाय

की वृद्धि होगी। क्रय-विक्रय, लेन-देन चलेगा। यह स्वार्थ केवल पाप करता ही नहीं, करवाता भी है और करने वाले का अनुमोदन भी दिलवाता है।

सुलस का खंजर वाला हाथ ऊपर उठा हुआ, एक कदम आगे बढ़ाया हुआ और अचानक 'खच्च' की आवाज के साथ खंजर (छुरा) चल जाता है। एक क्षण, केवल एक क्षण में जो घटित होता है उसे देख सभी चकित, स्तंभित, किंकर्तव्यमूढ़ ! छुरा पाडे पर नहीं गिरा, सुलस ने उसे अपनी जाँघ पर गिराया, 'खच्च' की आवाज के साथ उसकी जाँघ के माँस-पिण्ड का एक बड़ा हिस्सा जाँघ से कट गया। सुलस चीखा, हाय-त्राय करने लगा, दर्द से बिलखने लगा और खंजर फेंक दोनों हाथों से जाँघ पकड़कर बैठ गया।

□ अपने किए को आप भुगतो

“अरे मूर्ख ! यह क्या कर डाला। मारना पाडे को था, अपनी जाँघ क्यों काट डाली ? अब रोने-चिल्लाने से क्या फायदा ? जो किया, उसे भुगत।” —किसी सयाने ने सुलस से कहा।

“बहुत दर्द हो रहा है, कोई तो मेरा दर्द बाँटने के लिए आगे आओ। आप लोग थोड़ा-थोड़ा बाँट लो तो मेरा दर्द कम हो जायेगा।” —सुलस बोला।

“रहे तुम मूर्ख के मूर्ख ही ! अरे दर्द भी कहीं बाँटा जाता है। हमने जो बात कही वह तुम्हें अपने व्यवसाय में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करने की दृष्टि से कही। अब अपने किए को आप भुगतो, सहो इस दर्द को।” उसी व्यक्ति ने सुलस को कह दिया।

□ साधक सचेत रहें

साधना के पथ पर अग्रसर प्रत्येक साधक को इस बात का विशेष ध्यान रखना है कि जिसने जैसा किया, उसे वैसा भुगतना ही पड़ेगा। 'करे कोई, भरे कोई'—यह कभी हुआ नहीं और आगे कभी होगा नहीं। ध्यान रखें यदि इस बात का, तो साधक कभी तीव्र पाप-क्रियाओं में भाग नहीं लेगा।

□ श्रावक-श्राविकाएँ भी सचेत बनें

बंधुओं ! आज आप घर-संसार में रहकर सात पीढ़ी तक की बात सोचते हैं, दिन-रात घाणी के बैल की तरह जुटकर भी आने वाली पीढ़ियों के लिए कुछ संचित करना चाहते हैं, उनके लिए कुछ छोड़कर जाना चाहते हैं और लगे रहते हैं ऐसे कार्यों में जो पाप की गिनती में आते हैं। नैतिकता का दामन त्यागकर, ईमानदारी को ताक पर रखकर बस एक लक्ष्य होता

है कि जैसे-तैसे भी हो, धन आना चाहिए, लाभ होना चाहिए, आय में वृद्धि होनी चाहिए। याद रखियेगा, आज के बाद हर पल, हर क्षण कि जो पाप आप कर रहे हैं, आगे की पीढ़ियों के लिए उनका परिणाम केवल आपको भोगना है, परिणाम भोगने में कोई भी सहयोगी बनने वाला नहीं है।

□ जो आपने किया, भोगेंगे वह आप ही, लाखों भवों के बाद भी

कर्म आप बाँधेंगे तो आपको ही भोगने पड़ेंगे। इस भव में नहीं तो अगले भव में, अगले भव में नहीं तो उससे अगले भव में, उसमें भी नहीं तो और आगे भोगना आपको ही है। निन्यानवे लाख भव पूर्व किए पापकर्म को भी भोगने का उल्लेख आपने सुना है, गजसुकुमाल मुनिवर के प्रसंग में। निश्चित है पापकर्म तब तक पीछ नहीं छोड़ेंगे, जब तक उन्हें भोगा नहीं जायेगा।

□ दर्द नहीं बँटता तो पाप क्या बँटेगा?

बंधुओं! सुलस ने जब सुना कि “दर्द भी कहीं बाँटा जाता है, तुम्हारी तुम भुगतो।” तो वह बरबस मुस्करा दिया। यही तो सुनना चाहता था वह। उसने सभी को सम्बोधित करते हुए कहा—“जब आप लोग शरीर का यह साधारण-सा दर्द नहीं बाँट सकते, घाव मैंने लगाया, अतः मुझे ही भोगना है तो जो पापकर्म मैं करूँगा, दारुण दुःखदायी फल में आप क्या हिस्सा बँटायेंगे, वे भी तो मुझे ही भोगने पड़ेंगे।”

□ सुलस का संकल्प कथन

मेरा यह दृढ़ संकल्प है कि “मैं हिंसात्मक व्यवसाय नहीं करूँगा, पाप का बोझा एकत्रित नहीं करूँगा, निरीह-मूक पशु-वध करना मैं आत्महत्या के समान समझता हूँ, कृपया आप सभी मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें।”

एकत्रित स्व-परिजन अपने-अपने घर गये। पारिवारिक सदस्यों ने सुलस को अयोग्य और नाकारा मानकर घर-परिवार से निकाल दिया।

□ सुलस अब पूणिया श्रावक बना

सुलस भी तो यही चाहता था। वह अपनों से अलग रहने लगा। मन-मस्तिष्क में चिन्तन चल रहा था उसके कि क्या कार्य करूँ, पेट पालन के लिए? कौन-सा ऐसा धंधा करूँ जो निर्दोष हो, जिसमें अत्यल्प आरंभ, अत्यल्प पाप लगे। अभय ने सलाह दी—“बंधु ! तुम रूई खरीदकर उसकी पूणिया बनाओ और उन पूर्णियों को बेचकर अपनी आजीविका चलाओ।”

मान गया सुलस। रुई की पूणिया बनाकर बेचने लगा। श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। प्रभु की धर्मसभा में निरन्तर जाने लगा। धर्म के मर्म को, जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को, कर्म-प्रकृति को जानकर उसने गृहस्थ धर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार को धर्ममय बना लिया। रुई की पूणिया बनाकर बेचने के कारण लोग उसे पूणिया श्रावक कहने लगे। इसी पूणिया की एक सामायिक खरीदने के लिये कहा था, प्रभु महावीर ने, राजा श्रेणिक को नरकगति का बंध तोड़ने के लिए इसी पूणिया श्रावक की एक सामायिक की केवल दलाली की कीमत बताई प्रभु महावीर ने श्रेणिक का समस्त राज्य, वैभव, धन। कहा था प्रभु ने कि उस सामायिक को क्रय करने की बात तो दूर, तुम्हारा समस्त राज्य-वैभव उस सामायिक की खरीदी की दलाली के लिए भी कम है।

□ इसे कहते हैं—‘संगत की रंगत’

बंधुओं ! कितना अद्भुत फल मिला अभय के संग का ! समझ लीजिए नरक में जाने की तैयारी में रत एक जीव को अपनी संगत की रंगत चढ़ाकर स्वर्ग और मोक्ष पहुँचाने का पथ बतला दिया अभयकुमार ने।

क्या था पूणिया श्रावक की सामायिक में? प्रभु महावीर के एक लाख उनसठ हजार (१,५९,०००) व्रती श्रावक थे और तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००) व्रती श्राविकाएँ। क्योंकि प्रभु ने पूणिया श्रावक की सामायिक की ऐसी प्रशंसा? आप भी सामायिक करते हैं, प्रभु महावीर के श्रावक-श्राविकाएँ भी सामायिक करते थे। वे ही उपकरण, वही विधि, वही स्वाध्याय, उतना ही साधना-समय। फिर क्या विशिष्टता रही होगी?

□ शुद्ध सामायिक के लिए पूर्व भूमिका शुद्ध चाहिए

बंधुओं ! द्रव्य सामायिक की दृष्टि से सामाजिक की कीमत नहीं आँकी जाती, इस दृष्टि से तो उसका मूल्य नगण्य और लगभग सभी की सामायिक के समान है। अन्तर है पूर्व भूमिका का, फाउण्डेशन (Foundation) का। पूणिया श्रावक की फाउण्डेशन या आधार-भूमि शुद्ध थी। कैसे बनती है फाउण्डेशन शुद्ध? बताया गया है—“चार प्रकार के धर्म को धारण करने से फाउण्डेशन शुद्ध बनती है।” वे चार प्रकार के धर्म हैं—(१) दान, (२) शील, (३) तप, और (४) भावना। जिसकी फाउण्डेशन शुद्ध, उसकी सामायिक भी सच्ची।

□ पूर्व भूमिका अशुद्ध तो प्रतिफल—नगण्य

प्रतिदिन सामायिक का नियम है, पाँच-पाँच, सात-सात और उससे अधिक सामायिकों की साधना भी कई व्यक्ति कर लेते हैं। डायरियों व नोट-बुकों में प्रतिदिन की सामायिकें दर्ज करते हैं। अनेक नोट-बुके भर दी जाती हैं, आलमारी का एक पूरा खाना ऐसी भरी हुई नोट-बुकों से परिपूर्ण है, पर यदि समत्व का प्रकटीकरण नहीं, भाव-भूमि में शुद्धता नहीं तो इतनी सारी सामायिक साधना आपकी गिनती में तो हैं, पर धर्मकरणी की गिनती, निर्जरा फल-प्राप्ति की गिनती में अत्यल्प हैं।

□ पूणिया की सामायिक की पूर्व भूमिका पर एक नजर—दान

फाउण्डेशन की शुद्धि कैसे की जाय? आप इस बात को जानना चाहते हैं तो पूणिया श्रावक की फाउण्डेशन कैसी थी, उसे सुनकर ध्यान में ले लीजिए। सर्वप्रथम लेते हैं दान की बात। पूणिया श्रावक का नियम था—घर आए हुए साधर्मिक की सेवा करने का। संकल्प यह कि किसी साधर्मिक की सेवा, उसका सत्कार नहीं करूँ, उसे खिलाऊँ-पिलाऊँ नहीं तब तक अन्न का दाना भी मुँह में नहीं डालूँगा। यह था धर्म और धर्मी के प्रति आदर का, समर्पण का भाव। इसी से धर्म-भावना और प्रभावना बढ़ती है।

प्रभु ने अपने श्रीमुख से जिसकी सामायिक का बखान किया, उसका महत्त्व इतना बढ़ा कि अन्य लोग उनके घर, उनकी सामायिक देखने जाने लगे। प्रारंभ में तो कुछ ही लोग आते पर धीरे-धीरे संख्या बढ़ने लगी। उनके तो नियम कि जो भी साधर्मिक भाई आये उसे बिना खिलाए जाने नहीं देना।

□ सावधान ! साधर्मिक बंधुओं के लिए कभी अशुभ विचार मत लाना

पूणिया श्रावक जी की धर्मपत्नी ने जब देखा कि आने वाले लोग बहुत बढ़ गये हैं और सभी के लिए खाना बनाना पड़ता है, सभी को खिलाना पड़ता है। स्त्री-बुद्धि थी, अतः उसी के अनुसार भाव भी बन गये कि ये सामायिक देखने क्या आते हैं, ये तो बस खाना खाने आते हैं! आय कम और आय से व्यय में वृद्धि हो रही है। बताया श्रावक जी को! पूणिया श्रावक ने कहा—“क्या कह रही हो, किनके लिए कह रही हो तुम? अपने विचारों को बदलो, असत् से सत् की ओर आओ। रही व्यय के आधिक्य की बात तो घर के पीछे जो नोहरा है उसे बेच देंगे और सुनो! खबरदार, कभी भी आने वाले साधर्मिक बंधुओं के लिए किसी प्रकार का अशुभ विचार अब मत करना!”

श्राविका की आँखें खुल गई, उसका हृदय पुनः शुभ भाव-धारा में बहने लगा। उसने पतिदेव से क्षमायाचना की और निवेदन किया कि “नोहरा तो फिर कभी बेचा जा सकता है। मेरे ये गहने, ये स्वर्ण-आभूषण व्यर्थ हैं। पहले इन्हें बेच डालिए।”

सौभाग्य-सूचक सुहाग-चिह्नों के अतिरिक्त श्राविका अपने सारे गहने दे देती है।

□ खिलाकर जताया तो पानी फिर गया

पूणिया श्रावक ने कहा—“हमारे घर आया हुआ साधर्मिक यदि भूखा वापस चला जाता है अथवा उसे खिलाया-पिलाया भी पर गिना दिया, जता दिया कि हम तुम्हें भोजन खिला रहे हैं या कह दिया कहीं कि अमुक-अमुक अथवा इतने लोगों ने हमारे घर खाना खाया तो समझ लो सारे किए-कराए पर पानी फिर गया।”

□ जैसा स्वयं खाते, वही अतिथि को खिलाते

बिक गये गहने, कुछ दिन बाद बिका नोहरा भी। समय आता रहा, जाता रहा। संख्या बढ़ती गई आने वालों की। नियम तो नियम था। मन की भावना भी शुभ और शुद्ध। यह नहीं कि नियम है तो जैसे-तैसे नियम का घसीटा निकालना है। खिला दिया कुछ भी आने वालों को, कच्चा-पक्का, सस्ता-अस्वाद वाला। नहीं! जैसा वे पति-पत्नी स्वयं खाते, वैसा और वही आने वालों को परोसा जाता था। ‘स्वयं तरमतर मालपुए और आने वाले को लूखा।’—यह रीत नहीं चलाई उन्होंने।

□ अतिथि-सेवा के लिए दोनों का एकान्तर तप

और बढ़ गये आने वाले। नियम था व्यापार बढ़ाना नहीं। क्या करना? आपस में सलाह-मसविरा किया दोनों ने। पत्नी ने कहा—“अनाज आदि सीमित मात्रा में है, अतः मैं एक दिन उपवास और एक दिन भोजन करना प्रारंभ कर देती हूँ, इससे अतिथि तो खाली नहीं जाएँगे। उपवास के दिन का बचा हुआ अन्न अतिथि के काम आ जायेगा।”

पत्नी की बात सुन पूणिया श्रावक बोला—“तुम ठीक कहती हो। मैं भी एक दिन उपवास और एक दिन भोजन का क्रम बना लेता हूँ। साधर्मिक-सेवा का नियम चलता रहेगा।”

□ विवेक नहीं तो धर्म नहीं, तप नहीं, दान का फल भी नहीं

एकान्तर प्रारंभ कर दिये दोनों ने, पर अतिथि-सेवा, साधर्मिक-वात्सल्य को छोड़ा नहीं। जीवनभर एकान्तर चला उनके। उसमें भी विवेक कितना? आप में से कोई पति-पत्नी दोनों

एकान्तर करें तो साथ-साथ करेंगे। उसमें विचारधारा यह कि चलो एक दिन तो चूल्हा बिल्कुल बंद रहेगा। कामकाज से छुट्टी। वे दोनों विचार करते हैं—यदि दोनों साथ उपवास करते हैं तो अतिथि क्यों भोजन ग्रहण करेगा? स्वधर्मी बंधु आ गये तो रिक्त लौटेंगे। नियम टूट जायेगा, धर्म-भ्रष्ट हो जाएँगे। तय किया उन्होंने कि 'एक दिन पति उपवास करेगा, पत्नी भोजन करेगी और एक दिन पत्नी का उपवास रहेगा और पति भोजन करेगा।'

बंधुओं ! यदि चूल्हा नहीं जले तो अतिथि यही कहेगा कि नहीं मेरे लिए ही खाना क्यों बने? मैं तो कहीं भी खा लूँगा। और मुनि! वे तो अपने लिए बना हुआ लेते ही नहीं। दोनों के उपवास तो घर में खाना बना किसके लिए? वह सदोष आहार होगा। देने वाला भी डूबेगा और लेने वाला भी। मुनि के लिए तो अतिथि-संविभाग की भावना बनानी चाहिए। क्या है आपका बारहवाँ व्रत। अतिथि-संविभाग ही तो है। अपने लिए बनाए हुए आहार का सम्यक् भाग उन्हें बहराना कितनी नपी-तुली भाषा—“संविभाग”—ऐसा भाग कि देने पर दुबारा न बनाना पड़े।

□ दान दें स्व-हस्त से

दान आज भी दिया जाता है, पर दान देकर भी डूब जाते हैं दाता। भाव सहित देते हैं दान, पर आज दान देने की ऐसी गलत परम्परा हो गई है कि व्यक्ति अपने हाथों से दान नहीं देता। आया कोई रसीद लेकर, दिये पैसे, ली रसीद और हो गया दान। तीर्थकर भगवन्त आगमों में कहते हैं—हाथ से दान दो। वर्षीदान देते हैं तीर्थकर, पर अन्य से नहीं दिलवाते, अपने हाथों से देते हैं।

आपने दान दिया, रसीदें कटीं, फंड जमा हुआ, उस फंड का करना क्या? रखना कहाँ उसे? बैंक में कराया जमा। बैंक ब्याज देगी। बैंक ने उस जमा राशि को बतौर ऋण के अधिक ब्याज पर दिया मत्स्य-उद्योगी को, मुर्गी-पालक को, कल्लखाने के निर्माता और व्यवसायी को। आपका दिया रुपया लगा पाप के धंधे में। ब्याज आयेगा आपके दान का और साथ ही पाप का भाग भी। देने वाले को इसका ज्ञान नहीं कि उसका फंड अफंड मचा रहा है, हिंसा का बढ़ावा मिल रहा है उस दान के धन से।

□ शीलव्रती पूणिया श्रावक

दूसरी बात फाउण्डेशन शुद्धि के लिए बताई—शील-पालन। पूणिया श्रावक व उसकी पत्नी, दोनों ब्रह्मचर्यव्रती थे, आचार-विचार शुद्ध था उनका, अतः वे शीलवान थे।

□ तपस्वी पति-पत्नी

तीसरी बात है तप की। एकान्तर तप जीवनभर चला उनके, फिर अतिथि-सेवा भी एक प्रकार का तप है। निर्जरा के बाहर भेदों में आता है—वैयावृत्य अर्थात् सेवा-धर्म। साधर्मिक सेवा अपने आप में तप ही है।

□ भावों की शुद्धता, उच्चता

चौथी और अंतिम बात है शुभ और शुद्ध विचारणा। भाव-शुद्धि तो आपने देख ही ली अभी उन दोनों की।

□ सद्धर्म-उद्धारक अभय

सुलस के पूणिया श्रावक बनने तक अभय ने अन्य अनेक व्यक्तियों को भी प्रेरित किया। रोहिण्येय चोर ने भी अभय की बुद्धि का लोहा माना। उसने तो अभय के बुद्धि-चक्र से संयोगवशात् प्रभु महावीर के प्रवचनामृत की कुछ बूँदों से अपना बचाव किया और ऐसा बचाव किया कि सम्पूर्ण रूप से प्रभु के चरणों में समर्पित हो गया। ऐसे अनेक प्रसंग हैं, अभयकुमार के 'सद्धर्म-उद्धारक' के रूप में।

□ अभय के चरण, संयम की शरण

बंधुओं ! संयम पाने के लिए प्रबल भावना को सदा जागृत रखना आवश्यक है। जब भावना अधिक बलवान हो जाती है तब सुयोग मिल जाता है। अभय का मन विरक्ति में रमा हुआ था। दीक्षा के लिए वह प्रतिपल भावना भाता था। जब योग आया दीक्षा का तो संजोग भी मिल गया।

□ श्रेणिक सन्देह के घेरे में

भयंकर शीत, शिशिर ऋतु और प्रभु महावीर का राजगृही आगमन हुआ। बाहर उद्यान में विराजे। प्रातःकाल तो सर्दी अधिक, अतः प्रहर समय बीत जाने पर महाराज श्रेणिक व रानी चलना प्रभु-वन्दन के लिए गये। वन्दन कर, देशना सुन पुनः राजमहल लौट रहे थे। राह में एक सरोवर, पानी से लबालब भरा हुआ। सरोवर के किनारे एक प्रतिमाधारी श्रमण ध्यानमग्न। ठिठुरा देने वाली, हड्डियों में कम्पन पैदा कर देने वाली शीत में सरोवर के किनारे ध्यान, शरीर पर अत्यल्प वस्त्र पर मुनिवर प्रशांत मुद्रा में। “धन्य हैं ये मुनिवर जो ऐसा भयंकर शीत-परीषह सहन कर रहे हैं।” —कहकर दोनों ने मुनि को वन्दन किया। पथ में उन्हीं मुनिश्री की चर्चा करते रहे दोनों।

“आयावयाहि चय सोग मल्ल” आदेश है प्रभु का कि साधक शीत और ताप की आतापना ले, सुकुमारता का त्याग करे।

रात्रि का समय। राजा-रानी शयन-कक्ष में। मखमली गद्देदार रुई का नरम और गरम गद्दा, रुई की रजाई ओढ़ने के लिए, फिर भी जैसे सर्दी लग रही हो। सारे वातायन बन्द किये। कुछ गर्मी आई तो नींद भी आई। अचानक रात्रि में रानी चेलना का एक हाथ, पूरा हाथ नहीं बल्कि उसका उँगलियों वाला अगला भाग रजाई से बाहर रह गया। कड़ाके की उस सर्दी में चेलना की उँगलियाँ सुन्न हो गईं, लगा कि अन्दर का खून जम गया हो। तुरन्त हाथ रजाई के भीतर लिया, पर नींद तो उड़ गई थी। पुनः नींद आये तब तक विचारों की तरंगें बहने लगीं। उन्हीं तरंगों में एक स्मृति उस सरोवर के किनारे ध्यानस्थ मुनि जी की। मुँह से अचानक निकल गया—“ओह! उनका क्या हाल होगा?”

□ क्या चेलना का सम्बन्ध किसी अन्य पुरुष से ?

श्रेणिक की भी आँख खुल गई थी। सुना चेलना के मुँह से निकले इन शब्दों को, सोचने लगे—‘किसका चिन्तन चल रहा है इनके मन में? कौन है मेरे सिवाय अधिक प्रिय जिसके लिए ये चिन्तित है?’ संदेह का कीड़ा अन्तर् में कुलबुलाने लगा—‘क्या किसी अन्य से सम्बन्ध है? नहीं, नहीं! ऐसा कैसे हो सकता है? पर फिर ये चिन्तन, ये शब्द किसके लिए?’ अवश्य ही कोई गुप्त प्रेमी है।

बंधुओं ! मन का बहम, सन्देह, शंका या भ्रम ही सारे अनर्थों की जड़ है। वीतराग प्रभु के वचनों पर भी जिस व्यक्ति के मन में इसी प्रकार शंका उत्पन्न हो जाती है तो समझिए, उसका सम्यक्त्व-रत्न गया और आ गया मिथ्यात्व। परिणाम यह होगा कि क्षण-प्रतिक्षण संसार-परिभ्रमण में वृद्धि होती जायेगी।

□ अभय का दिव्य मनोरथ

रात व्यतीत हो गई। प्रातःकाल अभयकुमार प्रभु-दर्शन के लिए गये। किए प्रभु के दर्शन, अन्य मुनिवरों के दर्शन। सोचने लगे मन में—‘मेरा वह दिन कब होगा, जब मैं भी इन्हीं की तरह श्रमण बनकर प्रभु-चरणों में रहकर श्रमण-साधना करूँगा। मेरा वह दिन धन्य होगा।’

कैसा मनोरथ? कितना पवित्र, शुभ और कल्याणकारी? मनोरथ तो आपके भी हैं—तीन! कहते हैं न आप प्रतिक्रमण करते समय क्षमापना के पाठ में—“अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में श्रावक-श्राविका दान देवे, शील पाले, तपस्या करे, शुद्ध भावना भावे, संवर करे, सामायिक

करे, पौषध करे, प्रतिक्रमण करे, तीन मनोरथ चिन्तवे, चौदह नियम चितारे” कौन-से हैं ये श्रावक के तीन मनोरथ! आप सभी के लिए इनकी जानकारी अति आवश्यक है। ठाणांगसूत्र के तृतीय स्थान में इनका वर्णन आता है—

□ श्रावक के तीन मनोरथ, नित्य चिन्तन योग्य !

(१) पहले मनोरथ में श्रावक जी नित्य यह चिन्तन करते हैं कि कब वह दिन आयेगा, जिस दिन मैं अपने आरंभ और परिग्रह का त्याग करूँगा।

(२) दूसरे मनोरथ में संसार की मोह-माया और विषय-वासना को पूर्णतः त्यागकर साधु जीवन स्वीकार करने की कामना रहती है।

(३) तीसरे मनोरथ में श्रावक जी यह चिन्तन करते हैं कि निर्विघ्न रूप से संयम-यात्रा पूर्ण कर अंत समय में आलोचना, निंदा, गर्हापूर्वक संथारा ग्रहण करूँ।

□ मनोरथ में भौतिकता का विचार अशुद्धता है

आप सभी श्रावक कहलाते हैं। इन तीन मनोरथ का नित्य चिन्तन आपका आवश्यक कर्म है। मनोरथ तो आपके भी कई हैं, पर आध्यात्मिक नहीं, भौतिक मनोरथ हैं। गुरु महाराज के दर्शनार्थ जाएँगे तो क्या मनोरथ प्रकट करेंगे आज के श्रावक, आप भी जानते हैं। कहेंगे—“महाराज! कोई ऐसी माला बताओ आप कि बस लक्ष्मी जी सीधे हमारे घर आकर बस जाएँ।” आरंभ-परिग्रह कम करने के स्थान पर आपका मनोरथ उसे बढ़ाने का रहता है। यह आगार धर्म साधना की अशुद्धता है। सोचिए—आगार धर्म शुद्ध नहीं तो अणगार धर्म कैसे आ सकेगा ?

बंधुओं! आध्यात्मिक मनोरथ आत्म-कल्याण के संकल्प को जागृत करते हैं और इस तरह के संकल्प आने पर ही जीव संयम के पथ पर चरण रखता है।

□ राजाज्ञा—“जला दो चेलना का महल”

अभय के मन में संसार की मोह-माया को त्यागने का, दीक्षा लेने का, संयम-पालन का चिन्तन चल रहा था और वह उन मुनिजनों को धन्य मान रहा था जो मुनि-धर्म का पालन करते हुए प्रभु-आज्ञा में विचरण कर रहे थे।

उधर प्रातःकाल श्रेणिक उठे। मन में वही उधेड़-बुन, वह शंका कि चेलना दुष्चरित्र है। उद्विग्न मन अकेले ही निकल चले प्रभु-दर्शन के लिये। राह में मिले महामात्य अभय। श्रेणिक ने उनसे कहा—“महामात्य अभय ! लगता है रानी चेलना का चाल-चलन ठीक नहीं

हैं, वे दुराचार के कीचड़ में फँस चुकी हैं। अतः तुम बिना किसी अन्य आदेश की प्रतीक्षा किए चेलना के महल को तुरन्त जलाकर राख बना दो।”

चकित अभय ने पिता-महाराज के चेहरे को निहारा। क्रोध से तमतमा रहा था वह चेहरा, आँखों में जैसे अंगारे सुलग रहे थे। उन्हें कुछ कहना व्यर्थ था। वह कुछ विचार करता तब तक महाराज श्रेणिक जा चुके थे।

□ समस्त हितों की रक्षा करते हुए राजाज्ञा-पालन

अभय ने विचार किया—‘मातेश्वरी चेलना महारानी महासती हैं, पूर्ण पतिव्रता हैं फिर आज महाराज को यह क्या हुआ? क्या देखा उन्होंने जो वे ऐसी गलतफहमी की शिकार बन गये। पुरुष-प्रकृति ही ऐसी होती है। एक पति सब कुछ सहन कर सकता है, पर अपनी पत्नी के दुराचार की बात कदापि सहन नहीं कर सकता। पिताश्री के प्रचंड क्रोध का कारण निश्चय ही किसी तरह का गलन बहम है।’

अभय राजाज्ञा का पालन तो करता है, पर यहाँ भी वह अपने विवेक और बुद्धि को उपयोग में लाता है। महल को जलाने से पूर्व वह माता चेलना को, दास-दासियों को तथा अन्य कीमती सामान को निकलवाकर किसी सुरक्षित स्थान पर भेज देता है।

□ प्रभु द्वारा श्रेणिक की शंका का समाधान : चेलना पूर्ण पतिव्रता, शीलव्रती

इधर महल जल रहा है, उधर राजा श्रेणिक प्रभु को वन्दन करता है। इस समय तक उसका क्रोध कुछ ठंडा हो चुका होता है। वह प्रभु से प्रश्न करता है—“प्रभु ! रानी चेलना पतिव्रता है या दुश्चरित्रा ?”

प्रभु कहते हैं—“श्रेणिक ! तुम जिस बहम का शिकार बने हो, वह सही नहीं है। तुम्हारी धर्मपत्नी रानी चेलना पूर्ण शीलवती एवं पतिव्रता है। रात्रि में उनके मुँह से निकले जिन शब्दों को लेकर तुम्हारा मन शंका के तीव्र विष से भर गया है, वह शंका निर्मूल है।” इतना कहकर प्रभु वह सारी घटना सुनाते हैं जिसको लक्ष्य कर रानी के मुँह से ऐसे शब्द अचानक निकल गये थे।

□ जल गई चेलना तो अनर्थ हो जायेगा

सारी बात सुनकर राजा श्रेणिक का कलेजा धड़क उठता है, ऊपर की श्वास ऊपर और नीचे की श्वास नीचे रह जाती है। ‘महल जल जायेगा, चेलना जल जायेगी’—सोचते ही वे बड़े भारी अनर्थ की आशंका से उद्विग्न बन प्रभु को नमस्कार कर तीव्र गति से राजमहलों की

ओर लौट पड़ते हैं। दूर से उन्हें आग का धुआँ नजर आता है। 'हाय! यह क्या हो गया? मैंने यह क्या कर डाला?'—बड़बड़ाते हुए श्रेणिक राजमहलों में आते हैं। सामने ही महामात्य अभय दिखाई देते हैं। दिख रहा है राजमहल जलता हुआ फिर भी पूछते हैं—“क्या किया तुमने? जलाया तो नहीं राजमहल को?”

अभय ने श्रेणिक महाराज को चुप होते देखकर कहा—“महाराज ! जैसी आपने आज्ञा दी, मैंने उसका पालन किया। राजाज्ञा का पालन मेरा कर्तव्य था। मैंने आदेश की पालना में महल जला दिया। ये लपटें उसी की दिखाई दे रही हैं।”

□ “जा, निकल जा यहाँ से !”—श्रेणिक ने अभय से कह ही तो दिया

श्रेणिक पुनः क्रोधाविष्ट हो गये। बोले—“अरे! मैंने तो गलती की, पर तुम्हें तो सोच-विचारकर काम करना चाहिए था। फिर इतनी जल्दी क्या थी? मैं वापस आ ही तो रहा था। अरे दुष्ट! तूने यह ठीक नहीं किया। जा, निकल जा यहाँ से। चला जा मेरी नजरों से दूर। खबरदार जो कभी मुझे वापस अपना मुँह दिखाया।”

बंधुओं ! कितना प्यार, कितना स्नेह, कितना लगाव था श्रेणिक को अभय से, पर क्रोध तो होता ही चांडाल है। जिस राजा ने कभी यह कहा था कि न तेरे बिना राजा का काम चल सकता है, न इस राज्य का, आज वही राजा उसे अपने से दूर जाने की बात कह रहा है, वह भी कितने अपमानजनक शब्दों में, पर अभय फिर भी शान्त, प्रशान्त। वह तो प्रसन्न है, क्योंकि इसी अपमान में उनका सम्मान, बहुमान, जीवन-कल्याण है।

अभय ने कहा—“आप कहते हैं तो जाता हूँ। आप आज्ञा दीजिए, मैं दीक्षा ले लूँ।”

श्रेणिक अभी तक क्रोध में थे, अतः बोले—“जा, जा, यहाँ से। कहीं भी जा, कुछ भी कर, पर मेरी नजरों से दूर हो जा।”

□ दुत्कार में सत्कार, अपमान में सम्मान—अभय दीक्षित

जैनागमों की संख्या है बत्तीस। इन सम्पूर्ण आगमों में पिता द्वारा अपमानित होकर दीक्षा लेने का बस एक यही उदाहरण मिलता है। अभय ने भी चिन्तन किया—“यही उपयुक्त अवसर है। मेरा चिर-प्रतीक्षित मनोरथ पूर्ण होने जा रहा है।”

अभय जाता है प्रभु के पास। वन्दन कर निवेदन करता है—“प्रभु! आज्ञा मिल गई। कृपया शीघ्र दीक्षा देने की कृपा कीजिए।”

बंधुओं! मन में भय कि “कहीं चलना माता के जीवित होने की बात ज्ञात हुई तो पिताश्री पुनः यहाँ न आ जाएँ, दीक्षा के लिए मना न कर दें।”

राजा श्रेणिक को जब पता चलता है कि रानी चलना तो अन्य महलों में विराजमान आनंद फरमा रही है। सारा प्रसंग ज्ञात होते ही रथ में बैठ शीघ्रता से आते हैं प्रभु के पास, पर तब तक अभय की दीक्षा हो चुकी होती है।

श्रेणिक पूछते हैं प्रभु से अभय के बारे में तो प्रभु कहते हैं—“वै बैठे हैं नव-दीक्षित मुनि!”

श्रेणिक उन्हें वन्दन-नमन करता है।

□ अनुत्तर व्यक्तित्व, अनुत्तर साधना, अनुत्तर फल-प्राप्ति

मुनि अभयकुमार ने पाँच वर्ष तक निर्दोष एवं उत्कृष्ट संयम का पालन किया। अन्तिम समय में एक मास के संलेखना संथारापूर्वक समाधिमरण को प्राप्त कर अनुत्तर देवलोक में अनुत्तर वैमानिक देव बने। देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर अपनी आत्मा को भावित करते हुए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेंगे।

□ चाह बनाकर राह चुनिए और चल दीजिए

बंधुओं! जाना चाहते हैं आप भी मोक्ष में, अभिलाषा है आपकी मुक्ति पाने की तो वैसी ही राह चुनकर उस पर चलना प्रारंभ कर दीजिए। आत्म-कल्याण का लक्ष्य बनाकर संयम के पक्ष को चुन लिया यदि और चलते रहे उस पर तो निश्चित ही अनंत सुख, शाश्वत आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे।

आनंद ही आनंद !



श्री वीर बखाण्यो

(धन धन्नो अणगार)

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।

जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

आत्म-बन्धुओं !

परम-पावनी जिनवाणी अनादिकाल से संसार-सागर में रही भव-पीड़ा संतप्त आत्माओं को सत्य मार्ग दर्शाकर परम शान्ति, शाश्वत-सुख प्रदान करने वाली है। यह आत्मा चेतन है और अपने विपरीत-धर्मी जड़-पुद्गलों से संयुक्त बन भव-भ्रमण बढ़ाता है। जिनेश्वर प्ररूपित सत्य पथ का अनुसरण कर चेतन उन जड़-पुद्गलों अर्थात् कर्म-तत्त्व से रहित बनकर जब परमात्म तत्त्व में लीन बन जाता है तो जीव का, चेतन का, आत्मा का भव-भ्रमण, जन्म-मरण, संसार-चक्र मिट जाता है। चेतन जीवात्मा का यह रूप उसका सम्पूर्ण विकसित रूप है।

□ जीव-विकास-क्रम (आध्यात्मिक दृष्टि से)

जीव के इस सम्पूर्ण विकसित परमात्मस्वरूप को एकदम पाना तो संभाव्य शब्द से बाहर ही रखा जायेगा। यह विकास की क्रिया एक निश्चित क्रम से होती है। जीव-विकास के इस क्रम का उल्लेख समवायांगसूत्र में मिलता है, जहाँ उसके इस विकास-क्रम को 'विकास की चौदह सीढ़ियाँ' कहा गया है। चेतन-जीवात्मा का आत्मोत्थान क्रम है यह। इन्हीं सीढ़ियों, श्रेणियों पर उत्तरोत्तर आगे कदम रखता हुआ जीव अपना पूर्ण विकास कर मोक्ष-तत्त्व में विलीन हो जाता है, अर्थात् मुक्त बन जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह भी सम्भव है कि क्रमवार सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ जीवात्मा विपरीत परिस्थितियों में आपा भूलकर फिसल जाए। ऐसी हालत में वह पुनः अवरोहण भी कर सकता है, अर्थात् सीढ़ियों से नीचे गिरकर किसी भी नीचे वाली सीढ़ी पर आ सकता है और बीच में कहीं न अटके तो प्रथम गुणस्थान, अर्थात् मिथ्यात्व में भी आ जाता है।

□ जीवस्थान या गुणस्थान

आगम ग्रन्थों व जैनशास्त्रों, सूत्रों में इन जीव-विकास-सीढ़ियों को—‘चौदह जीवस्थान’ या ‘चौदह गुणस्थान’ की संज्ञा दी गई है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों की शुद्धि-अशुद्धि और उत्कर्षण-अपकर्षण अवस्था के तरतम भाव को गुणस्थान कहते हैं। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि आत्म-गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। इन चौदह गुणस्थान-श्रेणियों की सबसे नीचे वाली सीढ़ी अर्थात् आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी है—मिथ्यात्व गुणस्थान।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व का शाब्दिक अर्थ है—तत्त्वों सम्बन्धी मिथ्या मान्यता। सर्वज्ञों द्वारा कथित जीवादि तत्त्वों का जो यथार्थ रूप है, वास्तविक स्वरूप है, मिथ्यात्वी जीव उसे उसी रूप में नहीं जानता, नहीं मानता। तत्त्वों के उस यथा-तथ्य रूप पर श्रद्धा न रखना जीव की निम्नतम श्रेणी है।

मिथ्यात्वी व्यक्ति को समझने के लिए दृष्टान्त आता है कि जिस प्रकार पित्त-ज्वर से पीड़ित रुग्ण व्यक्ति को मधुर स्वाद वाले पदार्थ भी रुचिकर नहीं लगते, ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव को यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं लगता।

□ क्यों होता है मिथ्यात्व ?

क्यों होती है जीव की मिथ्यात्व-दशा? कर्म-प्रकृतियों की जानकारी जिन्हें है, वे इस तथ्य को समझते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में सर्वाधिक प्रबल मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से दर्शन मोहनीय कर्म की प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय आत्म-स्वरूप का भान नहीं होने देती, अर्थात् ‘स्व’ रूप-‘पर’ रूप के निर्णय का विवेक नहीं होने देती एवं चारित्र मोहनीय की सभी २५ प्रकृतियाँ आत्मा को ‘स्व’ रूप में स्थित नहीं होने देती। मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय दोनों शक्तियों को प्रबलतम प्रभाव होने के कारण आत्मा की जो अधिकतम आवृत्त अवस्था होती है, वही प्रथम गुणस्थान है।

□ मिथ्या अनुभूति का नाम है मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की दशा में जीव विभाग को स्वभाव तथा स्वभाव को विभाव मानता हुआ पर-पदार्थों की ओर ही आकर्षित बना रहता है, उन्हीं में सुख मानता है। इसका कारण है जीव की अज्ञान-दशा तथा मोह-भाव। अज्ञान व मोह के कारण ही जीव इन्द्रिय तथा मोहजन्य विषयों की अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख का अनुभव करता है।

□ मिथ्या से राग-द्वेष

राग और द्वेष—ये दो कर्म बीज हैं। मिथ्यात्व या अज्ञान राग-द्वेष की उत्पत्ति का मुख्य हेतु है। मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न राग अर्थात् माया, लोभ तथा द्वेष अर्थात् क्रोध, मान से जिसकर्मवृक्ष की उत्पत्ति होती है, उस कर्मवृक्ष पर फलने वाले कषाय विष-फलों के कारण जीव जन्म, जरा और मृत्यु रूप पर्यायों में भव-भ्रमण करता हुआ अनन्त-अनन्त दुःखों का भाजन बनता है।

□ मिथ्यात्व अर्थात् अज्ञान-दशा

जीव की अज्ञान-दशा के दो कारण हैं—

- (१) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपक्षम, तथा
- (२) मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम से जीव में जानने की शक्ति का अभाव रहता है या वह जानते हुए भी उसे समझ नहीं पाता।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव जानता तो है, समझता भी है, पर 'विपरीत' भाव के कारण विपरीत ही जानता-समझता है तथा उसके क्षयोपक्षमजन्य मति-श्रुति-अवधिज्ञान अज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं।

□ संसार-भ्रमण का प्रमुख कारण है मिथ्यात्व

संसार-भ्रमण के जो पाँच कारण आगमों में मिलते हैं, वे हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, और (५) अशुभ योग।

मिथ्यात्व इनमें प्रमुख है, सर्वप्रथम है। क्योंकि वह ज्ञान को भी अज्ञान में बदल देता है और तब जीव यथार्थ को अयथार्थ, मोक्ष-मार्ग को संसार का मार्ग, संसार-मार्ग को मोक्ष का मार्ग मानने लगता है। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों को भी विपरीत जानता-मानता है।

□ मिथ्यात्व के प्रकार (भेद)

मिथ्यात्व के पच्चीस भेदों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। इन्हें जानकर, समझकर व्यक्ति को चाहिए कि वह इनका त्याग करे।

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद हैं—

(१) अनादि-अनन्त—जिसका आदि बताने में कोई भी समर्थ नहीं है, अर्थात् अनादिकाल से जो चला आ रहा है। जिसका अन्त भी नहीं है, अर्थात् इस दशा में रहा हुआ जीव अनन्त-अनन्त काल तक मिथ्यात्वी ही रहेगा। इसमें अभावी जीव आते हैं तथा अनेक ऐसे भवी जीव

भी जो भव्यत्व के धारक होने पर भी कभी सुदेव, सुगुरु, सुधर्म का संसर्ग नहीं मिल पाने के कारण मोक्ष नहीं जा पाएँगे।

(२) **अनादि-सान्त**—जो अनादिकाल से विद्यमान है और जिसका अन्त होगा यह निश्चित है। इसमें वे सभी जीव आते हैं, जो मोक्ष जाने में समर्थ हैं और कभी-न-कभी मिथ्यात्व का अन्त कर मोक्ष जाएँगे।

(३) **सादि-सान्त**—जिसकी आदि भी है और अन्त भी। ये जीव एक बार सम्यक्त्व पाकर पुनः मिथ्यात्व में आ जाते हैं। संसार-परीत होने से इन जीवों के मिथ्यात्व का अन्त निश्चित है।

विपरीत मान्यता की दृष्टि से विचार करें तो मिथ्यात्व के पच्चीस भेद हैं, जिनका त्याग जीव के लिए आवश्यक है—

(१) **आभिग्राहिक मिथ्यात्व**—परम्परा से, पीढ़ियों से, बाप-दादाओं से जो मिथ्या धारणाएँ बनी हुई हैं, सत्यासत्य का निर्णय किए बिना उन्हें उसी रूप में मान लेना आभिग्राहिक मिथ्यात्व है। स्थानांगसूत्र में इसके दो भेद बताए हैं—(१) सपर्यवसित, और (२) अपर्यवसित। भव्य जीवों का ऐसा मिथ्यात्व सपर्यवसित होता है और अभव्य जीवों का अपर्यवसित।

(२) **अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व**—धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य आदि को परखने की विवेक बुद्धि न होने से मूढ़तावश सभी देवों, गुरुओं और धर्मों को समान मानना, सारे मतों और पंथों को एकरूप मानना अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व है। इसके भी सपर्यवसित व अपर्यवसित—ये दो भेद हैं।

(३) **आभिनवेशिक मिथ्यात्व**—अपने गृहीत धर्म को असत्य जानते व मानते हुए भी हठ करके, दुराग्रहपूर्वक उसे पकड़े रहना आभिनवेशिक मिथ्यात्व है।

(४) **सांशयिक मिथ्यात्व**—जिन-वचनों में सन्देहशील बनकर आगमों में उल्लेखित धर्मास्तिकाय आदि को अपनी बुद्धि से न समझ पाने पर उनमें शंका रखना सांशयिक मिथ्यात्व है।

(५) **अनाभोग मिथ्यात्व**—मोह-मूढ़ता के कारण जीव ज्ञानशून्य व विचारशून्य बन अनजाने व अज्ञानवश मिथ्यात्व में पड़ जाता है। ऐसा मिथ्यात्व अनाभोग मिथ्यात्व कहलाता है। मोहनीय कर्म के गाढ़तम उदय से जीव की यह स्थिति होती है। असंज्ञी जीवों में प्रायः अनाभोग मिथ्यात्व पाया जाता है। संज्ञी जीवों में उपर्युक्त पाँचों ही मिथ्यात्व पाये जाते हैं।

(६) **अधर्म को धर्म श्रद्धना**—हिंसा, झूठ, चौर्य-कर्म, मैथुन-सेवन, परिग्रह आदि जो अधर्म कार्य हैं, उनमें धर्म मानना।

(७) धर्म को अधर्म श्रद्धना—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम व तप रूप धर्म तथा क्षमा, विनय, सरलता, निर्लोभता आदि दस धर्म-लक्षणों को अधर्म रूप मानना।

(८) उन्मार्ग को सुमार्ग (सन्मार्गी) समझना—इन्द्रियों के विषय-विकार सेवन, कुव्यसन सेवन, धर्म के नाम पर याज्ञिक-कर्म व हिंसाजनक कर्मकाण्ड, पशुबलि, देवी-देवताओं की पूजा आदि में होने वाली हिंसा को हिंसा न मानना ही उन्मार्ग है। जो इनमें धर्म मानकर, इसी को सुपथ मानकर इन पर चलता है, वह इस मिथ्यात्व का भागी बनता है।

(९) सुमार्ग को उन्मार्ग मानना—सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना, जो मोक्ष के मार्ग हैं, उन्हें नहीं मानना, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् क्रिया को भी मोक्ष का पथ नहीं मानना इत्यादि जिन-वचनों की विराधना है। आगमों में स्पष्ट उल्लिखित है—“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः” तथा “ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः” पर इस मिथ्यात्व का धारक इन सुमार्गों को उन्मार्ग मानकर इन्हें संसार-परिभ्रमण बढ़ाने का हेतु माने तो यह मिथ्यात्व है।

(१०) अजीव को जीव समझना—जड़-पदार्थों, जिनमें चेतना व उपभोग आदि गुण नहीं हैं उनमें जीव की मान्यता का स्थापन करने से यह मिथ्यात्व आता है। सूखे काष्ठ या धातु या पाषाण निर्मित आकृतियों (मूर्तियों) में जीवन तत्त्व की मान्यता, उन्हें सजीव मानना, शरीर को ही जीव मानना इसके अन्तर्गत आता है।

(११) जीव को अजीव समझना—प्राण, पर्याप्ति, योग, उपयोग आदि जो संसारी जीव के लक्षण हैं—इन लक्षणों से युक्त पृथ्वी, अप् (पानी), तेज (अग्नि), वायु, वनस्पति आदि स्थावरकाय जीवों, सम्मूर्च्छिम जीवों आदि में जीव नहीं मानकर उन्हें अजीव मानने से यह मिथ्यात्व लगता है।

(१२) असाधु को साधु मानना—कंचन व कामिनी को रखकर उनका भोगोपभोग करने वाले, कन्द-मूल भक्षण करने वाले, षट्काय जीवों की विराधना करने वाले ऐसे बाबा, फकीर, जोगी, यति आदि को साधु मानना मिथ्यात्व है।

(१३) साधु को असाधु मानना—पाँच महाव्रतों को धारण करने वाले, अष्ट प्रवचन माता, अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति की आराधना करने वाले, पाँच आचार के पालक, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, नव बाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालक, कंचन-कामिनी के त्यागी, उत्कृष्ट वैरागी, छह प्रकार का बाह्य व छह प्रकार का आभ्यंतर तप करने वाले, सत्रह प्रकार का संयम पालने वाले, पल-प्रतिपल आत्म-स्वभाव में रमण करने वाले जो सच्चे साधु हैं, उन्हें भोगी और रागी मानकर असाधु समझना मिथ्यात्व है।

(१४) **अमुक्त को मुक्त मानना**—जो राग-द्वेष से युक्त हैं, जिनका जन्म-मरण चालू है, जिनके ज्ञानावरणीय आदि आठों ही द्रव्य कर्म का बंधन हो रहा है, जिनका शरीर और मन तथा जिनकी इन्द्रियाँ आदि प्रवृत्तिजनक हैं ऐसे अमुक्त जीव को मुक्त मान लेना मिथ्यात्व है।

(१५) **मुक्त को अमुक्त मानना**—जिन्होंने ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्म क्षय कर लिए हैं, जो सिद्धगति प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त बन गये हैं, रोग, शोक, आधि, व्याधि किसी भी प्रकार की पीड़ा से जो रहित हैं, ऐसे अपने समस्त कार्यों को सिद्ध कर वीतरागी व वीतद्वेषी बन जाने वाले सिद्ध प्रभु को राग-द्वेष आदि विकारों से मुक्त नहीं मानना भी मिथ्यात्व है।

(१६) **लौकिक मिथ्यात्व**—संसारी देवों (गणेश, महेश आदि), संसारी गुरु (पाखंडी व आडम्बरयुक्त धर्म मानने वाले शिथिलाचारियों), सांसारिक धर्म (यज्ञ, स्नान, तर्पण आदि) को मानने, सेवन करने का नाम है लौकिक मिथ्यात्व।

(१७) **लोकोत्तर मिथ्यात्व**—लोकोत्तर देव, गुरु, धर्म की आराधना से सांसारिक सुखों की अभिलाषा करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है। इसके तीन भेद हैं—(१) **देवगत लोकोत्तर मिथ्यात्व** में तीर्थकर के गुणों से रहित तथा राग-द्वेष आदि अठारह दोष होते हुए भी तीर्थकर नाम धारण करना (गोशालकवत्) तथा तीर्थकर आदि लोकोत्तर देवों की उपासना सांसारिक सुखों के लिए करना अथवा अरिहन्त-सिद्धों की प्रतिमा के आगे धूप, दीप, फल, फूल, प्रसाद आदि चढ़ावा चढ़ाना उनकी द्रव्य पूजा करना, उनके स्वरूप के अनुरूप उन्हें नहीं मानना सम्मिलित है, (२) **गुरुगत लोकोत्तर मिथ्यात्व** में द्रव्य लिंगियों को सुसाधु मानना व सुगुरु की स्तुति, वंदन व मांगलिक श्रवण से भौतिक सम्पदा की इच्छा करना आता है, (३) **धर्मगत लोकोत्तर मिथ्यात्व** में उत्सूत्र को सुधर्म मान लिया जाता है या वीतराग धर्म की आराधना लौकिक, दैव्य, सांसारिक सुखों के लिए की जाती है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि व्रत धन-सम्पत्ति, स्त्री-सुख या पुत्रादि के लिये किये जाते हैं।

(१८) **कुप्रवाचनिक मिथ्यात्व**—निर्ग्रन्थ-प्रवचनों के अतिरिक्त अन्य कुतीर्थियों के प्रवचनों को मानना, उनके अनुसार मिथ्या क्रियाएँ करना, पाखंडियों के आगमोक्त ३६३ मतों को स्वीकारना कुप्रवाचनिक मिथ्यात्व है।

(१९) **न्यून मिथ्यात्व**—सर्वज्ञ तीर्थकर भगवन्तों ने जीवादि तत्त्वों की जो प्ररूपणा की उससे कम प्ररूपणा करना, अपनी मान्यता से मेल न खाने वाले शास्त्र-वचन का मनमाना अर्थ कर देना या कुछ शब्दों को हटा देना, घटा देना, बदल देना आदि। यथा—देह-प्रमाण जीव को अंगुष्ठ-प्रमाण मानना।

(२०) अधिक मिथ्यात्व—जिनभाषित शास्त्रों से अधिक प्ररूपणा करना। यथा—देह-प्रमाण आत्मा को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-प्रमाण मानना।

(२१) विपरीत मिथ्यात्व—जिन-वचनों के विपरीत प्ररूपणा करना, श्रद्धना। यथा—आत्मा के अस्तित्व को नकारना, स्थावरकायिक (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति) जीवों को जीव रूप नहीं मानना।

(२२) अक्रिया मिथ्यात्व—मात्र ज्ञान से मुक्ति बतलाना, मानना तथा क्रिया का निषेध करना। जो क्रियाएँ मोक्ष की साधक रूप नहीं उनका मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से अनुष्ठान करना या आचरण करना अक्रिया मिथ्यात्व है।

(२३) अविनय मिथ्यात्व—सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के विनय में श्रद्धाभाव नहीं रखना तथा रत्नत्रयी की आराधना में विनय-भक्ति नहीं रखना।

(२४) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान में संकल्प-विकल्प से विवाद की अनेक स्थितियाँ उद्भूत हो जाती हैं, अतः कर्मबन्ध होता है। यह धारणा बनाकर ज्ञान, पठन-पाठन का निषेध करना और अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ मानना।

(२५) असातना मिथ्यात्व—सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की निन्दा, अवहेलना आदि।

मिथ्यात्व के इन भेदों के कारण जीव प्रथम गुणस्थानवर्ती होते हैं, पर ध्यान रहे कि वे प्रथम गुणस्थानवर्ती तभी तक हैं, जब तक उनको सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं मिलता।

□ मिथ्यात्व को गुणस्थान क्यों माना गया ?

मिथ्यात्व भी जीव का गुणस्थान है, क्यों ? इसका समाधान करते हुए पूर्वाचार्य फरमाते हैं—मिथ्यात्वी जीव में भी चैतन्य लक्षण है। वह किसी भी क्षण आत्मा के गुणों को प्रकट करने में सचेष्ट, सचेतन बन सकता है। वह ज्ञानरहित नहीं है, बल्कि उसका आत्म-ज्ञान-गुण कितना भी आवृत्त रहे, तो भी अक्षर का अनंतवाँ भाग अनावृत्त रहता है। इस स्थिति में मिथ्यात्व को जीव का गुणस्थान नहीं मानें तो जड़ और चेतन में क्या अन्तर रह जायेगा ?

(२) सास्वादन गुणस्थान—आस्वादन शब्द में 'स' लगाकर बना है—सास्वादन। अर्थ हुआ—एक बार जिसने स्वाद लिया, अर्थात् मिथ्यात्व त्याग उपशम सम्यक्त्व का स्पर्श पाया, पर वह सम्यक्त्व टिका नहीं, अतः पुनः मिथ्यात्व की ओर गिरा, पर जब तक पूर्ण मिथ्यात्व दशा में नहीं पहुँचा तब तक उस स्वाद की जो स्मृति है, वही सास्वादन दशा है। ऐसे जीव के स्वरूप विशेष को सास्वादन—सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

उपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति की, पर मिथ्यात्व मोह एवं अनन्तानुबन्धी काषायिक प्रकृतियों के उदय से सम्यक्त्व नष्ट हो गया। जीव अब पुनः मिथ्यात्व की ओर मुड़ा। सम्यक्त्व से गिरने और मिथ्यात्व तक पहुँचने के बीच का जो समय है, वही स्वाद-स्मृति का, सास्वादन का समय है। यह समय जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छह आवलिका का होता है। बाद में उसे पुनः मिथ्यात्व में जाना ही पड़ता है।

स्वादिष्ट भोजन करने के बाद वमन हो जाये, सारा खाया-पिया पुनः बाहर निकल जाये, पर जो खाया उसके स्वाद की स्मृति तो कुछ देर रहती ही है, वैसा ही है यह गुणस्थान।

दूसरा दृष्टान्त घण्टे की ध्वनि का है। घण्टा बजाने के बाद उसकी जो गुञ्जन (प्रतिध्वनि) बची रहती है, उसी के समान इसे समझना चाहिए।

यह समकित से गिरने वाले को आता है, अन्य को नहीं। यह एक भव में दो बार व अनेक भवों की अपेक्षा से पाँच बार से अधिक नहीं आता है।

(३) मिश्र मोहनीय गुणस्थान—मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध, अर्द्ध-शुद्ध व शुद्ध—इन तीन पुँजों में से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से शुद्धता तथा मिथ्यात्व के अर्द्ध-शुद्ध पुञ्ज के उदय से अशुद्धता रूप जीव की दृष्टि कुछ शुद्ध (सम्यक्त्व), कुछ अशुद्ध (मिथ्यात्व) की होती है। यह मिश्र दृष्टि है। ऐसा जीव मिश्र दृष्टि तथा उसका स्वरूप—विशेष सम्यक्—मिथ्या गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) कहलाता है।

मिश्र मोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय से जीव में तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान के प्रति आस्था-अनास्था के मिले-जुले भाव इस गुणस्थान में बनते हैं। ऐसे अनिश्चय की स्थिति में जीव न तो पूर्णरूपेण सम्यक्त्व रूप होता है और न केवल मिथ्यात्व रूप। अनिश्चय की स्थिति है, अतः इस गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं माना गया है।

शक्कर और नमक को आपस में मिलाकर एकमेक कर देने पर जैसा स्वाद आता है, इस गुणस्थान में जीव की वही स्थिति बनती है।

इस गुणस्थान में रहते जीव का आयुष्य बंध नहीं होता और न इस गुणस्थान में जीव मरण-धर्म प्राप्त करता है। इस गुणस्थान की स्थिति अंतर्मुहूर्त की है। इसके बाद सम्यक्त्व या मिथ्यात्व की प्राप्ति होने पर ही आयु का बंध या मरण होता है।

इस गुणस्थान में रहता हुआ जीव सर्वज्ञ के मार्ग को भी सच्चा समझता है और अन्य मार्गों को भी सच्चा समझता है।

□ समान ही तो हैं दोनों !

उदाहरण के लिए किसी गाँव में कुछ संत आये। कुछ व्यक्ति मिलकर दर्शन के लिए गये। वे पहुँचे तब तक संतों ने वहाँ से विहार कर दिया। वे वापस अपने घर की ओर लौटने लगे, तभी किसी ने उन्हें बताया कि कुछ ही दूरी पर एक तापस आये हुए हैं। उन्होंने सोचा—‘मुनि तो विहार कर गये, उनके तो दर्शन हम कर नहीं सके, आये हैं यहाँ तक तो चलें तापस के दर्शन कर लें, वे भी तो संत ही हैं। जैसे महाव्रती संत तपस्वी, वैसे ही ये भी तपस्या करते हैं, वे पाँच समिति तीन गुप्ति पालते हैं तो ये पंचाग्नि तप तापते हुए काया को कष्ट देते हैं। क्या अन्तर है? दोनों समान ही तो हैं।’

□ आपकी श्रेणी ?

गये सभी, किए दर्शन। यही हो रहा है आज सर्वत्र। अरिहंत हमारे देव हैं, पर माला फेरने तक, बाद में तो लौकिक देव आपके देव बन जाते हैं। कितना खुश रखते हैं आप उनको? कितना मानते हैं उन्हें? लेकिन बन्धुओं! यह आपका भटकाव है। आपको जैन-सिद्धान्तों, जिन-वचनों पर अटूट श्रद्धा नहीं। कर्मवाद पर आपके अन्तर् में अटलता का भाव नहीं। अब आप ही सोचिए कि आपकी श्रेणी कौन-सी? तीसरी गुणश्रेणी या पाँचवीं गुणश्रेणी?

□ क्यों होते हैं डाँवाडोल ?

महाराज गाँव में आये हैं, प्रातः नौ बजे उनका प्रवचन है। तभी कोई आकर बताता है कि दस किलोमीटर दूर एक चमत्कारी बाबा आये हैं। जो जाता है वहाँ, वे माँगने पर कुछ न कुछ देते हैं। तिजोरी में रखने को कुछ दे देंगे तो तिजोरी हमेशा भरी ही रहेगी।

अब बताइए—कहाँ जाएँगे ?

क्यों डाँवाडोल हो जाते हैं? अपने धर्म पर अटल, दृढ़, अटूट क्यों नहीं रहते? आप समझते हैं—कुछ प्राप्ति होगी, मिलेगा कुछ। बन्धुओं! आडम्बर है ये, फँस रहे हैं इन आडम्बरों में आप, जो है आपके पास कहीं उसे भी खो न दें।

□ बर्बाद कर दिया

झूठा चातुर्मास की बात बता रहा हूँ। एक बाई दर्शनार्थ आई। बोली—“महाराज ! मैं ठगी गई, एक आदमी ने मेरा सर्वस्व ठग लिया, बर्बाद कर दिया उसने मुझे। कहता था—‘सोना आठ गुना बना देता हूँ।’ मुझे तो विश्वास नहीं था, पर अड़ौसियों-पड़ौसियों ने उसे अपना थोड़ा-थोड़ा सोना दिया। उसने भी जाने कैसे आठ गुणा करके दे दिया। मैं झाँसे में आ गई।

घर में चालीस तोले सोने के जेवर थे। सारे उसको दे दिये। उसने मेरे सोने के जेवर अपनी झोली में डाले। कुछ देर बुदबुदाता रहा, जैसे कुछ मंत्र पढ़ रहा हो। फिर एक बंद कटोरदान दिया और बोला—बाई! इक्कीस दिन बाद खोलना, पहले खोलकर देख लिया तो सब कुछ नष्ट हो जायेगा। घर में भी अनिष्ट होना संभव है। इक्कीस दिन पश्चात् खोला मैंने उसे तो अन्दर नकली गहने भरे हुए थे।”

□ जिनधर्म पर अटूट आस्था रखें

विपरीत श्रद्धा हो या शंका, दोनों से हानि ही होती है। इस लोक में तो ठगे ही जाते हैं, हानि भोगते ही हैं, परलोक में भी अशुभ, विपरीत भावों के कारण, मिथ्यात्व के कारण दुःख, कष्ट भोगना पड़ता है। इसलिए आपको शिक्षा दी जाती है कि अपने धर्म के सिद्धान्तों पर, देव-गुरु-धर्म पर, जिन-वचनों पर दृढ़ विश्वास, अटूट आस्था रखिये। इसी से सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, सम्यक्त्व ही व्रत-प्रत्याख्यान की आराधना, संयम की साधना के लिए प्रेरित करेगा।

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—(१) अनंतानुबन्धी क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) सम्यक्त्व मोहनीय, (६) मिश्र मोहनीय, और (७) मिथ्यात्व मोहनीय—इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जीव की जो विकास-अवस्था होती है, वही ‘अविरत-सम्यग्दृष्टि’ नाम का चौथा गुणस्थान है। सम्यग्दृष्टि प्राप्ति के पूर्व जीव पाँच प्रकार की लब्धियों से गुजरता है—

(१) अनन्तकाल से मिथ्यात्व के अन्धकार में परिभ्रमण करते-करते किसी समय आत्मा को ऐसा योग मिलता है कि ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्म की अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग (रस) को समय-समय में अनन्त गुणा घटाते-घटाते क्रम से ऊपर आ जाता है, तब क्षयोपशमलब्धि प्राप्त होती है।

(२) क्षयोपशमलब्धि के प्रताप से विशुद्ध परिणाम की वृद्धि होती है और शुभ प्रकृतियों का बंध करने वाले धर्मानुराग रूप कुछ परिणामों की प्राप्ति होती है। यह विशुद्धलब्धि है।

(३) विशुद्धलब्धि के प्रभाव से गुरु-आचार्य आदि का उपदेश सुनने की अभिलाषा होना। उनकी सत्संगति करके तत्त्वों आदि का ज्ञान बनना देशनालब्धि है।

(४) उक्त तीनों लब्धियुक्त बन जीव समय-समय पर विशुद्धता-वृद्धि करता हुआ आयुर्कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति को एक कोटाकोटि सागरोपम से कुछ कम करे, शेष रही स्थिति में घातिक कर्म के अनुभाग को जो पर्वत-सम कठोर था, उसे काष्ठ-सम

करने और अघातिक कर्मों को जो हलाहल विष के समान थे, उन्हें नीम व कांजी की तरह कहने की योग्यता प्राप्त करे वह प्रयोगलब्धि है।

(५) करणलब्धि—कषायों की मन्दता को करण कहते हैं। प्रयोगलब्धि की जो स्थिति बताई थी, उसे पल्योपम के संख्यातवें भाग जितनी कम करें अर्थात् आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति ७००-८०० सागरोपम से कम हो जाय तब पाँचवीं करणलब्धि प्राप्त होती है। 'करणलब्धि' तीन प्रकार की होती है—(अ) यथाप्रवृत्तिकरण या अधःप्रवृत्तिकरण, (ब) अपूर्वकरण, तथा (स) अनिवृत्तिकरण।

(अ) अधःप्रवृत्तिकरण (यथाप्रवृत्तिकरण)—करणलब्धि को प्राप्त हुए तीनों कालवर्ती अनेक जीवों की विशुद्धता रूप परिणाम असंख्य लोक प्रमाण होते हैं। ये विशुद्धता रूप परिणाम अन्तर्मुहूर्त के जितने काल के होते हैं। उनमें से प्रत्येक समय में वृद्धि पाते हैं। कोई समय ऐसा आता है जब नीचे के परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धता वाले से ऊपर के परिणाम वालों की जघन्य विशुद्धता मिल जाती है। इसी कारण इसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में चार बातें अवश्य होती हैं—(१) प्रतिसमय विशुद्धता में अनंत गुणा वृद्धि होती है, (२) पूर्वोक्त स्थितिबंध से घटता-घटता हुआ स्थितिबंध होता है, (३) सातावेदनीय आदि प्रशस्त कर्म-प्रकृति अनुभागबंध समय-समय वृद्धि पाता हुआ गुड़, शक्कर, मिश्री और अमृत के समान चतुःस्थानपतित अनुभागबंध होता है, और (४) असातावेदनीय और अशुभ कर्म-प्रकृतियों को समय-समय अनंत गुणा घटाता हुआ नीम, कांजी के समान अनुभाग होता है।

अधःप्रवृत्तिकरण (यथाप्रवृत्तिकरण) वाला जीव आत्म-परिणामों के विशुद्धि के कारण राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि तक पहुँच जाता है किन्तु उसे भेद नहीं सकता। इसको ग्रंथिदेश-प्राप्ति कहते हैं, लेकिन राग-द्वेष की यह मजबूत ग्रंथि तोड़ नहीं पाते इसलिये वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं कर सकते, अतः हमेशा प्रथम गुणस्थान में ही रहते हैं।

(ब) अपूर्वकरण—अधःप्रवृत्तिकरण अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है। उसके पश्चात् दूसरा अपूर्वकरण होता है। इसमें प्रथम समय के परिणाम की अपेक्षा दूसरे समय की परिणाम-विशुद्धि अनंत गुणा होती है। प्रतिसमय परिणामों की अपूर्वता के कारण यह अपूर्वकरण कहलाता है।

अनेक भव्य जीव विशुद्ध परिणामों से राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़कर लाँघ जाते हैं और दूसरे अपूर्वकरण में प्रविष्ट होते हैं। प्रतिसमय अनंत गुणा विशुद्धि के प्रभाव से जिनको भूतकाल में कभी भी, किसी भी समय नहीं हुई ऐसी अपूर्व अग्र चार बातें होती हैं—

(१) **स्थितिघात**—इसमें कर्मस्थिति के अग्र भाग से उत्कृष्ट अनेक सागरोपम प्रमाण, जघन्य से पल्योपम में असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति खण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल में घात होता है और उन दलिकों के नीचे स्थिति का घात नहीं होता है, वहाँ प्रक्षेप किया जाता है जिससे बँधी हुई स्थिति कम होती है।

(२) **रसघात**—बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को आत्मा के विशुद्ध परिणामों के योग से मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुण-श्रेणी**—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया उनको उदय समय से अन्तर्मुहूर्त काम में प्रति समय असंख्यात गुण—असंख्यात् गुण स्थापित कर देना गुण-श्रेणी है। इससे पल्योपम, सागरोपम स्थिति के कर्म अन्तर्मुहूर्त में उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं।

(४) **अपूर्वस्थितिबंध**—पूर्व की अपेक्षा अत्यंत अल्प स्थिति के कर्मों का बँधना अपूर्वस्थितिबंध है। आत्मा के विशुद्ध परिणामों से नवीन कर्मों की स्थिति अल्प बँधती है।

इस प्रकार अपूर्वकरण में अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनंत गुणा कम होता है और शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनंत-अनंत गुणा बुद्धि पाता है।

(स) **अनिवृत्तिकरण**—अपूर्वकरण का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने के पश्चात् तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। अनिवृत्तिकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस कारण को प्राप्त करने के बाद जीवात्मा सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना नहीं रहता। इस करण में भी स्थितिघातादि पूर्वोक्त चार बातें चालू रहती हैं। प्रतिसमय अनंत गुणा विशुद्ध परिणाम, परिणामों के विशुद्धि के कारण जीवात्मा अंतःकरण में प्रवेश करता है। वहाँ मिथ्यात्व के दलिक नहीं होने से जीव को औपशमिक सम्यक्त्व होता है। मिथ्यात्व का महान् रोग मिट जाने से जीव को ऐसा आनंद आता है जैसे भयंकर रोगी को स्वस्थ होने पर आता है। सम्यक्त्व का स्पर्श होते ही पूर्वोक्त स्थितिघातादि के साथ **पाँचवाँ 'गुण संक्रमण'** प्रारम्भ हो जाता है, जिससे यह जीवात्मा मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को मिश्र मोहनीय या सम्यक्त्व मोहनीय में, मिश्र मोहनीय को सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रमित करता है। जिसमें दर्शन मोहनीय त्रिक (मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक् मोहनीय) एवं अनंतानुबंधी चौक (अनंतानुबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ) इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से जीवात्मा क्षायिक, उपशमिक या क्षयोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

□ **किन कारणों से होती है इस गुणस्थान की प्राप्ति ?**

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की प्राप्ति जिन सात प्रकृतियों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से होती है, इन सात प्रकृतियों में से—

- (१) चार अनंतानुबंधी प्रकृतियों का क्षय हो और शेष तीन का उपशम हो, या
- (२) पाँच का क्षय और दो का उपशम हो, या
- (३) छह का क्षय और एक का उपशम हो, या
- (४) चार का क्षय, दो का उपशम और एक का वेदन हो, या
- (५) पाँच का क्षय, एक का उपशम और एक का वेदन हो, या
- (६) छह का क्षय और एक का वेदन हो, या
- (७) छह का उपशम और एक का वेदन हो, या
- (८) सातों का उपशम हो, या
- (९) सातों का क्षय हो।

इन नौ में से किसी भी दशा को जीव यदि प्राप्त करे तो वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आयेगा।

बंधुओं ! इन नौ में प्रथम तीन 'क्षयोपशम समकित' कहलाती हैं, चार व पाँच 'क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व' कही जाती हैं, छट्टी है 'क्षायिक वेदक समकित', सातवीं है 'उपशम वेदक समकित', आठवीं है 'उपशम समकित' और नौवीं है 'क्षायिक समकित'।

इनमें से प्रथम तीन 'क्षयोपशम समकित' के भंग हैं, अतः इनमें सम्यक्त्व मोहनीय का उदय रहता है।

इस गुणस्थान में गति—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का जानकार होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता है।

यदि जीव का यह सम्यक्त्व बना रह जाए तो वह ७-८ अर्थात् १५ भव करके मोक्ष जा सकता है।

यदि वह सम्यक्त्व से यहाँ गिर जाये तो भी देशोन अद्ध-पुद्गल परावर्तन काल में तो मोक्ष जाता ही है।

देशोन अद्ध-पुद्गल परावर्तन काल का अर्थ है—असंख्यात उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल।

□ सम्यग्दृष्टि बनने का लाभ

इस तरह आत्म-बंधुओं ! यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। नहीं मिली यदि इसे सम्यग्दृष्टि तो उसका भव-भ्रमण अनन्तकाल तक चलता रहेगा। मिल जाये

यदि सम्यक्त्व तो उसका संसार परीत हो जायेगा, सिमट जायेगा, मर्यादित बन जायेगा। अनंत से संसार-परिभ्रमण काल असंख्यात की मर्यादा में आ जायेगा।

□ जीव कब बनता है सम्यग्दृष्टि ?

मोहनीय कर्म की अट्टाईस प्रकृतियों में दर्शन मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ हैं। जब जीव दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों, अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के साथ चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप अनंत कषाय चतुष्क कुल सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है तो जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

□ देशोन अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन

मान लीजिए एक व्यक्ति पर एक करोड़ रुपए का कर्ज है। वह धीरे-धीरे, पूरी मेहनत करके अपनी ऋण-राशि में से निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे रुपए और पचास पैसे चुका देता है। अब चुकाने योग्य ऋण-राशि रहती है सिर्फ पचास पैसे। सम्यक्त्व-प्राप्ति पर जो संसार-परिभ्रमण शेष बचता है। वह इन पचास पैसों के समान मानना चाहिए। सर्वज्ञों ने इस पचास पैसे के ऋण जितने काल को देशोन अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन काल, अर्थात् असंख्यात अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के समकक्ष बताया है।

इस गुणस्थान में आया हुआ जीव देव, गुरु, धर्म में दृढ़ आस्था रखता है, संयम-पथ को श्रेयस्कर मानता है और नवकारसी, पोरसी, उपवास, अठाई, मासक्षमण, वर्षीतप आदि को करने योग्य जानता है, इन सभी पर विश्वास भी होता है उसे, वह इनकी प्ररूपणा भी करता है, पर अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय से इनका पालन नहीं कर पाता, देशविरति भी नहीं बन सकता, अतः इसे अविरति सम्यग्दृष्टि कहा गया है। वासुदेव श्रीकृष्ण का आगमोल्लेखित उदाहरण से यह स्पष्ट है।

अरिहंत अरिष्टनेमि को वन्दना कर श्रीकृष्ण चिन्तन करते हैं कि धन्य हैं जालि, मयालि, उवयालि आदि राजकुमार जिन्होंने संसार के भोगों को त्यागकर विरति के पथ पर कदम रखे। मैं अधन्य हूँ, अकृतपुण्य हूँ, क्योंकि मैं चाहते हुए भी संयम-पथ अंगीकार नहीं कर सकता, व्रत-प्रत्याख्यान धारण नहीं कर सकता।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रत-प्रत्याख्यान, संयम-ग्रहण को श्रेयस्कर मानकर धारण करना चाहते हैं, धारण करने वालों को धन्य समझते हैं, श्रेयस्कर समझकर अन्य-अन्य संयमी आत्माओं का, त्यागियों का, व्रतधारियों का अनुमोदन करते हैं।

पूर्व में यदि आयुष्य का बंध नहीं हुआ हो तो इस गुणस्थान में—(१) नरक, (२)तिर्यञ्च, (३) भवनवासी देव, (४) वाणव्यंतर, (५) ज्योतिषी देव, (६) स्त्रीवेद, और (७) नपुंसकवेद—इन सात बोलों का बंध नहीं होता।

पूर्व में बंध हो गया हो तो निश्चित ही उसे भोगना होता है। यथा—महाराजा श्रेणिक का पूर्व में नरकायुबंध हो चुका था, अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होते हुए भी उन्हें नरक का आयुष्य भोगना पड़ा।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट छियासठ सागरोपम झाड़ेरी है।

(५) देशविरति श्रावक गुणस्थान—मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर वहाँ तक पहुँचने के लिए जिन चौदह सीढ़ियों को पार करना होता है, 'देशविरति' उनमें से पाँचवीं सीढ़ी है। जीव जब दर्शन मोहनीय की तीन तथा चारित्र मोहनीय की आठ (अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क) इस तरह कुल ग्यारह प्रकृतियों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय कर लेता है, तब वह इस पंचम गुणस्थान में प्रविष्ट होता है।

'देशविरति' नामक इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क उदय में रहता है, अतः पंचम गुणस्थानवर्ती जीव त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान को श्रेष्ठ और जीवन—श्रेयस्कर जानते—मानते हुए भी उनको पूर्णतः अंगीकार नहीं कर सकता, देशतः ही स्वीकार कर पाता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता, नवकारसी, पोरसी, उपवास, अठाई आदि से मासक्षमण, छह मासी आदि तप एवं वर्षीतप आदि का साधक, श्रावक के बारह व्रतों में से एक या एकाधिक व्रत, अर्थात् बारह व्रतधारी तक बन सकता है। वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का धारक भी हो सकता है। इन सबका सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ वह देशतः आत्म-साधना कर लेता है।

अंतिम समय में पंचम गुणस्थानवर्ती संलेखना-संधारा धारण कर अपने मरण को महोत्सव बना सकता है।

इस गुणस्थान में जीव जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट पन्द्रह भव में मोक्ष चला जाता है। आनंद, कामदेव आदि जिन दस श्रावकों का उल्लेख उपासकदशांगसूत्र में वर्णित है, वे सभी पंचम गुणस्थानवर्ती थे, वे एकभवावतारी बने और तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

यदि इस गुणस्थान में रहते हुए जीव प्रत्याख्यानावरणीय कषाय-चतुष्क का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है तो वह सीधे सातवें—“अप्रमत्त संयत गुणस्थान” में चढ़ जाता है।

इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति देशोन क्रोड पूर्व की है।

विशेष—यह ध्यान रखना चाहिए कि तीर्थकर इस गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान—इसे 'सर्वविरति' और 'पडिवाई' गुणस्थान भी कहा जाता है। इस गुणस्थान में आने वाला जीव कुल पन्द्रह मोहनीय प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करता है। वे पन्द्रह प्रकृतियाँ हैं—दर्शन मोहनीय की तीन तथा चारित्र मोहनीय की अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय व प्रत्याख्यानावरणीय—तीनों ही कषाय-चतुष्क की बारह, कुल पन्द्रह। ऐसे जीव के स्वरूप विशेष को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं।

जीव सातवें गुणस्थान से गिरकर ही छठे में आता है। छठा गुणस्थानवर्ती जीव संयत होता है, पंच महाव्रतधारी होता है, पर मद, विषय, कषाय, निन्दा, विकथा—इन पाँच प्रकार के प्रमाद का सेवन करने से वह प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती होता है।

प्रमत्त संयत पाँच महाव्रतों का पालन करता है, पाँच इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है, चार कषायों का शमन कर उन्हें क्षीण बनाता है, भाव, करण, योग, सत्य आदि सत्ताईस गुणों का धारक होता है। उपाध्याय, आचार्य आदि पद पर विभूषित होने से अन्य अनेक विशिष्ट गुण भी इनमें आ जाते हैं।

प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीव नौ तत्त्वों तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानते हैं, श्रद्धा रखते हैं, प्ररूपणा करते हैं और पालन करते हैं। नवकारसी से छह मासी तक तपाराधन को निर्जरा का हेतु समझकर यथाशक्ति करते हैं। सत्रह प्रकार का संयम पालने के कारण इन्हें 'साधु', 'श्रमण', 'निर्ग्रन्थ' आदि कहा जाता है।

प्रमत्त संयत स्व एवं पर का कल्याण चाहने वाले, करने-कराने वाले, आत्म-कल्याण-पथ दर्शाने वाले होते हैं।

इस गुणस्थान के जीव जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट सात-आठ भव, कुल पन्द्रह भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

छठे व सातवें गुणस्थान के जीवन में उतार-चढ़ाव अनेक बार आते हैं।

इस गुणस्थान में जीव की जघन्य स्थिति एक समय की तथा उत्कृष्ट स्थिति देशोन करोड़ पूर्व की है।

(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान—प्रमत्त संयत की ही भाँति इसमें भी मोहनीय कर्म की पन्द्रह प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करने वाला जीव प्रविष्ट करता है। विशेष यह कि इसमें संज्वलन कषाय-चतुष्क व नोकषाय का मन्द उदय रहता है।

इस गुणस्थान वाला जीवादि नव तत्त्वों का—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का जानकार होता है, नवकारसी आदि तप को जानता है, श्रद्धा करता है, प्ररूपणा करता है और फरसता है।

अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीव मद, विषय, कषाय, निन्दा, विकथा—इन पाँच प्रमादों का सेवन नहीं करने से अप्रमत्त कहलाते हैं। वे हर समय ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहते हैं। उनके स्वरूप विशेष को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसके बाद अप्रमत्त संयत या तो आठवें गुणस्थान को प्राप्त करता है या पुनः छठे में चला जाता है।

इस गुणस्थान का जीव जघन्य उसी भव में, मध्यम तीसरे भव में और उत्कृष्ट सात-आठ भव, कुल पन्द्रह भव में मोक्ष चला जाता है।

(८) निवृत्ति बादर गुणस्थान—अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती आत्मा की जब अनंतानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इन त्रिचतुष्क रूप बादर कषायों से निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था-विशेष को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इसी गुणस्थान में आत्मा की विशिष्ट योगी रूप अवस्था प्रारम्भ होती है। इसी गुणस्थान में सभी अशुभ प्रकृतियों का स्थितिघात, रसघात (अनुभागघात) गुणश्रेणी व गुण संक्रमण होता है।

इस गुणस्थान में आकर जीव शुक्लध्यानी बन अपूर्वकरण की स्थिति में पहुँच जाता है। अपूर्वकरण का तात्पर्य यहाँ ऐसे शुभ एवं उत्कृष्ट परिणामों से है, जैसे परिणाम पूर्व में कभी न आये हों। इसे इसी कारण अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं।

जीव इन्हीं परिणामों में इस गुणस्थान में श्रेणी प्रारम्भ करता है। वह श्रेणी दो प्रकार की होती है—क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी। उपशम श्रेणी प्रतिपाती है और क्षपक श्रेणी अप्रतिपाती।

उपशम श्रेणी करने वाला जीव पूर्वोक्त पन्द्रह प्रकृतियों के साथ नोकषाय की छः अर्थात् रति, अरति, हास्य, भय, शोक और दुगुंछ (जुगुप्सा), कुल इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करके नौवें गुणस्थान में पहुँचता है।

क्षपक श्रेणी करने वाला जीव पूर्व में कही गई इक्कीस प्रकृतियों का क्षय करके नवम गुणस्थान में प्रवेश करता है।

इस गुणस्थान में सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में विसदृश्यता होती है। उपशम श्रेणी वाला जीव दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर पुनः नीचे गिरता है, जबकि क्षपक श्रेणी

वाला जीव दसवें गुणस्थान से ग्यारहवें में नहीं जाकर सीधे बारहवें गुणस्थान में प्रवेश पा जाता है।

इस गुणस्थान में स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

(१) अनिवृत्ति बादर गुणस्थान—संज्वलन कषाय-चतुष्क से निवृत्त न होने तथा इस चतुष्क के उदय में रहने के कारण यह गुणस्थान अनिवृत्ति बादर कहा गया है। आठवें और नवमें गुणस्थान के नाम सापेक्ष कथन की अपेक्षा से है। इस नौवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाला जीव पूर्वोक्त इक्कीस तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया व स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, इन कुल सत्ताईस प्रकृतियों का क्षय करके दसवें गुणस्थान में जाता है और उपशम श्रेणी वाला इन्हीं सत्ताईस प्रकृतियों को उपशम करके दसवें गुणस्थान में जाता है। इस गुणस्थान में सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में भिन्नता नहीं होती, समानता ही होती है।

अनिवृत्ति बादर गुणस्थानवर्ती जीव सरल स्वभावी तथा अवेदी हो जाता है, अतः वह जघन्य उसी भव में अन्यथा उत्कृष्ट तीन भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते हैं।

(१०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थान—मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में मात्र संज्वलन का सूक्ष्म लोभ ही उदय और सत्ता में रहने के कारण इस गुणस्थान को सूक्ष्म संपराय गुणस्थान कहते हैं। जिस प्रकार धुले हुए कच्चे गुलाबी रंग के कपड़े में थोड़ी-सी गुलाबी झलक रह जाती है, उसी प्रकार यह गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है। उपशम श्रेणी वाला जीव पूर्वोक्त सत्ताईस तथा संज्वलन के लोभ, कुल अट्ठाईस ही प्रकृतियों का उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है।

क्षपक श्रेणी वाला जीव पूर्वोक्त सत्ताईस तथा अट्ठाईसवीं संज्वलन लोभ की, इन अट्ठाईस ही मोहनीय प्रकृतियों का क्षय कर देता है और दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।

इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। सूक्ष्म संपराय गुणस्थानवर्ती जीव अव्यामोह, अविभ्रम की स्थिति में आ जाता है, अतः जघन्य उसी भव में या उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्षपक श्रेणी अबद्ध आयुष्य वाला उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

(११) उपशान्त मोहनीय गुणस्थान—मोहनीय की अट्ठाईस ही प्रकृतियों को उपशान्त करने की जीवदशा का नाम है—“उपशांत मोहनीय गुणस्थान।” इस गुणस्थान में आकर जीव यथाख्यात चारित्र का स्पर्शन कर लेता है, अतः यदि वह इसी गुणस्थान स्थिति में काल करे तो उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाला अनुत्तर वैमानिक देव बनता है।

यदि इस गुणस्थान की स्थिति पूर्ण करता है तो उसका नीचे गिरना निश्चित है, क्योंकि इस गुणस्थान की स्थिति कुछ ऐसी है जैसे कोठरी में कोठरी, फिर उस कोठरी में भी कोठरी और फिर उस कोठरी में भी आगे कोठरी ही हो। आगे कोई रास्ता नहीं मिलने से वह यहाँ की स्थिति पूर्ण होने पर दसवें गुणस्थान में आ जाता है जहाँ सूक्ष्म लोभ का उदय हो जाता है। क्योंकि संज्वलन लोभ जो राख में दबी चिनगारी की तरह उपशांत था, राख उड़ने से वह चिनगारी के प्रकट होने की तरह उदय में आ जाता है। इस तरह वह दसवें से नौवें में फिर आठवें में आ जाता है। आठवें गुणस्थान में आकर भी असावधान रहे तो नीचे गिरता हुआ क्रमशः सातवें व छठे गुणस्थान में जा सकता है। ग्यारहवें गुणस्थान में चढ़ते वक्त जिन-जिन प्रकृतियों का उपशम किया था, गिरते समय वे प्रकृतियाँ पुनः उदय में आ जाती है।

भगवतीसूत्र में शतक ९ के उद्देशक ३१ के अनुसार ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा हुआ उपशम श्रेणी वाला जीव पुनः उसी भव में क्षपक श्रेणी नहीं करता है, क्योंकि जीव जिस भव में उपशम करता है, उसी भव में वह क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता। कर्मग्रन्थ की मान्यता इससे भिन्न है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जीव उसी भव में आठवें गुणस्थान में आकर क्षपक श्रेणी कर सकता है और पुनः ऊपर चढ़ते हुए जाता है।

यह जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाये तो उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध-पुद्गल परावर्तनकाल में तो मोक्ष प्राप्त करता ही है।

(१२) क्षीण मोहनीय गुणस्थान—जहाँ मोहनीय कर्म क्षीण हो जाये, अर्थात् पूर्ण रूप से क्षय हो जाये उस दशा को ‘क्षीण मोहनीय गुणस्थान’ कहते हैं। दसवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाला जीव अन्तिम समय में मोहनीय कर्म के संज्वलन लोभ का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में आ जाता है।

इस गुणस्थान की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय में जीव शेष तीन घाति (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अन्तराय) कर्मों का क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में चला जाता है।

(१३) सयोगी-केवली गुणस्थान—चारों घाति कर्मों के क्षय हो जाने से सयोगी-केवली गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन 'केवलज्ञानी' कहलाते हैं। ये योग (मन, वचन, काय) सहित होते हैं, अतः सयोगी कहे जाते हैं। ऐसे स्वरूप विशेष को सयोगी-केवली गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ आने पर जीव निम्न दस विशेष गुणों का धारक बन जाता है—

अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञानी जीव अनन्त दानलब्धि, अनन्त लाभलब्धि, अनन्त भोगलब्धि, अनन्त उपभोगलब्धि और अनन्त वीर्यलब्धि के धारक बन जाते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से उसे केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है और मोहनीय कर्म के क्षय से उसे प्राप्त हो जाते हैं—क्षायिक-समकित, शुक्लाध्यान और यथाख्यात-चारित्र।

तेरहवें गुणस्थान में साधारण केवली के अतिरिक्त अरिहंत भगवन्त भी होते हैं। सामान्य केवली की अपेक्षा उनमें आठ महाप्रातिहार्य विशेषाधिक पाये जाते हैं। वे आठ महाप्रातिहार्य हैं—(१) अशोक वृक्ष, (२) कुसुम वृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) भामण्डल, (७) देव-दुंदुभि, तथा (८) छत्र।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति देशोन करोड़ पूर्व की होती है।

आचार्यों ने यहाँ देशोन का अर्थ 'कुछ कम' किया है।

महामन्त्र के प्रथम पद में इन्हीं अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है। अरिहंत भगवन्त ही जिनवाणी के प्रथम प्रकाशक होते हैं। उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान ही धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कर प्राणीमात्र को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करता है।

ये ही अरिहंत भगवन्त तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शुक्लध्यान के तृतीय पाद सम्मुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती के ध्याता बन मन, वचन एवं काया के समस्त योगों, व्यापारों का पूर्ण निग्रह कर श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं और अपने आयुष्य के अन्तिम भाग में जब आयुष्य के अन्त होने में केवल पाँच ह्रस्व अक्षर अ, इ, उ, ऋ और लृ उच्चारण करें—उतना समय शेष रहता है तब शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद सम्मुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान को ध्याते हुए आयोगी-केवली गुणस्थान नामक चौदहवें और अन्तिम गुणस्थान में प्रविष्ट कर जाते हैं।

(१४) अयोगी-केवली गुणस्थान—जो जीव चार घाति कर्मों को क्षय कर मन, वचन और काया के समस्त योगों का पूर्ण निग्रह कर लेते हैं वे अयोगी—केवली कहलाते हैं। इस गुणस्थान की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति पाँच ह्रस्व अक्षर जो अभी बताए गये थे, उच्चारण करने जितने समय मात्र की होती है।

इन पाँच अक्षरों के उच्चारण—अवधि जितने काल में आयोगी-केवली गुणस्थानवर्ती सुमेरु की तरह शैलेशी, अटल, निश्चल बन शेष बचे चार अघाति कर्मों—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म को क्षय कर लेते हैं तथा औदारिक, तेजस् व कार्मण—इन तीनों शरीरों का त्याग कर अस्पृश्यमान गति, अर्थात् बिना किसी पुद्गल का स्पर्श किए ऋजु अर्थात् सीधी सरल गति से, एक समय की अमोड़ वाली गति से अन्य आकाश-प्रदेशों का अवगाहन किए बिना सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं।

वह सिद्धगति जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, वहाँ वे उसी तरह समा जाते हैं जैसे ज्योति में ज्योति समा जाती है। अमूर्तिक गुण के कारण वहाँ परस्पर एक-दूसरे सिद्ध की स्थिति का विरोध संभाव्य नहीं, अतः कहा भी है—

एक मांहि अनेक राजे, अनेक मांहि एकैकं ।
एक-अनेक की नांहि संख्या, नमो सिद्ध निरंजनं ॥

□ धन धन्नो अणगार

जिन महापुरुषों ने साधना का पथ ग्रहण कर जीव-विकास की इन चौदह गुण श्रेणियों पर चढ़ते हुए, निरन्तर विकास करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर—पहले मोहनीय फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय का क्षय किया व योगों का निरोध कर अयोगी बन अष्ट कर्म क्षय कर मोक्ष पधारे, उन्हें तथा जो महापुरुष साधनाकाल में संलेखना-संथारापूर्वक मोहनीय की उपशांत अवस्था में कालधर्म को प्राप्त हो गये या उत्कृष्ट चारित्र धर्म की आराधना कर मोक्ष जायेंगे उन्हें आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी चमत्कारी आध्यात्मिक सृजना—‘बड़ी साधु वंदना’ में अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक वन्दन-नमन किया है। उन्हीं महापुरुषों की शृंखला में नाम आया है ‘धन्ना मुनि’ का, जिनकी स्वयं सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपने श्रीमुख से प्रशंसा की और उन्हें श्रेष्ठ तपस्वी संत बताया।

काकन्दी नो धन्नो, तजी बत्तीसों नार।
 महावीर समीपे, लीधो संघम भार ॥ ८० ॥
 करी छठ-छठ पारणा, आर्यबिल उज्झित आहार।
 श्री वीर बखाण्यो, धन धन्नो अणगार ॥ ८१ ॥
 एक मास संधारे, सर्वार्थसिद्ध पहूंत।
 महाविदेह क्षेत्र मां, करसे भवनो अंत ॥ ८२ ॥

□ श्री वीर बखाण्यो

भगवान महावीर के चौदह हजार साधु थे। जब राजा श्रेणिक ने प्रभु से प्रश्न किया कि भगवान आपकी इस उत्कृष्ट साधु-सम्पदा में भी सर्वोत्कृष्ट साधु कौन हैं जो महादुष्कर तपकारक और महानिर्जराकारक हों? तब प्रभु महावीर ने धन्ना अणगार की प्रशंसा करते हुए उन्हें इन्द्रभूति प्रमुख चौदह हजार श्रमण-समुदाय में महादुष्कर तपकारक और महानिर्जराकारक बताकर उपस्थित परिषदा में अपने श्रीमुख से उनकी प्रशंसा की।

□ बत्तीस श्रेष्ठी-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण

धन्ना अर्थात् धन्यकुमार काकन्दी नगरी के थे। इस सुसम्पन्न एवं सभी तरह से समृद्ध नगरी का राजा था जितशत्रु। इसी नगरी में भद्रा नाम की एक सार्थवाही रहती थी। वह स्वयं लेन-देन का धंधा करती थी। धन-वैभव सम्पन्न थी। वह दयालु एवं उदार थी। समाज में उसका सम्मान था।

भद्रा सार्थवाही का लड़का था—धन्यकुमार। बाल्यकाल से संधिवय की ओर बढ़ते हुए धन्यकुमार ने पुरुषोचित समस्त विद्याओं का अध्ययन किया और उनमें सिद्धहस्त बना। युवावस्था प्राप्त होने पर उसकी माता भद्रा सार्थवाही ने उसका एक दिन में बत्तीस कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। ये सभी कन्याएँ श्रेष्ठियों की पुत्रियाँ थीं। प्रत्येक कन्या के यहाँ से उसे दहेज में बत्तीस-बत्तीस कोटि हिरण्य, सुवर्ण, स्वर्ण-मुकुट, कुण्डलयुग्म, हार आदि मिले।

वह धन्यकुमार इन सभी के साथ अपने ऊँचे-ऊँचे दिव्योपम प्रासादों में मधुर संगीत, वाद्ययन्त्र आदि सुनते हुए सुखभोगों में लीन बन गया।

□ आत्म-कल्याण की कला बिना सारी कलाएँ व्यर्थ

एक बार श्रमण भगवान महावीर काकन्दी नगरी में पधारे। प्रभु के दर्शन के लिए नगरी के प्रजाजन गये। नगरी का राजा जितशत्रु भी अपने राज्य-परिवार, राज्याधिकारियों व

नौकर-चाकर, दास-दासियों के साथ गया। धन्यकुमार भी पैदल चलकर वहाँ गया। प्रभु ने देशना दी। जन्म-मरण का अनादि चक्र, संसार की असारता, धन-धान्य, महल-राज्य-वैभव की असारता व नश्वरता आदि पर था प्रभु का सन्देश। सुना धन्यकुमार ने और विचार किया—‘मैंने बहुत सारी विद्याएँ सीखीं, पुरुषोचित बहत्तर कलाओं को सीखा, पर उसमें ये सारी बातें तो बताई ही नहीं गईं। इस आत्म-कल्याण की कला बिना तो सारी विद्याएँ, समस्त कलाएँ व्यर्थ हैं।’

□ धन्ना को वैराग्योत्पत्ति

धर्मोपदेश सुनकर, उसे हृदय में धारण करके धन्यकुमार बहुत हर्षित हुआ। प्रभु को वन्दन कर उसने कहा—“हे भगवन्! मैं आपके वचनों पर प्रतीति करता हूँ, विश्वास करता हूँ, श्रद्धा करता हूँ। मैं अपनी माता भद्रा सार्थवाही से आज्ञा प्राप्त कर आपसे दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ।”

□ “जैसा सुख हो वैसा करो” का भावार्थ

धीर-गम्भीर स्वर में प्रभु ने कहा—“हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, धर्मकार्य में समय-मात्र भी प्रमाद मत करो।”

आपको गुरुदेव कह दें कि जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो तो आप क्या करेंगे? लग जायेंगे व्यापार-धंधे में, सांसारिक कार्यों में। आपका तो सुख इसी में है। कारण—आपने सुख को अभी समझा ही नहीं, जाना ही नहीं। बन्धुओं! भौतिक, सांसारिक, शारीरिक सुख की दृष्टि को बदलिए, आत्मा के सुख का चिन्तन करिए। प्रभु ने कहा कि धर्मकार्य में विलम्ब मत करो। आपको भी विलम्ब नहीं करना है। श्रावक हैं, अतः आत्म-सुख के लिए श्रावक के व्रतों को धारण कर उनका समुचित पालन करिए। अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं और कामनाओं को मर्यादित करिए और अधिक सीमित बनाइए इन्हें और तब तक मर्यादित करते रहिए, जब तक सर्वथा त्याग की भावना न बन जाये।

□ दीक्षानुमति मिलना सहज नहीं

धन्यकुमार अपने घर आता है और माता भद्रा सार्थवाही से दीक्षा के लिए अनुमति देने की प्रार्थना करता है। कोई भी माता-पिता अपने पुत्र को संसार-विमुख देखकर एक बार तो दहलते ही हैं। उनके अपने अनेक स्वार्थ हैं जिनके कारण वे दीक्षा की एकदम आज्ञा नहीं दे पाते। आज भी कौन माता-पिता दीक्षा के लिए अपने पुत्र-पुत्री को एक बार में आज्ञा देते हैं? बड़ी मुश्किल से, बहुत देर से मिलती है आज्ञा। विचार हो किसी का तो अभी से आज्ञा

के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देना तब कहीं दो-चार मास बाद और कभी-कभी तो एक या दो वर्षों बाद आज्ञा मिल पाएगी।

□ माता का पुत्र को संसार में उलझाने का प्रयत्न

बन्धुओं! धन्यकुमार की माता पुत्र के मुँह से निकले इस तरह के अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, अश्रुतपूर्व, मनाघातकारी वचन सुनकर मूर्च्छित हो गई। जब होश आया तो वह रोती हुई, आक्रन्दन करती हुई, शोक करती हुई और विलाप करती हुई धन्यकुमार से बोली—“हे पुत्र! तू मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनगमता, ममाधार, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत, रत्नाभूषण-मंजूषा सदृश, जीवित व्यक्ति के उच्छ्वास की भाँति, हृदयानन्दकारी एक ही पुत्र है। गूलर के फूल के समान तेरा नाम श्रवण भी दुर्लभ है तो तेरा दर्शन दुर्लभ हो, इसमें तो कहना ही क्या? अतः हे पुत्र! तेरा वियोग मुझसे एक क्षण भी सहन नहीं हो सकता। इसलिए जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक घर में ही रहकर कुल-वंश की अभिवृद्धि कर। जब मैं कालधर्म को प्राप्त हो जाऊँ और तुम्हारी उम्र परिपक्व हो जाये, तब कुल-वंश की वृद्धि करने के पश्चात् तुम अणगार धर्म स्वीकार कर लेना।”

□ “कुण जाणे मृत्यु किण दिन आसी”—धन्ना का प्रत्युत्तर

माता के मुँह से निकले इन वचनों को सुनकर धन्यकुमार ने कहा—“हे माता! यह मनुष्य-जीवन जन्म, मरण, रोग, शोक, व्याधि आदि अनेक शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की आत्यंतिक वेदना तथा सैकड़ों व्यसनों से पीड़ित है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। संध्याकालीन रंगों के समान, पानी के बुलबुले के समान, कुशाग्र पर रहे हुए जलबिन्दु, अर्थात् ओस के समान, स्वप्न-दर्शन के समान तथा बिजली की चमक के समान चंचल और अनित्य है। सड़ना, पड़ना, गलना और विनष्ट होना इसका धर्म, इसकी प्रकृति, इसका स्वभाव है। इसे पहले या पीछे एक दिन तो अवश्य छोड़ना पड़ता है, अतः हे माता! हममें से कौन पहले जायेगा और कौन पीछे, यह निर्णय कौन कर सकता है?”

बन्धुओं! कितना दार्शनिक, सारगर्भित, सारपूर्ण तथ्य है, इन वचनों में। एक कवि ने कहा है—

काई रे गुमान करे अपणो!
 कुण जाणे मृत्यु किण विध आसी,
 तो ओ घर छोड़ किसे घर जासी,
 काई रे गुमान करे अपणो!

मान करेला, गुमान करेला,
तो नीच गति मांहि जाय पड़ेला।
कांई रे गुमान करे अपणो ॥

□ दीक्षानुमति की प्राप्ति

धन्यकुमार की माता ने अनेक प्रलोभन दिए, कई प्रकार की परीक्षाएँ लीं, अपने वात्सल्य का वास्ता दिया, बत्तीस-बत्तीस वधुओं की ओर संकेत कर उनकी मोहनी में पुत्र को उलझाना चाहा, पर जब देखा कि यह अपने विचारों में पक्का है, संसार के कीचड़ में फँसने वाला नहीं है, तब विवश माता भद्रा सार्थवाही ने धन्यकुमार को दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर दी।

□ दीक्षा-महोत्सव की तैयारी

दीक्षा-महोत्सव की तैयारियाँ प्रारम्भ हुईं। जैसे थावच्चा-पुत्र की माता अपने पुत्र की दीक्षा के लिए महाराज श्रीकृष्ण से छत्र, चँवर आदि माँगने के लिए जाती है, वैसे ही भद्रा सार्थवाही भी राजा को देने योग्य वस्तुएँ भेंट में देने के लिए लेकर राजा जितशत्रु की राज्यसभा में जाती है। राजा को भेंट देकर अपने पुत्र की दीक्षा लेने की बात बताती है और दीक्षा-महोत्सव के लिए राजा के छत्र, चँवर और रथ आदि की याचना करती है।

राजा जितशत्रु धन्यकुमार के दीक्षा लेने की बात भद्रा सार्थवाही के मुख से सुनकर कहते हैं—“देवानुप्रिय! तुम निश्चिन्त रहो। धन्यकुमार की दीक्षा का सम्पूर्ण उत्सव मैं स्वयं आयोजित करूँगा।”

□ दीक्षा-महोत्सव

अत्यन्त राजसी शान के साथ दीक्षा-महोत्सव का आयोजन हुआ। राजा जितशत्रु ने समस्त आयोजन स्वयं किया। सारा आयोजन वैसा ही किया गया जैसा कि वासुदेव श्रीकृष्ण ने थावच्चा-पुत्र की दीक्षा पर किया था, जो आपने पूर्व प्रवचनों में सुना है।

□ अभिग्रह धारण

धन्यकुमार ने स्वयं अपना पंचमुष्टिक लोच किया। प्रभु ने उसे दीक्षा-मंत्र प्रदान कर अपने साधु-संघ में सम्मिलित किया। प्रव्रजित ये होकर धन्यकुमार ‘धन्ना अणगार’ बन गये। जिस दिन वे प्रव्रजित हुए, उसी दिन प्रभु को वन्दन कर धन्ना मुनि ने कहा—“प्रभु! मैं जीवन-पर्यन्त षष्ठ भक्त तप, अर्थात् बेला तप तथा पारणे में आर्यंबिल करना चाहता हूँ। आर्यंबिल में

भी मैं उज्झित आहार ही ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ। आप यदि आज्ञा दें तो मैं अपना संकल्प प्रारम्भ करूँ।”

प्रभु ने धन्य अणगार से कहा—“हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुखकर हो वैसा करो।”

□ उज्झित आहार का पारणा

बन्धुओं ! कैसा उत्कृष्ट तप! प्रथम बात तो यह कि बेले-बेले की तपस्या आजीवन करना। दूसरी बात बेले के पारणे में आयंबिल करना। आयम्बिल भी आज की तरह का नहीं जिसमें विगय तो नहीं होते पर द्रव्य इतने कि सुनकर लगता है जैसे आयम्बिल नहीं, कोई जीमणवार का भोजन है। तीसरी बात आयम्बिल में भी वे लेते थे—‘उज्झित आहार’। इसका अर्थ है ऐसा आहार जो फेंक देने योग्य हो, जिसे लेने से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि और भिखारी तक भी मना कर दे।

□ उत्कृष्ट तप और उत्कृष्ट अनासक्ति

ऐसे उज्झित आहार को भी वे इक्कीस बार अचित्त जल से धोते और वही आहार तथा वही पानी बेले के पारणे में ग्रहण करते। रसना पर कैसा जबरदस्त नियन्त्रण! स्वाद पर कितना भारी कण्ट्रोल! अनशन भी, ऊणोदरी भी, रस-परित्याग भी! विशेष बात यह कि जब धन्ना मुनि पारणे के दिन गोचरी के लिए दिन के तीसरे प्रहर में प्रभु-आज्ञा लेकर उच्च, नीच, मध्यम कुलों में जाते तो मिल जाता, पर आयंबिल योग्य और उनके संकल्पानुसार उज्झित आहार नहीं मिलता। इस पर भी धन्ना मुनि ने अपने मन में इस बात के लिए कभी विषाद या खेद नहीं किया। जो भी मिला उसे वे अनासक्त भाव से ऐसे ग्रहण करते, जैसे सर्प अपने बिल में सीधा ही प्रवेश करता है। संयम-निर्वाह के लिए शरीर को कुछ-न-कुछ खिलाना-पिलाना है, यही दृष्टि थी उनकी। स्वाद के लिए भोजन का तो अभी विचार तक उनके अन्तर् में नहीं आया था।

□ शरीर कृश पर आत्म-बल पुष्ट

कुछ समय पश्चात् प्रभु महावीर ने काकन्दी से विहार किया और अन्य जनपदों में विचरण करने लगे। धन्ना अणगार ने प्रभु के स्थविरों, सन्तों की सेवा करते हुए ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। साथ ही वे विभिन्न जनपदों में विहार-विचरण करते हुए संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करने लगे। अपने उग्र तप के कारण धन्य अणगार शुष्क, रूक्ष, माँसरहित हो गये। चलते समय उनकी हड्डियाँ बजने लगीं, नाड़ियाँ एक-एक कर स्पष्ट दिखने लगीं।

शरीर से कृश होकर भी वे आत्म-बल से पुष्ट थे। वे आत्म-शक्ति से ही चलते थे, खड़े होते थे, बैठते थे। किन्तु तपस्तेज से उनके मुख का तेज अग्नि की तरह प्रदीप्त लगता था।

तप के कारण जब उनके चरण सूखे वृक्ष की छाल की तरह हो गये, पैरों की अँगुलियाँ मूँग की फलियों के समान दिखने लगीं, जाँघें ऐसी हो गईं जैसे किसी टीड की जाँघ हों जिसमें न खून हो, न माँस हो। उनका कटि-प्रदेश, उदर, पसलियाँ, घुटने, उरु-प्रदेश आदि सभी तपाधिकता के कारण पूर्णतः माँस-रक्तरहित से बन गये, उनका पेट पीठ से लग गया, पर आत्म-तेज विस्तार पाता गया।

□ “धन्ना मुनि धन मानव-भव पायो”—प्रभु महावीर

एक बार श्रेणिक ने प्रभु महावीर से कहा—“प्रभु ! आज मैं आपके इन्द्रभूति प्रमुख चौदह हजार साधुओं में जो महादुष्कर तपकारक और महानिर्जराकारक श्रमण हैं, उन्हें विशेष वन्दन-स्तुति करना चाहता हूँ।” प्रभु तब श्रेणिक को जो बताते हैं, उसको कवि ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में काव्यबद्ध किया है—

धन्ना मुनि धन मानव-भव पायो,
श्रीमुख यूँ फरमायो ॥ टेरे ॥

श्रेणिक पूछे, वीरजी भाखे, उत्तम मुनिवर सारा।
रज में तज है तरतम जोगे, अधिक धन्ना अणगारा ॥ १ ॥
श्रेणिक राजा आतमहित काजा, धन्ना मुनि पै आवे।
शीश नमावे, मुख गुण गावे, जोतां तृपति न थावे ॥ २ ॥
नार बत्तीस अपछरा सिरखी, धन है बत्तीस करोड़ो।
जग ने पूठ दीवी मुनिवर जी, शिवपुर सामा दोड़ो ॥ ३ ॥
निरन्तर तपस्या बेले-बेले, पारणे उज्झित आहारो।
वणिमग काग श्वान नहीं वंछे, किम धन्ना कंठ उतारो ॥ ४ ॥
बार इक्कीस जलमांहि धोई ते, अन्न खाय जल पीओ।
ऐसो कठिन तप सुनि उर कंपे, धन धन थारो जीओ ॥ ५ ॥
चवदे हजार मुनीश्वर मांही, आपने वीर बखाण्या।
दर्शन आपको पुणवंत पावे, मैं पिण आज पिछाण्या ॥ ६ ॥
नवमासे शुद्ध संयम पाली, सर्वार्थसिद्ध जावे।
‘रामचंद्र’ कहे ऐसे मुनीश्वर जी, क्योँ नहीं मोक्ष सिधावे ॥ ७ ॥

साधु तो सभी थे, सभी शुद्ध संयम के साधक थे, तपस्वी भी सभी थे, पर रसना पर जैसा नियन्त्रण धन्ना मुनि का था, वैसा सम्भवतः किसी का नहीं था। आहार-पानी मिले या न मिले, रंच मात्र का क्षोभ उनके हृदय में नहीं होता। उत्कृष्ट भाव-उग्र तप में भी हृदय प्रसन्नता से खिला रहता। आसक्ति न भोजन में, न वस्त्रों में, न किसी भी बाह्य पदार्थ में, अपने शरीर से भी आसक्ति हटा दी थी उन्होंने। स्वाभाविक ही था कि सर्वज्ञ प्रभु उन्हें महादुष्कर तपकारक और महानिर्जराकारक बताते।

□ जीने के लिए खाइए : खाने के लिए जीवन मत बिताइए

सुन रहे हैं आप ऐसा दिव्य, आत्म-प्रेरक प्रसंग ! सुनकर चिन्तन उत्पन्न होना चाहिए कि मेरी भोजन में आसक्ति तो नहीं है। यदि है तो उसे घटाइए, मिटाइए। आपका खाना इसलिए होना चाहिए कि आपको जीना है। यदि खाने के लिए जीने का सिद्धान्त अपना लिया तो भटक जायेंगे, दूर-बहुत दूर चले जायेंगे जिन-सिद्धान्तों से, जैन-दर्शन से, प्रभु-वचनों से। दोनों के अन्तर को समझिए, पहचानिए। जो खाने के लिए जीवन जीते हैं, उनका जीवन जीवन नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष मरण है। खाते-पीते भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, पर इसके लिए खाने से आसक्ति हटानी होगी, स्वाद को त्यागना होगा, इस परित्याग को जीवन-व्यवहार का अंग बनाना होगा।

□ संथारा और समाधिमरण

रूक्ष और अत्यन्त कृश शरीर हो जाने पर एक दिन धन्ना अणगार ने मध्य रात्रि में धर्म-जागरण करते हुए विचार किया कि जब तक इस शरीर में थोड़ा-बहुत उत्थान बल, वीर्य, पराक्रम है, तब तक मुझे जीवन की चरम साधना कर अपने लक्ष्य को निकटतर बना लेना चाहिए।

भगवान महावीर से आपृच्छना कर, आज्ञा प्राप्त कर वे धन्ना अणगार विपुलगिरि पर्वत पर जाकर पादपोषगमन संथारे में स्थित हो जाते हैं और आठ भक्त अनशन का छेदन कर समाधिमरण को प्राप्त करते हैं।

विपुलगिरि पर्वत पर उनके साथ आये स्थविरों ने जब देखा कि धन्ना मुनि ने देह-त्याग कर दिया है तो परिनिर्वाण-प्रत्ययक कायोत्सर्ग कर वे मुनि जी के वस्त्र-पात्र आदि उपकरण लेकर प्रभु महावीर की सेवा में पहुँचे। प्रभु को धन्य अणगार के समाधिमरण का वृत्तान्त कहा।

□ सर्वार्थसिद्ध विमान में महर्द्धिक देव बने : सिद्ध बनेंगे

उस समय गौतम स्वामी ने प्रभु के चरणों में विनयभाव से वन्दन कर प्रश्न किया—
“हे भगवन्! धन्ना अणगार समाधिमरण प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न हुए हैं?”

प्रभु बोले—“हे गौतम! नौ मास की दीक्षा-पर्याय का पालन कर एक मास के संधारे के साथ समाधिमरण प्राप्त करने वाले धन्ना मुनि सर्वार्थसिद्धि विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए हैं। वहाँ उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम की है। वहाँ से च्यवन कर धन्ना मुनि का जीवन महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य बन साधना कर सिद्धगति प्राप्त करेगा।”

□ एक सैद्धान्तिक समाधान : इसी भव में मोक्ष क्यों नहीं?

यहाँ जिज्ञासा होती है कि “ऐसे महान् उत्कृष्ट तपस्वी थे धन्ना अणगार, स्वयं प्रभु ने जिन्हें महादुष्कर तपकारक व महानिर्जराकारक बताया, वे इसी भव में मोक्ष क्यों नहीं गये?”

भगवतीसूत्र में उल्लेख आता है कि शाली—गेहूँ आदि धान्य का एक कवलिया (मुट्टी में आवे उतनी डंडीया) काटने में जितना समय लगता है उसे ‘लव’ कहते हैं। ऐसे सात लव परिमाण आयुष्य कम होने से वे विशुद्ध अध्यवसाय वाले साधक मोक्ष में नहीं जा सके, किन्तु सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होने वाले को ‘लव सप्तमा’ देव कहते हैं। मात्र ७ लव आयु कम होने से उन्हें एक भव और करना पड़ता है। ये सभी नियमा एकभवावतारी होते हैं। टीकाकारों ने ४९ उच्छ्वास का १ लव माना है। ७ लव के ३४३ उच्छ्वास होते हैं जो ४ मिनट २० सेकण्ड के आस-पास का समय माना जाता है।

□ सुनक्षत्रकुमार आदि नौ कुमार

धन्ना जी एकभवावतारी बन मोक्ष पधारेंगे। धन्ना जी की तरह ही नव संत और हुए—

अन्ना नी रीते, हुआ नव ही संत।

श्री अनुत्तरोववाई मां, भाखि गया भगवंत ॥८३॥

अनुत्तरोववाई अर्थात् अनुत्तरौपपातिकसूत्र के तीसरे वर्ग के पहले अध्ययन में धन्यकुमार का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। इस वर्ग के नौ अध्ययन और हैं, इन शेष नौ अध्ययनों में सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमात्रिक, पेढालपुत्र, पोटिल्ल और वेहल्ल के वर्णन हैं।

सुनक्षत्रकुमार का वर्णन भी धन्यकुमार की तरह ही जानना चाहिए। वही काकन्दी नगरी, वही जितशत्रु राजा, वही माता भद्रा सार्थवाही। धन्य की तरह पालन, शिक्षा, विवाह। प्रभु महावीर का आगमन, सुनक्षत्रकुमार का दर्शनार्थ धन्य की तरह जाना, दीक्षाभिलाषा,

माता से पृच्छ, माता का मूर्च्छित होना, होश आने पर रोकने का प्रयत्न, विवश हो आज्ञा देना, दीक्षा-महोत्सव की तैयारियाँ, उसी प्रकार माता का राजा के यहाँ छत्र, चँवर, रथ की माँग करना, राजा जितशत्रु द्वारा स्वयं दीक्षा-महोत्सव आयोजन, दीक्षा अंगीकार करना, बेले-बेले तपस्या, पारणे में आयम्बिल का अभिग्रह लेना, उसी तरह अनासक्त भाव से आयम्बिल का आहार जैसे धन्य मुनि लाते व करते थे। ग्यारह अंगों का अध्ययन, निरतिचार संयम-पालन, उत्कृष्ट तपाराधन द्वारा शरीर को अत्यन्त कृश बना लेना, एक मास का संथारा और मोक्ष-प्राप्ति।

अन्तर इतना ही कि धन्यकुमार मुनि ने नौ मास पर्यन्त दीक्षा का पालन किया, जबकि सुनक्षत्र मुनि ने बहुत वर्षों तक संयम पाला।

ऋषिदास से पोटिल्ल तक सभी कुमारों का प्रसंग सुनक्षत्र की तरह ही है। अन्तर यह है कि ऋषिदास और पेल्लक राजगृह के थे, रामपुत्र और चन्द्रिककुमार साकेत के थे, पृष्टिमातृक और पेढालपुत्र वाणिज्यग्राम के थे, पोटिल्ल हस्तिनापुर के थे। इन सभी की माता का नाम भद्रा था। इन सातों ही अणगारों ने अनेक वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन किया।

दसवें वेहल्ल राजगृह के थे। उनकी माता का नाम भी भद्रा ही था। इनके निष्क्रमण के लिए आगम में आया है कि वेहल्ल का निष्क्रमण उसके पिता ने किया, पर पिता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। वेहल्ल की दीक्षा-पर्याय मात्र छह मास की थी।

इन सभी ने एक-एक मास का संलेखना-संथारा किया और सभी का सर्वार्थसिद्ध विमान में उपपात (जन्म) हुआ। ये सभी देव भव से महाविदेह क्षेत्र में मानव-देही बन वहाँ से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

बन्धुओं ! महापुरुषों के इन आदर्श जीवन-प्रसंगों को सुनने के बाद भी जब तक सुनने का कोई फल प्राप्त नहीं होता, तो व्यर्थ है सुनना। सुनकर कुछ-न-कुछ परिवर्तन आना चाहिए जीवन में। अपने जीवन की जो धारा भौतिकता की तरफ आपने अभी मोड़ रखी है, उसे आध्यात्मिकता की ओर मोड़ेंगे, तभी आपका सुनना सफल माना जायेगा और आपके जीवन को सुख-शांति का अनुभव होगा। करेंगे ऐसा तो निश्चय ही एक दिन अव्याबाध सुखों की प्राप्ति कर सकेंगे।

आनंद ही आनंद !



सुखविपाके अधिकार

(सुबाहुकुमार आदि)

सव्वे पाणा, सव्वे जीवा,
सव्वे भूया, सव्वे सत्ता
सुह साया,
दुक्ख पडिकूला !

आत्म-बन्धुओं !

संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे सभी सुख की अभिलाषा रखते हैं। सभी प्राणियों, जीवों, सत्त्वधारियों, भूतों का एक मात्र लक्ष्य है—सुख-प्राप्ति। आप भी सुख प्राप्त करना चाहते हैं और हम भी। नरकगति के जीव भी सुख की कामना करते हैं और देवगति के देव-देवी भी सुख की चाह लिए फिरते हैं। कोई सप्राण जीव ऐसा नहीं मिलेगा जो सुख की इच्छा नहीं करता हो। दुःख-सुख इन दोनों का जोड़ा है, पर दुःख कोई नहीं चाहता, सभी को दुःख अप्रिय है।

□ सुख क्या है, कहाँ है और किसमें हैं ?

अब प्रश्न यह उठता है कि सुख है क्या ? कहाँ है सुख ? किसमें है सुख ? इस प्रश्न का समाधान सरल नहीं है क्योंकि “जैसी मति, वैसी गति।” जिसकी बुद्धि में जो बात जम गई, वह अपनी उस बात को, उस मान्यता को बहुत कठिनता से छोड़ पाता है। तभी तो मनीषीजन कहते हैं—“जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि।” हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य कवि रहीम कहते हैं—

कोयल अम्ब हि लेत है,
काक निम्बोरि हेत !

□ जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

एक शूकर के पास बढ़िया से बढ़िया बाजार में बहुत महँगे भाव बिकने वाले बासमती या हाइकिंग चावल उबालकर रख दीजिए, उसे उस उत्तम पदार्थ में कोई स्वाद नहीं आयेगा, उसे

खाने की कोई रुचि उसमें उत्पन्न नहीं होगी। वह तो नथुने उठाकर अपनी घ्राण-शक्ति का प्रयोग करेगा-विष्टा या भिष्टा की प्राप्ति में।

उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन-“विनयश्रुत” की पाँचवीं गाथा में बताया है—

कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्टं भुंजइ सूयरो ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥

जैसे सूअर चावल के कुंडे (बर्तन) को छोड़कर विष्टा खाता है, इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी सदाचार को त्यागकर दुःशील में रमण करता है।

बात यही है बन्धुओं! जिस व्यक्ति का जैसा मानस, जैसी विचारधारा, जैसी दृष्टि होती है, उसके लिए उसकी अपनी मान्यता ही सुख का कारण है। इससे एक बात स्पष्ट है कि सुख का कारण वस्तु नहीं अपितु व्यक्ति स्वयं या उसकी भावना है। यही बात दुःख के साथ भी कही जा सकती है। “जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।” कोई व्यक्ति किसी गलत बात को सही मानकर उस पर अड़ा रहे तो आप क्या कहेंगे? आप कहेंगे—“तेरी आँखों पर तो अमुक रंग का चश्मा है, अतः सर्वत्र उसी रंग की वस्तुएँ नजर आ रही हैं।” पीलिए का रोगी होगा तो उसे सब कुछ पीला-पीला ही नजर आयेगा।

तात्पर्य यह कि सुख या दुःख भाव-आधारित हैं, पदार्थ-आधारित नहीं। मृत्यु की सजा जिसे सुना दी गई हो, फाँसी पर जिसे चढ़ना हो, शूली पर जिसको लटकना हो उसे बादाम का उत्तम हलवा भी नीरस, बेस्वाद, रूक्ष लगेगा। मस्ती में मस्त, अलमस्त, चिन्ताओं से मुक्त व्यक्ति को भूख लगने पर सूखा हुआ, अस्निग्ध खाखरा भी स्वादिष्ट लगेगा।

संसार में रचे-पचे प्राणी, मोह-माया में उलझे व्यक्ति बाह्य पदार्थों में सुख का अनुभव करेंगे, जबकि वहाँ सुख नाम मात्र का भी नहीं है। मुश्किल तो यह है कि अधिकांश में जगत् के जीव, मानव, नर-नारी भवानन्दी हैं, अर्थात् संसार में, सांसारिक पदार्थों में ही आनंद मानने वाले हैं, अतः वे अपने संसार-भ्रमण की निरन्तर वृद्धि करते जाते हैं और दुःख पाते हैं। वे जन्म-मरण, रोग-शोक, आधि-व्याधि में निरन्तर व्यथा भोग रहे हैं, पर उनकी मानसिकता उसी व्यथा को आनंद मानती हुई, उसी में रची-पची रहती है।

□ सुख या क्षणिक सुखाभास !

आत्मार्थी सज्जनों ! ऐसा होने का कारण है विषय-कषायों के प्रति आकर्षण, जो आत्मा को कर्मबन्धनयुक्त बनाकर उसके गुणों पर अपनी रज का आवरण डाल देता है। इसी

आधारशिला पर कर्मवाद का पूरा भव्य महल खड़ा है जिसने अनंतकाल से आत्मा को अपनी अष्टभित्तियों में कैद कर रखा है।

वस्तुतः भौतिकी, सांसारिक या शारीरिक जितने भी सुख माने जाते हैं वे वास्तविक सुख नहीं हैं, वे तो सुख का क्षणिक आभास मात्र देते हैं, चिन्तन करें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि ऐसे सुखों में बीज रूप में दुःख विद्यमान हैं जो अवसर आते ही पल्लवित, पुष्पित, फलित होकर जीव को कष्ट-अतिकष्ट देकर पीड़ा पहुँचाते हैं।

□ सच्चा सुख है—आत्मानंद !

वास्तविक और सच्चा सुख है—आत्मानन्द। प्राप्त वस्तु में सन्तोष रखकर जो त्याग मार्ग की ओर बढ़ता रहे, जो संसार की लालसा, वासना, कामना को घटाकर आत्म-चिन्तन, प्रभु-स्मरण, स्वाध्याय आदि में सुख आनंद की अनुभूति करे, वही है शाश्वत-सुख का राजपथ। ऐसे मोक्षाभिमुखी व्यक्ति ही सर्वदुःखों से छुटकारा पाकर उस शाश्वत-सुख की प्राप्ति करते हैं, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् कोई दुःख आता नहीं और प्राप्त सुख एक बार आकर फिर कभी वापस जाता नहीं।

□ जैनधर्म की आधारशिला : कर्मवाद

संसार के सभी जीव सुखी होना चाहते हैं पर अधिकांश जीव दुःख भोग रहे हैं। सुख-दुःख प्राप्ति का कारण क्या? सुख और दुःख-प्राप्ति का कारण है—जीव के अपने कर्म। जीव जैसे कर्म करेगा और जैसी शुभ या अशुभ भावना रखेगा उसी के अनुरूप उसे फल भी प्राप्त होगा। उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन में आता है—

“कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।”

अर्थात् कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

“सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।”

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है। इसी सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में प्रभु कहते हैं—

“पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।”

अर्थात् आत्मा राग-द्वेष से कलुषित होकर कर्मों का संचय करता है। वे कर्म परिणाम में बहुत दुःखदायी होते हैं।

आज हम जिन महनीय आत्माओं के गुणों का स्मरण कर अपने हृदयों को उन्हीं के आदर्शों से ओत-प्रोत बना लेना चाहते हैं, उन महनीय महात्माओं की शृंखला का सूत्र है—“सुखविपाकसूत्र।” यहाँ शब्द ‘सुखविपाक’ को समझना आवश्यक है और इसके लिए आपको जानना होगा-कर्मवाद को!

कर्मवाद जैनदर्शन की, सर्वज्ञ अरिहंतों की, तीर्थंकर भगवंतों की अपनी मौलिक देन है। कर्मवाद का तात्पर्य है अपने शुभ-अशुभ कर्म का कर्ता तथा उसके फलस्वरूप सुख व दुःखरूपी परिणामों का भोक्ता स्वयं जीवात्मा ही है। जीव ही अपने स्वयं के सद् या असद् प्रयत्नों (कर्म) से अपना ह्रास करता है या फिर अपना विकास करता है।

□ कर्म का विवेचन

क्या है कर्म? जैनदर्शन में ‘कर्म’ शब्द को पारिभाषित करते हुए बताया गया है कि “कषाय एवं योग के निमित्त से आत्मा के साथ लगे हुए तथा दूध-पानी की तरह एकमेक बने हुए कार्मण-पुद्गलों को ‘कर्म’ कहते हैं। आत्मा चेतन है और कर्म-पुद्गल जड़ है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय जड़ तत्त्व कर्म का संयोग बना रहता है, तब तक इस जीव का संसार-भ्रमण भी बना रहता है, सुख-दुःख छाया की भाँति उसके साथ लगे रहते हैं, जन्म-मरण, आधि-व्याधि आदि से वह व्यथित होता रहता है। सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए इस स्व और पर के, निज ओर बाह्य के संयोग को मिटाना आवश्यक है। जिसके आकर्षण से चेतन के साथ जड़ का सम्बन्ध बना है, उस आकर्षण को दूर करना आवश्यक है।”

□ कर्मरिक्तता : मुक्ति

जिस दिन आत्मा अपने विजातीय जड़ तत्त्व से अर्थात् कर्म-पुद्गलों से अपना सम्बन्ध निःशेष कर देगी, सर्वथा ‘स्व’ स्वरूप में आकर बाह्य पुद्गल-पदार्थों से किनारा कर लेगी, आत्मा और कर्म के संयोग का पूर्ण क्षय हो जायेगा, उस दिन से उसका भव-भ्रमण मिट जायेगा। वह जन्म-मरणरूपी सर्व दुःखों से मुक्त हो मोक्ष-स्थल में ज्योतिर्मय रूप में विराजमान हो जायेगी।

□ कर्म और कर्मबंधन

कर्म आत्म-गुणों का विघातक तत्त्व है। यह जगत् कर्म-वर्गणा के पुद्गलों और नोकर्मवर्गणा के पुद्गलों से परिपूर्ण है। नोकर्मवर्गणा से शरीर बनता है और कर्मवर्गणा उस शरीर की परिणति का कारण है।

जैनदर्शन में 'कर्म' शब्द कर्मबन्ध का सूचक है, क्रियावाचक नहीं। उसके अनुसार कर्म आत्मा पर लगे सूक्ष्म पुद्गल-पदार्थ का वाचक है। इस पर भी यह समझ लेना चाहिए कि "क्रियाएँ कर्म, परिणामे बंध"—कथन से स्पष्ट है कि क्रिया के आधार पर कर्मण पुद्गल परमाणुओं का आगमन आत्मा में जरूर होता है। क्रियानुसार कर्मण वर्गणा के आत्मा में आने की क्रिया आस्रव क्रिया हुई, परन्तु आस्रव के बाद जो कर्मबंध होता है, अर्थात् अनुकूल भोजन करने पर सुख की अनुभूति होती है, पर डण्डे आदि के प्रहार से दुःख की अनुभूति होती है। भोजन पुद्गल रूप है, डण्डा भी पुद्गल है, इसी तरह इनसे मिलने वाला अनुभव-सुख या दुःख का प्रदाता कर्म भी पुद्गल रूप है।

बंध की दृष्टि से जीव और पुद्गल क्षीर-नीरवत् एकमेक हैं, पर लक्षण की दृष्टि से जीव अमूर्त व चेतना लक्षणयुक्त है, जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं, फासेहिं भुंजदे णिय यं।
जीवेण सुइं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि..... ॥

श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् कान, चक्षुरिन्द्रिय अर्थात् आँखें, घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक, रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा एवं स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् शरीर, हाथ-पैर आदि के जो विषय—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द हैं, वे मूर्त हैं और इन विषयों का उपयोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। इनसे उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख भी मूर्त है, अतः कारणभूत कर्म भी मूर्त हैं।

□ द्रव्यकर्म और भावकर्म

बन्धुओं! जीवात्मा अपने मन, वचन और कार्य रूप त्रियोगों एवं राग-द्वेष की प्रवृत्ति से कर्मवर्णणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है और इन प्रवृत्तियों का कारण है जीवात्मा के साथ कर्मबद्धता। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति अनादिकाल से चल रही है।

पुद्गल-पिण्ड रूप में कर्म को द्रव्यकर्म और राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म माना गया है।

आगम कथन है—आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है। "अप्पा कत्ता विकत्ता य।"—ध्यान रखियेगा—यह कथन संसारी आत्मा की अपेक्षा से है, मुक्तात्मा की अपेक्षा से

नहीं। मुक्तात्मा तो विशुद्ध चैतन्य रूप है, जड़-पुद्गलों से रहित, अतः कर्म से रहित है। वहाँ न प्रवृत्ति है, न कर्म; न कारण है, न क्रिया!

एक बात विशेष ध्यान में रखनी है—कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तो वे कर्म पुनः पुद्गल रूप में आ जाते हैं।

□ ईर्यापथिकी बंध

कर्मवर्गणा के पुद्गल जब आत्मा से सम्बद्ध होते हैं तो वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। मैंने अभी बताया था कि राग-द्वेषजनित शारीरिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है। जो प्रवृत्ति सकषायी होती है उससे होने वाला कर्मबंध विशेष सशक्त होता है। प्रवृत्ति यदि कषायरहित है तो वहाँ ईर्यापथिकी बंध होता है। वह कर्मबंध निर्बल और दो समय की स्थिति वाला होता है।

□ कर्म-पुद्गल अचेतन द्रव्य है

द्रव्य के दो प्रकार बताए गये हैं—(१) चेतन द्रव्य, और (२) अचेतन द्रव्य।

अचेतन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल आते हैं। पुद्गल को छोड़ शेष चार अमूर्तिक व अरूपी हैं, अतः इन्द्रियों के लिए अगोचर हैं, इसी कारण अग्राह्य हैं।

पुद्गल नामक अचेतन द्रव्य मूर्त (रूपी) है, अष्ट स्पर्शी पुद्गल इन्द्रियों द्वारा पकड़ में आता है और पुनः छोड़ा भी जाता है, यही इसका स्वभाव भी है, अर्थात् मिलना व बिछुड़ना।

इस पुद्गल द्रव्य की कुछ वर्गणाएँ ग्राह्य हैं और कुछ अग्राह्य। कर्म भी रूपी पुद्गल हैं और ये कर्मवर्गणाएँ लोक में सर्वत्र विद्यमान हैं। लोक का कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ कर्म योग्य कार्मण-वर्गणा के पुद्गल विद्यमान न हों।

जब कोई प्राणी किसी समय राग-द्वेष के निमित्त से अपने मन, वचन या काय से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तो चारों ओर से कर्म योग्य पुद्गल परमाणु उस ओर आकृष्ट होते हैं। जितने प्रदेश में प्रवृत्ति करने वाले जीव की आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान कर्म-पुद्गल-परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किए जाते हैं।

प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तरतमता रहती है, अर्थात् प्रवृत्ति की मात्रा में अधिकता है तो परमाणुओं की संख्या अधिक रहेगी और प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता है तो परमाणुओं की संख्या में न्यूनता रहेगी।

इन गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्यकर्म है।

□ द्रव्यकर्म आठ हैं

आत्मा में अनंत गुण हैं। कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बद्ध होकर आत्मा के गुणों को आवृत्त करते हैं। आत्मा के गुणों की तरह उन्हें आवृत्त करने वाले कर्मों के स्वभाव भी अनंत हैं, लेकिन उन सबका आठ कर्मों में समाहार कर लिया गया है। वे आठ कर्म हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, और (८) अंतराय।

□ घाति कर्म : अघाति कर्म

इन आठ में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—ये चार घाति कर्म हैं और शेष वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र—ये चार अघाति कर्म हैं।

□ कर्मबंध के कारण—योग एवं कषाय

इन द्रव्य कर्मों का क्रमशः प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध—इन चार भेदों से बंध होता है। आत्मा के योग (मन, वचन, काय) परिणति से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तथा कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) परिणति से अनुभाग और स्थितिबंध होते हैं।

कषाय के अभाव में कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ संश्लिष्ट नहीं रह सकते। जैसे सूखे वस्त्र पर लगी धूल स्वतः या वायु के एक झोंके या कपड़े के हिलने मात्र से अलग हो जाती है, वैसे ही कषायरहित प्रवृत्ति से कर्म आत्मा का केवल स्पर्श ही करते हैं और शीघ्र झड़ जाते हैं।

□ सांपरायिक और असांपरायिक बंध

मन, वचन, काय रूप योगों की परिस्पन्दनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती हैं, किन्तु उन्हें कषायों का सहयोग नहीं मिलता, अतः वे कर्मबंध के लिए सक्रिय योग नहीं दे पाते। अतः यतना, विवेकपूर्वक होने वाली चलने-फिरने आदि की आवश्यक क्रियाओं से होने वाला निर्बल कर्मबंध असांपरायिक बंध (ईर्यापथिक बंध) कहलाता है; जबकि कषायों सहित होने वाली योग प्रवृत्ति को सांपरायिक कहते हैं।

असांपरायिक बंध भव-भ्रमण का कारण नहीं होता। साम्परायिक बंध से ही प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है।

□ प्रकृतिबंध

आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मवर्गणा के पुद्गलों में आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवृत्त करने की शक्ति होती है। गुणों को आवृत्त करने की यह शक्ति ही प्रकृतिबंध कहलाती है।

□ स्थितिबंध

कषायों के कारण ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बंध की अधिकतम और न्यूनतम समय की जो विभिन्न स्थितियाँ होती हैं, वे स्थितिबंध हैं, अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों के रहने की काल-मर्यादाएँ स्थितिबंध हैं।

आठ कर्मों की अधिकतम और न्यूनतम स्थितियाँ इस प्रकार हैं—

	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
१. ज्ञानावरणीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
२. दर्शनावरणीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
३. वेदनीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	१२ मुहूर्त्त
४. मोहनीय कर्म	७० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
५. आयु कर्म	३३ कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
६. नाम कर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहूर्त्त
७. गोत्र कर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहूर्त्त
८. अन्तराय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त

(सागरोपम आदि कालगणना के विभिन्न भेदों के स्वरूप को समझने के लिए प्रवचनकार मुनिश्री की रचना 'बड़ी साधु वन्दना, भाग-१' का अवलोकन करें।)

□ अनुभागबंध

कर्मबंध की तीव्रता और मंदता का आधार उस-उस निमित्त की कषायों की तीव्रता और मंदता है। जितनी-जितनी तीव्र कषाएँ होंगी, अशुभ कर्मबंध उतने ही प्रबल-शुभ कर्मबंध उतने ही निर्बल होंगे। कषाएँ जितनी-जितनी मंद होंगी उसके शुभ कर्मबंध उतने-उतने प्रबल

व अशुभ कर्मबंध उतने-उतने निर्बल होंगे। फल भोगते समय कोई करण न लगे तो तीव्र कषायों में बँधे कर्मों का फल अति कटु व मंद कषायों का फल अल्प-अत्यल्प कटु होगा। कर्मों की तीव्रता-मंदता ही अनुभागबंध है, अर्थात् कर्मों के फल देने के तरतम तीव्र-मंद रस को अनुभागबंध कहते हैं।

□ प्रदेशबंध

प्राणी अपनी मानसिक, वाचिक या कायिक क्रियाओं द्वारा जितने-जितने कर्म-प्रदेशों को ग्रहण करता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं। इसमें न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कंधों का सम्बन्ध होता है।

ये कर्म-प्रदेश शात-आठ भागों में विभक्त होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं। उनमें से आयु कर्म को सबसे न्यून भाग मिलता है। नाम कर्म और गोत्र कर्म का हिस्सा बराबर है जो आयुष्य कर्म की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। नाम व गोत्र की अपेक्षा कुछ अधिक हिस्सा ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों को प्राप्त होता है, जो तीनों का समान रूप में होता है। उनसे कुछ अधिक भाग मोहनीय का रहता है और सबसे अधिक हिस्सा वेदनीय कर्म को मिलता है।

इन प्रदेशों का पुनः उत्तर-प्रकृतियों में विभाजन होता है।

प्रत्येक समय के बद्ध कर्म के प्रदेशों के विभाजन की न्यूनाधिकता का यही आधार है।

□ कर्मों की विभिन्न अवस्थाएँ

कर्मबंधन से लेकर कर्मविपाक और उसका परिणाम भोगने तक कर्मों की अनेक अवस्थाएँ होती हैं—

(१) बंध—कर्मबंधन की बात अभी आपके सम्मुख रखी गई। आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का बंध कर क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना कर्मबंधन है। बंधन के प्रकृतिबंध आदि चार भेदों का वर्णन अभी आपको बताया गया था।

(२) सत्ता—बद्ध कर्म जब तक क्षय न हों, तब तक की अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान नहीं करते हुए भी सत्ता में विद्यमान रहते हैं।

(३) उदय—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था है, उदय। इस अवस्था में कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

बन्धुओं ! जहाँ कर्मबंध है, वहाँ कर्मभोग भी सुनिश्चित है। बँधे हुए कर्म जब अपना फल देने में समर्थ हो जाते हैं, तब वे उदय में आकर जीव को फल देते हैं—इसी का नाम है 'कर्मविपाक' ! कर्म को बाँधने में जीव स्वतन्त्र है, किन्तु उसके फल को भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं है। हँस-हँस के जो कर्म बाँधे जाते हैं, रो-रोकर भी उनसे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। जैसा भी, जो भी प्राणी करेगा, कहेगा, चिन्तन में लायेगा, उसका जो भी कटु, तिक्त, मधुर फल होगा, वह उसे भोगना होगा।

(४) उदीरणा—कर्मविपाक होने पर कर्मफल निश्चित ही भोगना है। यहाँ जीव की इच्छा या अनिच्छा काम नहीं करेगी। फल के भोग में उसके चाहने या न चाहने का कोई मूल्य नहीं है। इतना अवश्य है कि कर्म यदि अनिकाचित हैं, गाढ़ नहीं हैं तो प्रशस्त अध्यवसायों से उन्हें मंद, मंदतर भी किया जा सकता है। उनकी कालिक मर्यादा को कम करके उन्हें शीघ्र उदय में लाया जा सकता है। साधक ऐसा करने में सक्षम है। तात्पर्य यह कि काल-मर्यादा से पहले कर्म उदय में लाए जा सकते हैं।

इस बात को फल पकाने की प्रक्रिया के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। वृक्ष पर जो फल लगते हैं, उनमें से कितने ही फल टहनी पर ही परिपक्व हो जाते हैं, पक जाते हैं, उनमें रस का विपाक हो जाता है, अतः वे पककर टहनी से स्वतः गिर जाते हैं। आपकी भाषा में ऐसे फलों को डाल-पके फल कहा जाता है।

अन्य कितने ही फल अधपके ही तोड़ लिए जाते हैं, फिर उन्हें घास में रखकर, कागज में लपेटकर या पाउडर द्वारा पकाया जाता है। ठीक इसी तरह निश्चित काल-मर्यादा से पूर्व शुभ योगों द्वारा कर्मविपाक किया जा सकता है। इसे शास्त्रीय भाषा में उदीरणा कहते हैं। इसमें तीन बातें विशिष्ट हैं—

प्रथम तो उदीरणा सामान्य रूप से उसी सजातीय कर्म की की जा सकती है, जिस कर्म का उदय चल रहा हो।

द्वितीय एक आवलिका की सीमा में उदय आने वाले कर्मदलिकों की उदीरणा नहीं हो सकती।

तृतीय उदीरणा उन्हीं कर्मों की हो सकती है जो कर्म अल्प कषाय द्वारा बँधे हुए हैं। तीव्र कषाय द्वारा (निकाचित) बँधे कर्मों की उदीरणा नहीं होती।

(५) उद्वर्तना—प्रयत्न द्वारा बँधे हुए शुभ या अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग बढ़ाने को उद्वर्तना कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने चोरी की। चोरी करने पर

अशुभ कर्म का बंध निश्चित है। अब चोरी के पश्चात् उसने चोरी के विषय में झूठ बोला तो कर्मबंध की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि कर लेता है।

(६) **अपवर्तना**—उद्वर्तना से ठीक विपरीत स्थिति अपवर्तना की है। इसमें प्रयत्न द्वारा बँधे हुए शुभ या अशुभ कर्म की स्थिति और अनुभाग को कम किया जाता है। जैसे चोरी के पश्चात् अपने किए पर पश्चात्ताप करना, आलोचना करना, निंदा-गर्हा करना, प्रायश्चित्त लेना।

(७) **संक्रमण**—जो प्रकृतियाँ सत्ता में विद्यमान हैं उनमें से विशेष प्रयत्न के द्वारा एक मूल कर्म की उत्तर-प्रकृतियों को उसी मूल कर्म की उत्तर-प्रकृतियों में परिवर्तित करना संक्रमण है, जैसे—असातावेदनीय का सातावेदनीय में, नीच गोत्र का उच्च गोत्र में, मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण में आदि।

संक्रमण केवल मूल कर्म की उत्तर-प्रकृतियों में ही किया जा सकता है। उसमें अपवाद—

(१) आयुर्कर्म की उत्तर-प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता।

(२) दर्शनमोहनीय का संक्रमण चारित्रमोहनीय अथवा चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में नहीं होता।

(३) कोई भी जीव अपनी दृष्टि को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता अर्थात् मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व मोहनीय को, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि मिश्र दृष्टि को, इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि सम्यक् मोहनीय को अन्य प्रकृतियों में संक्रमित नहीं करता।

उदय में आई हुई कर्म-प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। जो प्रकृतियाँ उदय में नहीं आई हैं अर्थात् जो प्रकृतियाँ सत्ता में विद्यमान हैं, संक्रमण उन्हीं में संभाव्य है।

(८) **उपशमन**—उपशमन अवस्था में उदय, उदीरणा संभव नहीं है तथा उद्वर्तन, अपवर्तन व संक्रमण होता है। इस अवस्था के समाप्त होते ही उपशमित कर्म अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, अर्थात् उदय में आकर फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

(९) **निधत्त**—आत्म-बंधुओं! ध्यान में रखना चाहिए कि निद्धत (निधत्त) कर्मों में उदीरणा और संक्रमण नहीं होते, किन्तु उद्वर्तना, अपवर्तना संभव है।

(१०) **निकाचित**—निकाचित कर्म जैसे बँधे हैं, जैसी उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग या प्रदेशबंध है, ठीक उसी रूप में उन्हें अनिवार्यतः भोगना ही होता है। इसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ काम नहीं आता। इन कर्मों की स्थिति आदि में न उद्वर्तना की जा सकती है, न

अपवर्तना, न उदीरणा, न संक्रमण। तात्पर्य यह कि इनमें कोई फेरफार, न्यूनाधिकता आदि कर लेना सम्भव नहीं है।

(११) अबाधाकाल—कर्म के बँधने के पश्चात् अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना अबाध अवस्था है या अबाधाकाल है। यह सत्ता का ही एक अंश है फिर भी अबाध अवस्था और सत्ता में अन्तर है। बंध से लेकर निर्जीण होने तक की अवस्था सत्ता कहलाती है, लेकिन अबाध अवस्था में बद्ध कर्म यथारूप ही बना रहता है। तात्पर्य यह कि यह उदय के पूर्व की अवस्था है। अबाधाकाल की गणना का एक शास्त्रोक्त नियम है।

जितने कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति किसी कर्म की बँधे, उतने ही सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। जैसे किसी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम है तो उसका उत्कृष्ट अबाधाकाल 30×100 अर्थात् ३,००० वर्ष होगा।

□ भावकर्म

बन्धुओं ! द्रव्यकर्म की शक्ति से उत्पन्न आत्मा के भाव ही भावकर्म कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मयुक्त आत्मा ही नये कर्मों का बंधन करता है।

सयोगी केवली वीतराग भगवंतों के राग-द्वेष नहीं रहता, पर मन, वचन, काया रूप योग शेष रहने से और गमनागमन के कारण भी ईर्यापथिकी आदि बंध होता है, जिसकी स्थिति केवल दो समय की होती है। पहले समय में बंध होता है, दूसरे समय में उदय आता है, तीसरे समय में निर्जीण हो जाता है।

□ सुख से कर्मबंधन, सुख से कर्म-मुक्ति के पथ पर

सुखविपाक श्रुत-स्कंध में उन महापुरुषों का प्रसंग है, जिन्होंने अपने-अपने पूर्वभवों में शुभ योगों से शुभ कर्मों का, पुण्यों का अर्जन और संचयन किया और कर्मविपाक का समय आने पर जो मनुष्य लोक में देवोपम सुखों के अधिकारी बने। सुखों के अम्बार और अपार वैभव के बीच समय व्यतीत करते हुए उन महापुरुषों ने वीतराग वाणी का श्रवण करने का अवसर प्राप्त होने पर उसका लाभ उठाया और उस परम पावनी वाणी को सुनकर, हृदयंगम कर वे इस संसार से विरक्त बन गये। उन्होंने त्याग दिया समस्त देवोपम सुख-वैभव को और बढ़ गये वे संयम के आत्म-कल्याणी पथ पर। निरतिचार शुद्ध संयम का पालन कर वे सभी भवसागर को तैर किनारे के अति निकट पहुँच गये। एकभवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने ऐसे ही वन्दनीय, स्तुतनीय, पूजनीय, अभिनंदनीय महापुरुषों को अपना भावयुक्त वंदन करते हुए, बड़ी साधु वन्दना में कहा है—

सुबाहु प्रमुख, पाँच-पाँच सौ नार।
 तजी वीर पै लीधा, पाँच महाव्रत सार ॥८४॥
 चारित्र लेई ने, पाल्यो निरअतिचार।
 देवलोके पहुंच्या, सुखविपाके अधिकार ॥८५॥

□ बड़ी साधु वन्दना पाठ का महात्म्य

बन्धुओं ! कैसा मनोहारी, मर्मस्पर्शी और तीव्र—प्रेरक वर्णन है इन महनीय आत्माओं का। सुनते हैं तो भाव आन्दोलित, उद्वेलित हो उठते हैं। परिणामधारा ऊर्ध्वगति पाकर श्रेणियाँ चढ़ती जाती हैं। हो जाता है यदि ऐसा तो कर्म भी निर्जरित हो जाते हैं। हवा के झोंके की तरह भावों का स्फुरण होना चाहिए। टहनी पर पत्ते व फल पके हैं तो हवा के झोंकों से निर्जरित हो गिर पड़ेंगे। साधु वन्दना का पठन-पाठन, श्रवण व मनन-चिन्तन शुभ कर्म का बंधन कराने में सक्षम है और संचित अशुभ कर्मों को निर्जरित करने में भी। वंदनीय उन अनंत आत्माओं में से सुबाहुकुमार आदि दस महनीय आत्माओं का वर्णन आज आप सुनेंगे।

(१) सुबाहुकुमार (जन्म, शिक्षा, परिणय)

हस्तिशीर्ष नाम के एक धन-धान्यादि से पूर्ण समृद्ध नगर में अदीनशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उस अदीनशत्रु राजा के एक हजार रानियाँ थीं, जिनमें धारिणी प्रधान थी।

एक रात्रि में अपने राजभवन के विशाल शयनकक्ष में शयन करती हुई धारिणीदेवी ने स्वप्न में सिंह को देखा। स्वप्न देखकर रानी हर्षित भाव से जागृत हुई। जहाँ अदीनशत्रु राजा थे, वहाँ गई और स्वप्न सुनाकर स्वप्न-फल की पृच्छ की।

अदीनशत्रु ने बताया कि तुम्हें एक तेजस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। निमित्तज्ञ से पूछने पर उन्होंने भी यही बात कही।

गर्भकाल पूरा होने पर धारिणीदेवी ने एक सुन्दर, सुकुमार, सुदर्शनीय पुत्र को जन्म दिया। कुछ बड़ा होने पर उसका नाम सुबाहुकुमार रखा गया। धाय माताओं ने उसका पालन-पोषण किया। समय आने पर उसे कलाचार्य के निकट विद्याध्ययन के लिए भेजा गया। पुरुषोचित बहत्तर कलाओं में वह कुशल बन गया।

युवावस्था आने पर जब माता-पिता ने देखा कि अब यह सांसारिक कामभोगों का भोग-उपभोग करने में समर्थ हो गया है तो अदीनशत्रु ने उसके लिए पाँच सौ श्रेष्ठ, भव्य, सुन्दर महलों का निर्माण कराया और उन सभी महलों के मध्य एक अति विशाल और उत्कृष्ट महल बनाया।

एक ही दिन में सुबाहुकुमार का विवाह पुष्पचूला प्रमुख पाँच सौ राजकन्याओं से कर दिया गया। प्रीतिदान—दहेज में उसे पाँच-पाँच सौ स्वर्ण, रजत आदि वस्तुएँ प्राप्त हुईं। विवाह के पश्चात् सुबाहुकुमार उन अप्सरा समान पाँच सौ राजकन्याओं के साथ ऊँचे भव्य महलों में मानवोचित, मनोज्ञ विषयभोगों को यथारुचि उपभोग करने लगा।

□ प्रभु-पदार्पण

तभी एक दिन श्रमण भगवान महावीर का हस्तिशीर्ष नगर में पदार्पण हुआ। हस्तिशीर्ष की जनता अनेक समूहों में प्रभु का दर्शन-वन्दन करने, उनकी देशना सुनने गई। राजा अदीनशत्रु भी अपनी रानियों, मन्त्रियों, राज्याधिकारियों आदि के साथ राजसी ठाट से प्रभु की चरण-सेवा में गया। सुबाहुकुमार ने इस तरह लोगों के समूह व राज्य-परिवार के लोगों को एक ही दिशा में जाते देखा तो जिज्ञासा हुई कि ये कहाँ जा रहे हैं? पूछने पर जब ज्ञात हुआ कि सभी प्रभु महावीर के दर्शन-वन्दन को जा रहे हैं तो वह सुबाहुकुमार भी अपने सुसज्जित धार्मिक रथ पर बैठकर वहाँ गया।

□ वीतरागी तीर्थकर भगवंत की धर्मदेशना

भगवान महावीर ने उन सभी को धर्मदेशना दी। जन-परिषद्, राजा, राज्याधिकारी उस देशना को सुनने के पश्चात् यथास्थान लौट गये। सुबाहुकुमार सुनी हुई देशना पर मनन-चिन्तन कर उसे आत्म-हितकारी, आत्म-कल्याणी मान प्रभु से बोले—“भगवन् ! मैं जिन-वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ। मुझे संयम में ही अपना कल्याण दिखाई दे रहा है। मैं विषय-कषायों के कीचड़ से निकलना चाहता हूँ, पर हे प्रभु! मैं श्रीचरणों में आकर, मुंडित होकर, अनगार धर्म स्वीकार करने में समर्थ नहीं हूँ, अतः मुझे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत रूप श्रावक के बारह व्रत देकर अनुग्रहीत कीजिए।”

□ सुबाहुकुमार बारह व्रतधारी श्रावक बने

इस तरह सुबाहुकुमार बारह व्रत धारण कर प्रभु से गृहस्थ धर्म को अंगीकार कर लेता है और पुनः वहाँ से अपने रथ में बैठकर जहाँ से आया वहीं, अर्थात् अपने राजभवन लौट जाता है।

□ गौतम स्वामी द्वारा पृच्छा

प्रभु के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी सुबाहुकुमार के इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, सौम्य, सुन्दर रूप-स्वरूप को देखकर प्रभु से प्रश्न करते हैं—“प्रभु! यह सुबाहुकुमार इतना सुदर्शनीय,

सुभग और सुरूप है कि साधुजनों को भी मनोरम लगता है। उसे ऐसी शारीरिक समृद्धि कैसे उपलब्ध हुई?”

□ सुबाहु के पूर्वजन्म का कथन

प्रभु कहते हैं—“हे गौतम ! जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक एक नगर था, जहाँ सुमुख गाथापति रहता था। एक बार हस्तिनापुर में स्थविर मुनि श्री धर्मघोष पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्र वन नामक उद्यान में रुके। उनके एक शिष्य थे—सुदत्त। वे सुदत्त मुनि उग्र तपस्वी थे, अतः अनेक लब्धियों के धारक थे। मासक्षमण तप के पारणे के दिन एक बार वे सुदत्त मुनि सुमुख गाथापति के घर पधारे।”

सुमुख गाथापति उन मुनिवर को अपने घर में भिक्षार्थ प्रवेश करते देख अत्यन्त हर्षित होता है। वह आसन से नीचे उतरकर उत्तरासंग धारण करता है और मुनिवर के सत्कार हेतु सात-आठ कदम आगे आकर उन्हें वन्दन-नमन करता है। आहार ग्रहण की प्रार्थना करते हुए वह उन्हें अपने रसोईघर में जाकर अत्यन्त हर्ष भाव से आहार बहराता है। आहार देने के पश्चात् सुमुख अपने अन्तर् में अत्यन्त संतोष और आनन्द का अनुभव करता है कि मुझे आज यह महान् लाभ प्राप्त हुआ।

□ सुपात्रदान का फल

बन्धुओं ! अत्यन्त उल्लास भाव से जीवन में एक बार भी यदि उत्कृष्ट सुपात्रदान देने का अवसर प्राप्त कर लिया और दान देते समय व दान देने के पश्चात् हृदय में हर्ष और आनन्द का भाव रहा तो समझिए, जीवन सफल बन गया। अन्तर् के भावों में उत्कृष्टता का शिखर प्राप्त हो तो तीर्थकर गोत्र का उपार्जन भी सम्भव है, पर दान सदोष हो और भावों की मंदता हो या पात्र शुद्ध नहीं हो तो हजारों-हजार बार दिया गया दान भी कोई विशेष सुफल नहीं देता।

सुमुख गाथापति ने निर्दोष आहार दिया था और त्रिविध (देय, दाता व प्रतिग्राहक पात्र) तथा त्रिकरण (मन, वचन, काया) की शुद्धि थी उस महादान में, अतः उसने संसार को अत्यल्प कर लिया।

देवता उसके इस उत्कृष्ट दान से प्रभावित हुए और उन्होंने पाँच दिव्य प्रकट किए अर्थात् (१) स्वर्ण वृष्टि की, (२) कृष्ण, नील, पीत, श्वेत और रक्त—इन पाँच वर्ण के वैक्रिय-लब्धिजन्य अचित्त फूलों की वर्षा की, (३) देवोपम वस्त्र वृष्टि की, (४) देव-दुन्दुभियों का वादन किया, (५) “अहो दानं, अहो दानं” का गगन-घोष किया।

अस्तिनापुर के अनेक मानव तिराहों व चौराहों पर एकत्रित हुए व आपस में बातें करते हुए उन्होंने इस दान के कारण उस गाथापति की प्रशंसा की।

प्रभु महावीर कहते हैं कि वही सुमुख गाथापति अपनी आयुष्य पूर्ण कर सुबाहुकुमार के रूप में यहाँ उत्पन्न हुआ है। अपने महादान के संचित पुण्य-पुँज के कारण उसे यह मानवीय शारीरिक ऋद्धि अर्थात् सुकुमारता, सुन्दरता, सुरूपता, सुदर्शनीयता आदि की प्राप्ति हुई।

□ उत्कृष्ट रसायन से तीर्थकर गोत्र

बन्धुओं ! उत्कृष्ट भावना से उत्तम सुपात्र को निर्दोष—उत्तम पदार्थ देना सुपात्रदान है। सुपात्रदान शुद्ध—निर्मल भावों के साथ दिया जाये तो जीव अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करता है। यदि उस समय भावों में उत्कृष्ट रसायन आ जाता है तो तीर्थकर नाम के कर्म का भी उपार्जन हो जाता है।

□ मुनि-सेवा का महाफल

शुद्धाचारी मुनि-श्रेष्ठों की सेवा से जीव ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म का आंशिक क्षय कर सकता है, वेदनीय कर्म में असातावेदनीय को निर्जरित कर सातावेदनीय का उपार्जन कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप जीव को—(१) मनोज्ञ शब्द, (२) मनोज्ञ रूप, (३) मनोज्ञ गंध, (४) मनोज्ञ रस, (५) मनोज्ञ स्पर्श, (६) मन-सुख, (७) वचन-सुख, (८) काय-सुख की प्राप्ति होती है।

मोह कर्म के अन्तर्गत वह तीव्र दर्शनमोहनीय व तीव्र चारित्रमोहनीय को हल्का बनाता है, सम्यक्त्व का स्पर्शन करता है।

आयुष्य कर्म में वह श्रेष्ठ गति का आयुष्यबंध करता है और ढीले आयुष्य को दृढ़ बनाता है।

नाम कर्म के वह अशुभ नाम कर्म का निर्जरण करके शुभ नाम कर्म का उपार्जन करता है, जिसके कारण से उसे इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गंध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, इष्ट कान्त, प्रिय, मनोज्ञ स्वर आदि की प्राप्ति होती है।

गोत्र कर्म में वह नीच गोत्र बंध का क्षय करके उच्च गोत्र का उपार्जन करता है जिसके परिणाम-स्वरूप उसे जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य आदि की विशिष्टता प्राप्त होती है।

अन्तराय कर्म को वह हल्का बनाकर दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य आदि की समर्थता (लब्धियाँ) प्राप्त करता है।

□ मुनि-निन्दा से तीव्र अशुभ फल

इस प्रकार उत्कृष्ट महामुनियों की सेवा से जीव उत्तम फल को प्राप्त करता है, जबकि इन महामुनियों की निन्दा, असातना आदि से जीव ७-८ कर्मों का तीव्र बंध करता है और आगम-वर्णित नागश्री ब्राह्मणी की भाँति अनंत दुःखरूपी संसार परिभ्रमण में वृद्धि कर अनंत कष्ट, आधि-व्याधि, रोग-शोक आदि भोगता है।

□ उत्कृष्ट दान : उत्कृष्ट फल

सुबाहुकुमार ने अपने पूर्वभव में उत्कृष्ट निर्मल भावों से निर्दोष आहारदान विशुद्ध संयमपालक उत्कृष्ट तपस्वी मुनिराज को दिया और देने से पूर्व, देते समय, देने के बाद भी आनंद, हर्ष, सुख का ही अनुभव करते हुए परम प्रसन्न रहा। यही कारण है कि वह सामान्य जनों को तो क्या, संसार-त्यागी-वैरागी मुनिजनों को भी इष्ट, इष्टरूप, कांत, कांतरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोरम, मनोरमरूप, सौम्य, सौम्यरूप, सुभग, सुभगरूप व प्रियदर्शन सुरूप लगता था।

आगमकार उसके रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—“सुबाहुकुमारे इट्टे, इट्टरूवे, कंते, कंतरूवे, पिये, पियरूवे, मणुत्ते, मणुत्तरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सोमरूवे, सुभगे, सुभगरूवे, पियदंसणे सुरूवे।”

अर्थात् उसे सभी चाहते थे, उसकी आकृति इष्टरूप थी, वह स्वरूपतः कान्त-रमणीय था, वह स्वभाव से सुन्दर था, उसे देखकर हृदय में उसके प्रति प्रेम-भाव उमड़ता था, रूप ऐसा था कि वह सभी को प्रीतिजनक था। उसकी आन्तरिक वृत्तियाँ ऐसी थीं कि सभी को उनमें शोभनता का अनुभव होता था। उसका रूप व स्वभाव इतने शोभनीय थे कि बार-बार स्मृति में आते थे। स्वभाव जिनका अति सौम्य, अति बल्लभ था। उसकी आकृति व प्रकृति सुन्दर थी अतः वह सुरूप एवं प्रेम उत्पन्न करने वाला था।

□ समर्थ का त्याग ही सच्चा त्याग

“प्रभो! क्या देशविरत बारह व्रतों का धारण करने वाला यह सुदर्शनीय सुबाहुकुमार आपश्री के चरणों में गृहस्थावास-त्याग, मुण्डित बन अणगार धर्म को ग्रहण करने में समर्थ है?”—गौतम स्वामी ने पूछा।

प्रभु ने कहा—“हाँ गौतम ! वह प्रव्रजित होने में समर्थ है।”

बन्धुओं ! जहाँ भोग के साधन न हों वहाँ यदि व्यक्ति व्रत पालन करना चाहे तो उसके लिए ऐसा करना आपको सरल दिखता है, पर ऐसा व्यक्ति जिसके पास भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री हो, सांसारिक सुखों के समस्त साधन हों, वह यदि व्रतों की मर्यादा ग्रहण कर नियम और संकल्पों का पालन करे तो बड़ी बात है, वह उत्कृष्ट त्याग है। जहाँ राज-सुख हो, राज्य-वैभव हो तो उनके होते हुए व्रतों का पालन महान् त्याग का काम है।

□ व्रत-पालन

सुबाहुकुमार व्रतों का पूर्ण पालन करता हुआ अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि के दिन अपनी पौषधशाला में जाकर विधिपूर्वक पौषध करता हुआ रात्रि बिताता है। कई बार वह अष्टम-भक्त अर्थात् तेले की तपस्या पौषधशाला में ही रहते हुए करता है।

□ सुबाहु का शुभ चिन्तन

एक बार ऐसे ही किसी पौषधोपवास के दिन मध्य रात्रि में धर्म-जागरण करते हुए सुबाहुकुमार चिन्तन करता है कि वे ग्राम, वे नगर, वे उद्यान, वे आश्रम आदि धन्य हैं जहाँ श्रमण भगवन्त महावीर विचरते हैं और वे राजा, मांडलिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, राज्याधिकारी, सार्थवाह आदि भी धन्य हैं जो प्रभु का दर्शन-वन्दन कर धर्मदेशना सुनते हैं और उसे जीवन में उतारकर प्रभु के समीप मुण्डित बन प्रव्रजित होते हैं। वे राजा, राज्याधिकारी, श्रेष्ठी आदि भी धन्य हैं जो श्रमण भगवन्त प्रभु महावीर के पास पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों कुल बारह प्रकार के व्रत-पालन वाला गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं। वे राजादिक भी धन्य हैं जो श्रमण भगवान महावीर के पास जाकर उनके श्रीमुख से धर्म-श्रवण करते हैं।

बन्धुओं ! चिन्तन की धारा ऊर्ध्वमुखी बनी तो चढ़ती ही चली गई। ऐसा चिन्तन प्रकट हो चित्त में तो सारी चिन्ताएँ, सारे दुःख ही मिट जाएँ। सुबाहुकुमार ने विचार किया कि यदि भगवान महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए मेरे नगर पधारे तो मैं गृह त्यागकर उनके पास अणगार धर्म अंगीकार करूँ।

□ प्रभु का पदार्पण, देशना, सुबाहु को वैराग्य, दीक्षा

प्रभु तो सर्वज्ञ थे। उन्होंने विचरण करते हुए जब सुबाहुकुमार का यह संकल्प जाना तो वे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए हस्तिशीर्ष नगर पधारे और नगर के बाहर पुष्पकरण्डक नामक उद्यान के कृतवनामालप्रिय नामक यक्षायतन में अवस्थित हुए।

प्रभु का आगमन सुन राजा, रानियाँ, राज्याधिकारी, प्रजाजन आदि दर्शनार्थ गये। सुबाहुकुमार भी बड़े समारोह के साथ प्रभु-चरणों में पहुँचा। प्रभु ने धर्मदेशना दी। सभी ने उस देशना को सुना। उस देशना पर मनन-चिन्तन करते हुए सुबाहुकुमार का मोहनीय कर्म क्षीण हो गया। चढ़ते परिणामों की धारा के कारण वैराग्य उत्पन्न हुआ। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर सुबाहुकुमार ने अपनी पाँच सौ सुन्दर पत्नियों, उत्तमोत्तम भोग्य-पदार्थों तथा राज्य-उत्तराधिकार आदि को त्यागकर दीक्षा ग्रहण की और वे अणगार बन गये।

□ शब्दों तक ही सीमित क्यों?

आपको कहें तो एक पत्नी छोड़ना भी अति कठिन लगता है। मोहनीय का खेल है यह। वृद्धावस्था हो जाये तब भी पत्नी नहीं छूटती, घर नहीं छूटता। 'संसार असार है'—इस विषय पर उपदेश देना हो तो आप घण्टों उपदेश दे सकते हैं। कोई कह दे कि आप अपने ही उपदेश को अन्तर् में उतार लो, उतार नहीं सकते। चिन्तन-मनन और उसे अन्तर् तक ले जाना आपके वश की बात नहीं। आपका तो सुनना भी शब्दों तक, पढ़ना भी शब्दों तक, कहना या बोलना भी शब्दों तक ही रह जाता है।

□ संथारा, समाधिमरण, देव बने

दीक्षा के पश्चात् मुनि सुबाहुकुमार ने स्थविर मुनिजनों के समीप रहकर उनकी सेवा करते हुए सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, अनेक उपवास, बेले, तेले आदि तप से आत्मा को भावित किया। अनेक वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन किया। आलोचना, प्रतिक्रमणपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए।

□ मोक्षपथगामी

सौधर्म देवलोक में आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से च्युत हो सुबाहुकुमार का जीव मनुष्य-भव प्राप्त करेगा, वहाँ संयम ग्रहण कर श्रमण-पर्याय का पालन कर सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में उत्पन्न होगा, पुनः मनुष्य-भव प्राप्त करेगा, दीक्षित होकर श्रमणधर्म पालन कर ब्रह्मदेव लोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवन कर पुनः मनुष्य-भव प्राप्त करेगा, दीक्षित हो श्रमणधर्म पालन कर महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर फिर मनुष्य-भव में जन्म लेगा और पूर्व की तरह दीक्षित होकर आनत नामक नवम देवलोक में उत्पन्न होगा। पुनः मनुष्य-भव को धारण कर अणगार बनेगा, शरीरान्त होने पर आरण नाम के ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर मनुष्य-भव को धारण करके अनगारधर्म का आराधन कर शरीरान्त होने पर सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में उत्पन्न होगा, वहाँ से च्यवकर सुबाहुकुमार का

जीव व्यवधानरहित महाविदेह क्षेत्र में सम्पन्न कुलों में से किसी श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होगा। वहाँ उत्कृष्ट चारित्रधर्म का पालन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

हमें भी इसी भाँति एक दिन सुखपूर्वक मोक्षगामी बनना है।

(२) भद्रनन्दी

सुबाहुकुमार की तरह भद्रनन्दी का भी विवरण आता है। अन्तर इतना है कि ऋषभपुर नामक नगर के राजा धनावह तथा रानी सरस्वतीदेवी का पुत्र था। अपने पूर्वभव में वह महाविदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में विजय नाम का कुमार था। उसने उस समय के तीर्थंकर भगवंत युगबाहु को दान देकर प्रतिलाभ प्राप्त किया।

शेष सभी वर्णन सुबाहुकुमार की तरह ही है। अन्त में वह भी सुबाहुकुमार की तरह मोक्ष प्राप्त करेगा।

(३) सुजातकुमार

सुजातकुमार वीरपुर नगर के महाराज वीरकृष्ण मित्र तथा श्रीदेवी महारानी का पुत्र था। राजकुमारी बलश्री प्रमुख पाँच सौ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। प्रभु महावीर से श्रावकधर्म स्वीकार किया।

अपने पूर्वभव में कुमार सुजात इषुकासार नगर में ऋषभदत्त गाथापति था। उसने पुष्पदत्त अणगार को निर्दोष आहारदान दिया।

शेष सारा वर्णन सुबाहुकुमार की भाँति ही आता है।

(४) सुवासवकुमार

सुवासवकुमार विजयपुर के राजा वासवदत्त व रानी कृष्णादेवी का पुत्र था। भद्रा प्रमुख पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। प्रभु महावीर से धर्मोपदेश सुन श्रावकधर्म अंगीकार किया।

अपने पूर्वभव में इसका जीव कौशाम्बी नगरी में धनपाल राजा का था। धनपाल राजा ने वैश्रमण भद्र अनगार को भावपूर्वक निर्दोष दान दिया। उस दान के प्रभाव से ही सुवासवकुमार के रूप में जन्म मिला।

शेष सारा वर्णन सुबाहुकुमार की भाँति ही जानना चाहिए।

(५) जिनदास

जिनदास सोगन्धिका नगरी के राजा अप्रतिहत और रानी सुकृष्णा का पौत्र और महाचन्द्रकुमार तथा अर्हदत्ता का पुत्र था। भगवान महावीर की वाणी सुन द्वादशविध श्रावक-धर्म स्वीकार किया। गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने उसके पूर्वभव का इस प्रकार वर्णन किया—

“हे गौतम! माध्यमिका नाम की नगरी थी। महाराजा मेघरथ वहाँ के राजा थे। सुधर्मा अणगार को महाराजा मेघरथ ने उत्कृष्ट भाव से निर्दोष आहारदान दिया। परिणामस्वरूप मनुष्य-भव के आयुष्य का बंध कर यहाँ जन्म लिया। यावत् जिनदास अणगार ने इसी भव में मोक्ष को प्राप्त किया।”

जन्म के बाद का वर्णन सुबाहुकुमार की भाँति ही है।

(६) धनपति

धनपति कनकपुर के राजा प्रियचन्द्र और रानी सुभद्रादेवी का पौत्र तथा युवराज वैश्रमणकुमार व युवराज्ञी श्रीदेवी का पुत्र था। युवराज वैश्रमण ने पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया था। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर युवराज-पुत्र धनपति ने प्रभु मुख के बारह व्रत रूपी श्रावकधर्म स्वीकार किया था।

गणधर गौतम स्वामी के द्वारा पृच्छ किए जाने पर भगवान महावीर ने धनपति के पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हुए फरमाया कि “वह अपने पूर्वभव में मणिचयिका नगरी का ‘मित्र’ नाम का राजा था। उसने संभूतिविजय नामक श्रमण श्रेष्ठ को शुभ भावना से निर्दोष आहार बहराया, अतः यहाँ युवराज वैश्रमण के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।”

शेष वर्णन सुबाहुकुमार की तरह ही आया है अतः हम उसकी विवेचना नहीं कर रहे हैं।

(७) महाबल

महापुर नगर के राजा बल व रानी सुभद्रादेवी का पुत्र था महाबल। युवावस्था में उसका परिणय रक्तवती आदि पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ किया गया। प्रभु वीर का धर्मोपदेश उनके श्रीमुख से सुन महाबल ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। गौतम स्वामी ने महाबल के पूर्वभव की पृच्छ की। भगवान महावीर ने फरमाया—“मणिपुर नाम का नगर

था। वहाँ नागदत्त नाम के गाथापति रहते थे। उसने इन्द्रदत्त नामक अणगार भिक्षु को गोचरी में पवित्र भावनाओं के साथ निर्दोष आहारदान किया। उसी के प्रभाव से मनुष्यायु बंध कर महाबल के रूप में उत्पन्न हुआ।”

महाबल ने भी बाद में प्रभु महावीर से श्रमण दीक्षा स्वीकार की। शेष सारा वर्णन सुबाहुकुमार की तरह जानना चाहिए।

(८) भद्रनन्दी

शुघोष नगर, अर्जुन राजा और तत्त्ववती रानी। इन्हीं राजा-रानी के भद्रनन्दी राजकुमार पुत्र। उसका परिणम श्रीदेवी आदि पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ किया गया। प्रभु महावीर का उपदेश सुनकर भद्रनन्दी ने श्रावक जी के पालन योग्य बारह व्रत प्रभु-मुख से अंगीकार किए। पुनः प्रभु के पदार्पण पर श्रामण्यधर्म अंगीकार कर निरतिचारपूर्वक उसका पालन करते हुए सुबाहुकुमार की भाँति संथारा किया और इसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए।

सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने उनके पूर्वभव का वृत्तान्त गौतम स्वामी को इस प्रकार फरमाया—

“महाघोष नगर में धर्मघोष नामक गाथापति के रूप में उत्पन्न भद्रनन्दी के जीव ने धर्मसिंह मुनिराज को निर्दोष दान से प्रतिलाभित कर मनुष्यायु का बंध किया और भद्रनन्दी के रूप में उत्पन्न हुआ।”

शेष सारा वर्णन सुबाहुकुमार की भाँति समझ लेना चाहिए।

(९) महाचन्द्र

चम्पानगरी के राजा दत्त का युवराज था महाचन्द्र। वह राजा दत्त तथा रानी रक्तवती का पुत्र था। युवावस्था प्राप्त करने पर उसका परिणय श्रीकान्ता प्रमुख पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ हुआ।

एक बार चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में सर्वज्ञ, तीर्थकर प्रभु महावीर का आगमन हुआ। महाचन्द्र ने धर्मोपदेशना सुन प्रभु श्रीमुख से श्रावकधर्म के बारह व्रत अंगीकार किये।

गणधर गौतम स्वामी के पृच्छ करने पर प्रभु ने फरमाया कि “महाचन्द्र का जीव अपने पूर्वभव में चिकित्सका नाम की नगरी का राजा जितशत्रु था। उसने धर्मवीर्य नाम के अणगार श्रेष्ठ को उत्तम भावनाओं के साथ प्रासुक-एषणीय निर्दोष आहार प्रदान कर उत्तम मानव-भव

की आयुष्य का बंध किया। परिणामस्वरूप वह इस भव में चम्पानगरी का महाचन्द्र नाम का यह राजकुमार हुआ। यावत् श्रामण्यधर्म का विधिवत् अनुष्ठान कर महाचन्द्र मुनि भी सुबाहुकुमार की भाँति ही सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे।”

(१०) वरदत्त

सुखविपाकसूत्र में अन्तिम दशम अध्ययन ‘वरदत्त’ नाम का है। जम्बू स्वामी के पृच्छ करने पर आर्य सुधर्मा स्वामी वरदत्त के जीवन-वृत्त को सुनाते हुए फरमाते हैं कि—

उस काल और उस समय में साकेत नाम के नगर में मित्रनन्दी राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी रानी श्रीकान्ता ने एक सुन्दर, उत्तम लक्षणों वाले पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया—वरदत्त।

वरदत्त राजकुमार जब विवाह योग्य वय का हुआ तो वरसेना आदि पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार हुआ।

एक समय साकेत नगरी के उत्तरकुरु उद्यान में तीर्थंकर प्रभु महावीर पधारे और उद्यान स्थित पाशभृग यक्ष के यक्षायतन में विराजे। वरदत्त भी सर्वज्ञ प्रभु महावीर के पावन दर्शन के लिए गया और उनके मुख से निःसृत आत्म-कल्याणी वाणी को सुनकर प्रभावित हुआ। उसने प्रभु से गृहस्थधर्म के पालन योग्य श्रावकों के बारह व्रत ग्रहण किये।

गणधर गौतम स्वामी के द्वारा पृच्छ करने पर भगवान महावीर ने वरदत्त का पूर्वभव का वृत्तान्त फरमाते हुए बताया कि “वरदत्त अपने पूर्वभव में शतद्वार नगर का राजा विमलवाहन था। एक बार उसने धर्मरुचि अनगार को उत्कृष्ट भक्ति-भावना के साथ निर्दोष आहार बहराया। उसके पुण्य-प्रभाव से शुभोत्तम मनुष्यायु का बंध किया। वहाँ की भव-स्थिति पूर्ण कर वह इसी साकेत नगर के महाराजा मित्रनन्दी के घर वरदत्त के रूप में उत्पन्न हुआ।”

वरदत्त का शेष विवरण भी सुबाहुकुमार की तरह ही समझ लीजिए। भगवान के विहार कर देने के पश्चात् पौषधशाला में जाकर पौषधोपवास करना, भगवान के पास दीक्षित होने वालों, श्रावक-व्रत ग्रहण करने वालों, धर्मोपदेश श्रवण करने वालों को पुण्यशाली मानते हुए भगवान के पुनः पधारने पर दीक्षा लेने का संकल्प करना आदि। तदनंतर दीक्षित होकर संयम व्रत का पालन करते हुए वरदत्त मुनि इस मानव भव से देवलोक, देवलोक से पुनः मानव-भव, देवलोकों में भी बीच-बीच के एक-एक देवलोक को छोड़कर सुबाहुकुमार के ही समान गमनागम करते हुए अंत में उन्हीं की भाँति महाविदेह में जन्म, वहाँ चारित्र्य ग्रहण

कर श्रमणधर्म की सम्यक् आराधना से कर्मरहित बन मोक्षगमन भी सुबाहु की भाँति ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह कि वरदत्तकुमार का जीव स्वर्गीय तथा मानवीय अनेक भवों में उत्तम ऋद्धि, सिद्धि, सुखों का भोगोपभोग करते हुए अंत में सर्वार्थसिद्ध वैमानिक देव बन, वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो दृढ़ संयमव्रती बन दृढ़ प्रतिज्ञ की भाँति ही सिद्धगति को प्राप्त होगा।

□ उत्तम सुखों की प्राप्ति के लिए सुपात्रदान दें

बन्धुओं ! सुख के सागर में तैरती हुई दस आत्माओं के जीवनादर्श आपको सुनाए गये। कारण क्या था—अपार सुख, सम्पदा, वैभव, भोगोपभोग के साधन, स्वस्थ, सशक्त तन, उज्ज्वल मन आदि प्राप्त करने का ? आपने इसे अवश्य समझा होगा। वह कारण है—सुपात्रदान, निर्दोषदान, उत्कट श्रद्धाभाव से दिया दान। आप भी शुद्ध भावों से प्रासुक—एषणीय असणं, पाणं, खाइमं, साइमं का दान सुपात्र को, निर्ग्रन्थों को, त्यागी-विरक्तों को, श्रमणों को दें, देने की उत्कट भावना रखें तो प्रतिफल निश्चय आत्म-कल्याणी होगा।

आनंद ही आनंद !

□□

मोक्ष जासे लेई जस

आत्म-बन्धुओं !

वीतराग वाणी राग-द्वेषरूपी कर्म-शत्रुओं के विनाश के लिए अमोघ अस्त्र है। जो प्राणी भव्य हैं, सुलभबोधि हैं, उन प्राणियों के लिए इसका प्रयोग और उपयोग उनके जीवन के लक्ष्य की सिद्धि का अचूक साधन है। इस अस्त्र से जन्म-जन्मान्तर के कर्मवर्गणा के जो पुद्गल आत्मा के साथ मिलकर क्षीर-नीरवत् एक हो गये हैं, उन्हें हटाया जा सकता है, कम किया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा से अलग-विलग होते हैं, त्यों-त्यों आत्मा हल्की बनती जाती है, ऊपर उठती जाती है। यही है आत्म-विकास, गुणस्थान श्रेणी का चढ़ना। बचना है कर्म-पुद्गलों से तो जानकारी करनी होगी कि कर्म-पुद्गल क्यों चिपकते हैं। आत्मा के साथ, क्या-क्या कारण हैं, जिनसे कर्मबंध होता है? नये कर्मबंध के कारणों को जानने के साथ ही जो कर्म पहले से आत्मा को आवृत्त किये हुए हैं, उन्हें निर्जरित कैसे करना? इसका समाधान भी जानना होगा।

□ कर्मवाद का ज्ञान आवश्यक

कर्मविज्ञान का ज्ञान नहीं, कर्मों के भेद, प्रभेद, मूल-प्रकृतियाँ, उत्तर-प्रकृतियाँ, बँधने के कारण, कितने प्रकार से भोगे जाते हैं आदि बातों का यदि ज्ञान नहीं तो नवीन कर्मबंध निरन्तर होते रहेंगे, संसार-चक्र के साथ जीवात्मा का जीवन-मरण चक्र भी चलता रहेगा। जिस जीव के कर्मवाद को जान लिया, समझ लिया, अटूट विश्वास कर लिया और यदि वह भव्य है तो अन्तःकरण से कर्मबंधन से दूर रहना पसंद करेगा, कर्मरहित होना चाहेगा और उसके लिए जीवन का समस्त पुरुषार्थ सम्यक्-साधना में लगा देगा। विवशतावश कर्मबंधन के हेतु में जाना भी पड़ा तो अन्तर् में अलिप्त रहते हुए पश्चात्तापपूर्वक उससे हटने का प्रयत्न करेगा।

□ साधारण ज्ञान

किसे कहते हैं, कर्म? यह आप सुन चुके हैं, जान चुके हैं? इन कर्मों की कुल संख्या आठ है। इनके नाम हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय।

इन मूल आठ कर्म-प्रकृतियों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रथम घातिकर्म में वे कर्म-प्रकृतियाँ हैं जो आत्मा की शक्तियों, आत्मा के गुणों का घात करती हैं। ये चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय।

(२) जो कर्म-प्रकृतियाँ आत्मा के निज गुणों का घात तो नहीं करती, पर जीव को संसार में रोके रखती हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। ये भी चार हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।

□ ज्ञानावरणीय कर्म

ज्ञानावरण में दो शब्द आये हैं—ज्ञान और आवरण। आत्मा का गुण है, ज्ञान। अनंत ज्ञान की धारक है आत्मा, पर यह 'ज्ञानावरण' नामक कर्म-पुद्गल आत्मा के इस ज्ञान गुण को वैसे ही आच्छादित कर देता है जैसे वर्षाकाल के मेघ अनंत प्रकाश-पुँज सूर्य को आच्छादित कर अंधकार-सा फैला देते हैं, प्रकाश को छुपा लेते हैं।

□ बंधन के कारण

क्या-क्या कारण हैं ज्ञानावरणीय कर्मबंधन के? कारण बिना कोई कार्य नहीं होता। व्यक्ति यदि धर्म करता है तो कर्म निर्जरण हेतु और यदि वह सांसारिक प्रवृत्तियाँ, पापकार्य करता है तो स्वार्थपूर्ति के निमित्त या कषायों के वशीभूत होकर। पाप-प्रवृत्तियों में कर्मबंध निश्चित है।

आत्मा अनंत ज्ञान धारक है, ज्ञान आत्मा का निज गुण है। छः कारणों से आत्मा का वह ज्ञानगुण आवृत्त हो जाता है। क्या आप जानते हैं वे छह कारण? वे हैं—

- (१) ज्ञान व ज्ञानी की निन्दा करना, उनके प्रतिकूल आचरण करना।
- (२) ज्ञान को व ज्ञानी के नाम को छिपाना।
- (३) ज्ञान में विघ्न डालना व ज्ञानार्थी को अन्तराय देना।
- (४) ज्ञान तथा ज्ञानियों के प्रति द्वेष-भाव रखना।
- (५) ज्ञान तथा ज्ञानियों की असातना करना।
- (६) ज्ञानियों के साथ मिथ्यावाद विवाद करना।

□ अज्ञानवादियों की मान्यता

मिथ्यात्व के तीन सौ तिरसठ (३६३) पाखण्ड मत हैं, उनमें से एक अज्ञानवाद है। अज्ञानवादी मानते हैं कि ज्ञान यदि होगा तो ज्ञान का अहंकार हो जायेगा, अतः ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं। ज्ञान नहीं होगा तो अहं नहीं होगा, होगी सरलता। जहाँ सरलता है, वहीं मुक्ति है, पर यह तथ्य सत्य नहीं है। प्रभु कहते हैं—एकान्तवादी मत बनो, अनेकान्तवाद की दृष्टि रखो। अनेकान्त दृष्टि यह कि न अकेली सरलता मुक्ति दिला सकती है, न अकेला ज्ञान। मुक्ति प्राप्त करनी है तो सरलता के साथ चाहिए सम्यग्ज्ञान भी। अकेले सरलता से पुण्योपार्जन हो सकता है, मानव-भव तक गति हो सकती है पर मुक्ति नहीं मिल सकती।

□ ज्ञान व ज्ञानी का नाम छुपाना

इसी प्रकार कई बार देखने में आता है कि बालक-बालिकाएँ, श्रावक-श्राविकाएँ, सभा-समारोह, प्रवचन, जुलूस आदि में भजन, गीतादि बोलते हैं तो रचनाकार आचार्य, संत, कवि या जो भी रचनाकार हैं, उनका नाम नहीं लेकर, अपना नाम लेते हैं, जैसे वह गीत उन्हीं का बनाया हुआ हो।

आपको प्रतिक्रमण आता है, कराते हैं आप, लोग कहते हैं कि अमुक को आता है प्रतिक्रमण। क्या कर्त्तव्य है आपका? भविष्य के लिए किसी अन्य को तैयार करना चाहिए या नहीं? नहीं करते आप तैयार, नहीं सिखाते किसी अन्य को! क्यों? आपकी पूछ कम हो जायेगी। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के नाम को छिपा देते हैं।

सिखाते हैं, पर न्यूनाधिक बताते हैं तो भी कर्मबंध होता है। ध्यान रखिए बहुत सरलता—सहजता से बँध जाते हैं कर्म, पर भोगते समय अत्यन्त दारुण दुःख सहना पड़ता है, लम्बे समय तक भोगना पड़ता है दुःखों को।

□ ज्ञान व ज्ञानार्थी के लिए विघ्न करना

अनेक बार माता-पिता आध्यात्मिक ज्ञान, ध्यान, संस्कार आदि के प्रति आकर्षित हो अपने बच्चों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए भेज देते हैं, पर बच्चे को जब कुछ लगन लगती है, उसके भीतर में जब थोड़ी आध्यात्मिकता जगती है तभी लगता है उन्हें कि कहीं बच्चा संसार-विमुख न बन जाये, विरक्ति का बीज न पनप जाये उसमें, वैराग्य का अंकुर न फूटने लगे उसके अन्तर् में, अतः वे उसे भेजना बन्द कर देते हैं। क्या होगा तब? ज्ञानावरणीय कर्म का बंध ऐसे ही तो होता है। ज्ञान सीखने में विघ्न डाल देते हैं तो ज्ञानावरण होना ही है।

□ ज्ञान व ज्ञानियों की असातना

आवश्यकसूत्र में तैंतीस प्रकार की असातनाओं का विवरण आता है। इनमें मुख्यतः अविनय है। गुरु के साथ वार्त्ता करता है शिष्य पर विनय का, शिष्टाचार का ध्यान नहीं रखता, ज्ञान-प्रदाता गुरु कहते हैं कुछ पर शिष्य जैसे सुनता ही नहीं, उठने-बैठने आदि का भी विनय नहीं, अज्ञानवादियों की भाँति ज्ञान की अनुपयोगिता बताकर अज्ञान का महत्व नहीं बढ़ाना। नहीं तो यह ज्ञान की असातना होगी। ज्ञान का साधन-ग्रन्थों को रखने, उठाने, उन्हें पढ़ने का विवेक नहीं। पूर्वाचार्य ज्ञान-ग्रन्थों को जमीन पर नहीं रखते थे, पैरों में नहीं आने देते थे, ठवणी होती थी, खोलते थे उसे और उस पर रखते थे पुस्तक। क्या हो रहा है आज? ज्ञान-ग्रन्थ चोरी किये जा रहे हैं, करवाये जा रहे हैं। उपयोग न हो तो रद्दी में बेच दिए जाते हैं। आगम के पन्ने चाट-पकौड़ी के ठेले पर, ठेले वाला क्या जाने क्या सही उपयोग है उनका? वह तो उसी पर चाट-पकौड़ी रखकर आपको पकड़ा देता है। असातना की अति हो रही है आज।

पहले के शिष्य गुरुजनों के संकेत को भी समझ जाते थे, प्रतीक्षा करते थे कि कब गुरु कुछ कहें और वे उनकी आज्ञा का पालन करें, विनयपूर्वक वन्दनादि करके सूत्र-पाठ लेते थे, वन्दनादि कर जो पूछना हो पूछते थे और आज..... ?

संकेत क्या, गुरु मुँह से कहते रहेंगे, पर शिष्य सुनेंगे नहीं, जैसे गुरु उन्हें नहीं दीवार को सुना रहे हों। ऐसी स्थिति भी कई बार बन जाती है।

जाते हैं धम्-धम् करते, बिना पूँजे, बिना नीचे देखे, पहुँचते हैं गुरु के पास, मुँह के बिलकुल नजदीक मुँह ले जाते हैं और दनाक् से प्रश्न फेंक देते हैं जैसे प्रश्न नहीं पूछ रहे हों, पत्थर फेंक रहे हों।

अनेक श्रावक आते हैं, मुँह में पान है, गुटका है, उत्तरासंग नहीं, मुँह पर रूमाल क्या, अपना हाथ तक नहीं और दनादन बातें मुनियों से करते चले जाते हैं। मुँह से छींटे भी उछालते हैं, पर इसकी उन्हें चिन्ता नहीं कि वे छींटे गुरु के कपड़ों पर, शरीर के अंगोपांगों पर गिर रहे हैं। बन्धुओं! चिन्तन करिये, स्थिति कितनी दयनीय, सोचनीय है।

□ ज्ञान व ज्ञानी से द्वेष रखना व झूठा विवाद करना

इसी तरह मन में ज्ञानी गुरुओं से द्वेष, बालक पढ़ रहा है धर्मग्रन्थ तो उन ग्रन्थों से द्वेष, सीख गया बालक कुछ तो उसके लिए भी द्वेष-भाव!

गुरु महाराज ने आगम की कोई बात कही। अनेक व्यक्ति स्वभाव से ही तर्कशील! कहा—यह सही नहीं है, मैंने तो ऐसा सुना, ऐसा पढ़ा है, अमुक ने मुझे ऐसा बताया था।

आगम के अर्थ को तोड़-मरोड़कर पेश करना। अपनी जानकारी पर हठाग्रह करना। ये सभी ज्ञानावरण बंध के कारण हैं।

ये सभी ज्ञानावरण के, ज्ञानावरणीय कर्मबंध के कारण हैं। समझकर बच सके यदि तो बंध नहीं होगा। नहीं बचे, परवाह नहीं की, बँधते गये तो भोगने पड़ेंगे।

□ ज्ञानावरणीय कर्मबंध का फल

ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आता है तो दस प्रकार से फल प्रदान करता है—

(१) श्रोतावरण—श्रवण शक्ति अर्थात् कान से सुनने की शक्ति में मंदता मिलती है या फिर बहरापन पाता है। वेदनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के फल में अन्तर है। वेदनीय में तो वेदना होती है, जैसे कान के परदे में तिनका लग गया, घाव हो गया, रस्सी पड़ गई, दर्द होता है तो वह वेदनीय कर्म का फल है। घाव होने और दर्द के सद्भाव में भी व्यक्ति अच्छी तरह सुनता है। ज्ञानावरणीय के परिणाम से बलप्राण की क्षीणता आती है या बलप्राण का अभाव रहता है। श्रोतावरण में श्रोतेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम लब्धि का आवरण ग्रहण किया जाता है।

(२) श्रोतविज्ञानावरण—सुनता तो है श्रवणेन्द्रिय से, पर समझ नहीं पाता। हर एक की समझ अलग-अलग होती है। कोई ज्यादा ही समझदार होता है तो कोई कम। जिसका जैसा ज्ञानावरण, अधिक है तो स्वयंप्रज्ञा कम और कम है तो स्वयंप्रज्ञा अधिक होगी। श्रोतविज्ञानावरण में श्रोतेन्द्रिय के उपयोग के आवरण को ग्रहण किया जाता है।

(३) नेत्रावरण—नेत्र तो मिलते हैं पर देखने की शक्ति कम या अंधापन प्राप्त होता है। आजकल देखा जाता है कि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं के नजर का चश्मा लग जाता है, यह ज्ञानावरण का ही फल है। इसमें नेत्रेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम लब्धि का आवरण ग्रहण किया जाता है।

(४) नेत्रविज्ञानावरण—नेत्र हैं, दिखाई भी पूरा देता है, पर जो देखा उसे समझने की बुद्धि नहीं, स्वयंप्रज्ञा यहाँ भी अल्प या नहीं। इसमें नेत्रेन्द्रिय उपयोग के आवरण को ग्रहण किया जाता है।

(५) घ्राणावरण—नाक है, पर सूँघने की शक्ति का कम या बिलकुल नहीं होना। घ्राणेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम लब्धि का आवरण ग्रहण किया जाता है।

(६) घ्राणविज्ञानावरण—नाक भी है, सूँघ भी सकता है, पर क्या सूँघा? कैसी सुगंध? किसकी सुगंध?—यह ज्ञान अल्प या नहीं। इसमें घ्राणेन्द्रिय विषयक उपयोग के आवरण को ग्रहण किया जाता है।

(७) **रसनावरण**—खाता है, स्वाद भी आता है, पर किसी स्वाद का अनुभव नहीं होता अथवा स्वाद लगता ही नहीं कि कैसा स्वाद है? इसमें रसनावरण विषयक क्षयोपशम लब्धि का आवरण ग्रहण किया जाता है।

(८) **रसनाविज्ञानावरण**—स्वाद तो आया पर उस स्वाद को समझने की शक्ति नहीं। इसमें रसनेन्द्रिय विषयक उपयोग के आवरण आते हैं।

(९) **स्पर्शनावरण**—स्पर्श शक्ति से पहचानने की मंदता होना अथवा सर्वथा अभाव होना। इसमें भी उपरोक्त की तरह क्षयोपशम लब्धि का आवरण होता है।

(१०) **स्पर्शविज्ञानावरण**—स्पर्श को समझने की योग्यता, विवेक, स्वयंप्रज्ञा का न होना। स्पर्श विषयक उपयोग में आवरण रहता है।

सभी संसारी जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है जिससे एकेन्द्रिय को चार, बेइन्द्रिय को तीन, तेइन्द्रिय को दो, चतुरिन्द्रिय को एक विषयक लब्धि और उपयोग का पूर्ण आवरण होता है। पंचेन्द्रिय में भी ज्ञान के क्षयोपशम में अन्तर तथा जिनका शरीर कुष्ट आदि रोगों से अपहत् हो गया उन्हें स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी या जो जन्म से अंधे, लँगड़े, गूँगे, बहरे आदि हैं या बाद में शस्त्र प्रहार से हुए हैं यह भी ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ही जानना।

ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलों के उदय से जीव अपने जानने योग्य (ज्ञातव्य) का ज्ञान नहीं कर पाता, जानने की इच्छा होने पर भी जानने में समर्थ नहीं होता, पहले जाने हुए को भी नहीं जान पाता तथा जीव का ज्ञान लुप्त हो जाता है, सीखे हुये ज्ञान में विस्मृति आ जाती है। ये ज्ञानावरणीय कर्म-उदय के प्रभाव से जानना चाहिये।

□ ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति

बन्धुओं ! इस ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त ही है, पर उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है। बँध गया कभी निकाचित कर्म, तीव्र कषायों के पारिणामिक रसायन से तो उत्कृष्ट शिविर में भाग लिया। शिविर-समाप्ति के पश्चात् घर आया तो आपके समक्ष अनेक बार शिविर और मुनिराजों की प्रशंसा करता रहा, उनके गुण गाता रहा। आपको आया आवेश, बोला—“ये क्या ‘महाराज, महाराज’ लगा रखी है। चेला बनना है क्या महाराज का? ठहर, अभी तेरी अक्ल ठिकाने लगाता हूँ।”

इतना कहा पिता ने और फिर आव देखा न ताव, उठाई सारी धर्म की पुस्तकें और फेंक दीं उन्हें खिड़की से बाहर। एक अन्य श्रावक जी ने उन्हें चूल्हे में झोंक दिया। क्रोध-कषाय और ज्ञान की असातना, ज्ञानी की असातना। कैसे-कैसे कर्मबंध किये होंगे? तथ्य केवलीगम्य ही है।

□ ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ

ज्ञान के भेद होते हैं पाँच-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव ओर केवल।

मतिज्ञान को आवृत्त करने वाला मतिज्ञानावरण है इसी प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान को आवृत्त करने वाले क्रमशः श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण हैं।

दस प्रकार के दुःखद परिणामों और मतिज्ञानावरण आदि पाँच प्रकृतियों के बंध से बचना है तो ज्ञानावरण बंध के छह कारणों से अपने को बचाइये।

□ ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होने पर 'केवलज्ञान'

जिन महापुरुषों ने ज्ञानावरण को तोड़ने का पथ अपनाया, जिन्होंने निर्मल एवं कठिन साधना करके आत्मा के 'अनंत ज्ञान' गुण-धर्म का प्रकट कर लिया। वे गुणी, महागुणी बन गये।

बन्धुओं! ध्यान रखने की बात है कि पहले मोहनीय कर्म क्षीण होता है। मोहनीय के नष्ट होने पर दर्शनावरण नष्ट होता है और ज्ञानावरण अन्तराय भी उसके साथ ही। मोहनीय कर्म नष्ट होता है १२वें गुणस्थान में और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय नष्ट होता है १३वें गुणस्थान में।

□ श्रेणिक महाराज के दस पौत्र

चल रहा है उन महापुरुषों का प्रेरणादायी उज्ज्वल प्रसंग, जिन्होंने यथातथ्य ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानावरण कर्म को क्षीण बनाया, उत्कट संयम का पालन किया और दिव्य देव-ऋद्धि प्राप्त करने के साथ संसार को सुखमय बना लिया। एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन्हीं दिव्य पुरुषों के चरणों में अपना भाव-भरा अभिनन्दन व्यक्त करते हुए कहा है—

श्रेणिक ना पोता, पउमादिक हुआ दस।

वीर पै व्रत लेइ ने, काढ्यो देह नो कस॥८६॥

संयम आराधी, देवलोक मां जई बस।

महाविदेह क्षेत्र मां, मोक्ष जासे लेई जस॥८७॥

□ महाराज श्रेणिक : परिचय एक दृष्टि में

जैनागम निरयावलिका में वर्णन आता है कि श्रेणिक के पौत्रों में से पद्म आदि दस पौत्रों ने प्रभु महावीर के पास दीक्षा अंगीकार की, तप किया, देह को क्षीण, निर्बल, अशक्त बनाया

और आत्मा को उज्ज्वल, सशक्त, विकसित किया। जैन इतिहास में राजा श्रेणिक का नाम विशेष ख्याति-प्राप्त है। प्रभु महावीर का परम उपासक था श्रेणिक। प्रभु के उपासक बनने से पूर्व वह जैनधर्म, जैन संत-सती व जैनानुयायियों का परम द्वेषी था। नौ मल्लवी-नौ लिच्छवी गणराज्यों के राज्याध्यक्ष वैशाली-नरेश महावीरोपासक व्रतधारी श्रावक राजा चेटक की पुत्री चेलना को रानी बनाने के बाद श्रेणिक में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। चेलना अपने पिता की ही भाँति भगवान महावीर की परम उपासक व उसके धर्मोपदेशों के अनुसार चलने वाली थी। उसने बहुत ही धैर्य एवं विनय-विवेक से प्रयत्न कर राजा श्रेणिक को जैनधर्म व प्रभु महावीर की ओर आकर्षित किया। चेलना के सद्प्रयत्नों से श्रेणिक सन्मार्ग पर आ गये और धीरे-धीरे महावीर प्रभु के परम उपासक बन गये। उनके स्वयं के अनेक राजकुमार, उनकी अनेक रानियाँ, उनके अनेक पौत्र, उनकी अनेक पुत्र-वधुएँ दीक्षित बन साधना के पथ पर चले। श्रेणिक ने भी बड़ी प्रसन्नता व उल्लास से धर्म के मर्म को जानते हुए उन्हें दीक्षित होने की अनुमति प्रदान की। बन्धुओं ! परिवार के किसी सदस्य को दीक्षा के लिए प्रेरित करना, आज्ञा माँगे यदि दीक्षा की तो आज्ञा देना, दीक्षा-अनुमति या दीक्षा में बाधक न बनाया—ये सब बातें जिनशासन की सच्ची सेवा के लक्षण मानी गई हैं।

जैन साहित्य में उसके छत्तीस (३६) पुत्रों व छब्बीस रानियों के नाम मिलते हैं। अन्तकृतदशांगसूत्र में श्रेणिक की तेवीस रानियों के भगवान महावीर के सम्मुख श्रमणीधर्म स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त करने का उल्लेख है। इनमें से नन्दा-नन्दवती आदि तेरह रानियों ने श्रेणिक के जीवनकाल में उसकी आज्ञा से दीक्षा ली थी और काली, सुकाली आदि दस रानियों ने श्रेणिक के मरणोपरान्त दीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक के रानी चेलना से उत्पन्न कूणिक नामक पुत्र ने उसे बन्दी बनाया था और उसी के कारण राजा श्रेणिक अपने हीरे की अँगूठी में लगा तालपुट विष चाटकर मर गया था। पिता को बन्दी बनाने में कूणिक के साथ काली, सुकाली आदि दस रानियों के दस पुत्रों—काल, सुकाल आदि ने उसके षड्यन्त्र में सहयोग दिया था और सहभागी भी थे, अतः श्रेणिक के राज्य को इन ग्यारह राजकुमारों ने आपस में बाँट लिया। ये ग्यारह कुमार मृत्यु के बाद नरक गति में उत्पन्न हुए।

जाली, मयाली आदि तेवीस राजकुमारों ने श्रमणधर्म पालन कर संसार के बंधन को तोड़ा और अनुत्तर साधना कर अनुत्तर विमान नामक देवलोक में उत्पन्न हुए। मेघकुमार ने भी दीक्षा ली व अनुत्तर विमान के अधिकारी बने। नन्दिषेण भी श्रमण बने व साधना-पथ पर अग्रसर हुए।

□ श्रेणिक-पुत्र कूणिक : एक परिचय

पितृ घातक कूणिक ने पिता की आत्महत्या से व्यथित बन राजगृह छोड़कर चम्पानगरी बसाई। सेचनक हाथी और देवनामी अठारहसरे बंकचूल हार के कारण हल्ल-विहल्ल से अनबन हुई। हल्ल-विहल्ल अपने नाना चेटक राजा के यहाँ गये तो वहाँ भी दूत भेजा। बात न बनी तो युद्ध का नगाड़ा बजा दिया। एक तरफ ग्यारह भाइयों की सेना थी। उस सेना में तैंतीस हजार हाथी, तैंतीस हजार घोड़े, तैंतीस हजार रथ और तैंतीस करोड़ पदाति सैनिक थे।

वैशाली-नरेश राजा चेटक भी कम नहीं थे। शरणागत की रक्षार्थ उन्होंने नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी इन अठारह काशी-कौशल राजाओं को बुलाकर सलाह की। सभी ने शरणागत-रक्षा को क्षत्रिय-कर्तव्य माना और वे सभी युद्ध के मैदान में आ डटे। चेटक राजा की इस सेना में सत्तावन हजार हाथी, सत्तावन हजार घोड़े, सत्तावन हजार रथ एवं सत्तावन करोड़ पैदल सैनिक थे।

बन्धुओं ! राजा चेटक भगवान महावीर का परम उपासक और श्रावक के बारह व्रतों का धारक-पालक था। उसके विशेष नियम था—एक दिन में एक ही बाण चलाने का। उसका चलाया बाण कभी निष्फल नहीं होता था। अजातशत्रु कूणिक ने प्रथम दिन कालकुमार को, दूसरे दिन सुकालकुमार को, इस तरह दस दिन तक एक-एक कर अपने दस भ्राताओं को सेनापति बनाकर युद्ध करने भेजा। युद्ध अति घमासान, महाभयंकर था, ये दसों राजकुमार चेटक राजा के अचूक बाणों से मारे गये और नरक में उत्पन्न हुए।

□ पद्मकुमार (जन्म, शिक्षा, विवाह)

राजा श्रेणिक के पुत्र कालकुमार की रानी का नाम पद्मावती था। एक दिन सुख-शय्या पर निद्रित-सी पद्मावती रानी ने स्वप्न में सिंह को देखा। स्वप्न देख वह जागृत हुई। स्वप्न-फल पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसके गर्भ में एक तेजस्वी पुत्र आया है।

गर्भकाल पूर्ण होने पर पद्मावती रानी ने एक अति सुन्दर, सुकुमार, सुडौल, सुदर्शनीय पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया—पद्म !

पद्मकुमार का पालन-पोषण राजसी ठाट-बाट से हुआ। आठ वर्ष का होने पर उसे अध्ययन हेतु कलाचार्य के पास भेजा गया।

कलाचार्य ने उसे 'गणित' प्रधान लेखन आदि बहत्तर कलाएँ सूत्र से, अर्थ से सिखलाई। सैद्धान्तिक शिक्षा के साथ जहाँ-जहाँ आवश्यक था, वहाँ-वहाँ प्रयोग से उन शिक्षण कलाओं को सिद्ध करवाकर प्रायोगिक (Practical) ज्ञान भी दिया। वे बहत्तर कलाएँ इस प्रकार हैं—

(१) लेखन, (२) गणि, (३) रूप बदलना, (४) नाटक, (५) गायन, (६) वाद्य बजाना, (७) स्वर-पहचान, (८) वाद्य सुधारना, (९) समान ताल का ज्ञान, (१०) जुआ खेलना, (११) वाद-विवाद, (१२) पासों से खेलना, (१३) चौपड़ खेलना, (१४) नगर-सुरक्षा, (१५) जल व मिट्टी के संयोग से वस्तु का निर्माण, (१६) धान्य उत्पन्न करना, (१७) नया पानी पैदा करना, अशुद्ध पानी को संस्कारित करके शुद्ध करना तथा उष्ण करना, (१८) नवीन वस्त्र बनाना, वस्त्र रँगना, वस्त्र-सिलाई और वस्त्र-धारण, (१९) विलेपन की वस्तु को पहचानना, उसे तैयार करना व उसका लेपन करना, (२०) शय्या बनाना, शयन करने की विधि का ज्ञान, (२१) आर्या छंद को पहचानना व बनाना, (२२) पहेली-निर्माण व बूझना, (२३) मागधिका अर्थात् मगध देश की भाषा में गाथा आदि बनाना, (२४) प्राकृत भाषा में गाथा आदि बनाना, (२५) गीति छंद बनाना, (२६) श्लोक (अनुष्टुप् छंद) बनाना, (२७) सुवर्ण बनाना, सुवर्ण के आभूषण बनाना, सुवर्ण के आभूषण पहनना आदि, (२८) नई चाँदी बनाना, उसके आभूषण बनाना, पहनना आदि, (२९) चूरण-गुलाब, अबीर आदि बनाना व उनका उपयोग करना, (३०) गहने घड़ना, पहनना आदि, (३१) तरुणी की सेवा करना, प्रसाधन करना, (३२) स्त्री के लक्षणों को जानना, (३३) पुरुष के लक्षणों को जानना, (३४) अश्व के लक्षण जानना, (३५ से ४२) निम्न लक्षण जानना—हाथी, गाय-बैल, मुर्गा, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, कांकणी-रत्न, (४३) वास्तुविद्या अर्थात् मकान, दुकान आदि इमारतों की विद्या, (४४) सेना के पड़ाव के प्रमाण जानना, (४५) नया नगर बसाने आदि की कला, (४६) व्यूह-मोर्चा-ज्ञान, (४७) विरोधी के व्यूह के समक्ष अपनी सेना का मोर्चा रचना, (४८) सैन्य संचालन, (४९) प्रतिचार—शत्रु सेना के समक्ष अपनी सेना को चलाने की कला, (५०) चक्रव्यूह—चाक के आकार में मोर्चा बनाना, (५१) गरुड़ के आकार का व्यूह बनाना, (५२) शकट व्यूह रचना, (५३) सामान्य युद्ध ज्ञान, (५४) विशेष युद्ध कला, (५५) अत्यन्त विशेष युद्ध कला, (५६) अट्टि (अस्थि) से युद्ध करना, (५७) मुष्टि-युद्ध ज्ञान, (५८) बाहु-युद्ध ज्ञान, (५९) लता-युद्ध करना, (६०) बहुत को थोड़ा और थोड़े को बहुत बताने का ज्ञान, (६१) खड्ग की मूठ का निर्माण, (६२) धनुष-बाण विद्या, (६३) चाँदी का पाक निर्माण, (६४) स्वर्ण-पाक निर्माण, (६५) सूत्र का छेदन, (६६) कृषि, (६७) कमल-नाल-छेदन, (६८) पत्र-छेदन, (६९) कड़ा-कुण्डल आदि छेदन, (७०) मृत (मूर्च्छित) को जीवित करना, (७१) जीवित को मृत-तुल्य बनाना, (७२) काक, घूक आदि पक्षियों की बोली पहचानना। पद्मकुमार ने यौवन की दहलीज पर कदम रखने तक इन बहत्तर कलाओं का शिक्षण प्राप्त कर उसमें पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ली। विवाह योग्य आयु होने पर उसका

परिणय आठ उत्तम राजकन्याओं के साथ किया गया। दहेज में उसे आठ-आठ कोटि सुवर्ण आदि वस्तुएँ प्राप्त हुईं। विवाह के पश्चात् ऊँचे प्रासादों में सर्वभोग-साधनों का भोग करते हुए वह आनन्दमग्न रहने लगा।

□ प्रभुदेशना श्रवण

एक बार चम्पानगरी में प्रभु महावीर पधारे। समवसरण की रचना हुई। चम्पानगरी की प्रजा प्रभु-वन्दन के लिए अनेक समूहों में पूर्णभद्र उद्यान की ओर जाने लगी। अजातशत्रु कूणिक भी राजसी ठाट-बाट से प्रभु-दर्शन के लिए चला। पद्मकुमार भी यह सब देख-सुनकर प्रभु के दर्शन-वन्दन के मानस से वहाँ गया।

प्रभु महावीर ने धर्मसभा को अपनी दिव्योपम अमृत वाणी से सम्बोधित किया। पद्मकुमार ने धर्मदेशना सुनी।

□ वीतराग वाणी है आत्म-कल्याणी

बन्धुओं ! वीतराग वाणी आत्म-कल्याणी है, वीतराग-पद तक पहुँचाने वाली है। यह अमृतोपम वाणी राग-द्वेष को छिन्न-भिन्न करती है, कषाय-चतुष्क को समाप्त करती है, अशुभ भावनाओं का नाश कर शुभ भावनाओं को प्रकटाने वाली वीतराग वाणी का प्रभाव आज भी है, अनेक भव्य-जीवों को वह संसार से विरक्तिभाव प्रदान कर मुक्ति के पथ पर चलने की प्रेरणा आज भी देती है।

वीतराग वाणी सुनकर वैराग्यभाव की उत्पत्ति का जोधपुर नगर का एक रोचक प्रसंग है। ऐतिहासिक सत्य है यह। यहीं के निवासी थे—सुश्रावक, श्रेष्ठिवर्य श्री विजयराज जी धारीवाल। अपने धर्मनिष्ठ स्वभाव के कारण वे जोधपुर संघ के संघपति थे।

□ युवक रायचन्द्र के विवाह की तैयारी

इन विजयराज जी का एक युवा पुत्र था—रायचन्द्र। युवावस्था जब आती है तो घर के बड़े-बूढ़ों को उसके विवाह की चिन्ता लग जाती है। लड़के के लिए लड़कियों की शोध और लड़कियों के लिए लड़कों की शोध प्रारम्भ हो जाती है। घर-घराना अच्छे हो, लड़का-लड़की खानदानी हों और कोई ऐब, व्यसन आदि न हो तो सम्बन्ध शीघ्र बन जाते हैं।

रायचन्द्र की भी सगाई हुई। सगाई के पश्चात् शीघ्र ही विवाह का मुहूर्त भी निकल आया। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। लड़का पाट बैठा और फिर बंदोले जीमने के लिए सगे-सम्बन्धियों के यहाँ जाने लगा।

□ पूज्य श्री जयमल जी म. सा. का पदार्पण

इन्हीं दिनों ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एकभवावतारी युगपुरुष आचार्य पूज्य श्री जयमल जी म. सा. का जोधपुर में पदार्पण हुआ। उस समय उनकी ख्याति पूरे जैन-समाज में फैल चुकी थी। उनके दर्शन-वन्दन व व्याख्यान वाणी श्रवण के लिए जनसमूह, श्रेष्ठिवर्ग, राज्याधिकारी आदि बड़ी संख्या में आने लगे।

युवा रायचन्द्र के बंदोले चल रहे थे, शादी की तैयारियाँ थीं, अतः उस खुमारी में वह कुछ दिन पूज्यश्री के दशनार्थ नहीं गया। मित्र-मण्डली जब-तब उसे घेरे ही रहती थी और वह भी उन मित्रों की बातों, हँसी-मजाकों में मगन बना हुआ था।

□ गुरु-दर्शन किए या नहीं ?

एक दिन वह सजधजकर अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ बंदोला जीमने हेतु जाने को तैयार हुआ। मखमल के जामे, शेरवानी, अचकन, विरजस आदि तत्कालीन परिधान, सिर पर साफा, साफे में कलंगी, गले में खरे मोती एवं पत्रे के कण्ठे पहने हुए था। सोने की जड़ाऊ मूठ वाली कटार कमर में सुशोभित हो रही थी। अँगुलियों में अँगूठियाँ, पैर में जरी की मोजड़ी। बाने (पाट) बैठा हुआ था, अतः प्रतिदिन नया फूलों का हार भी पहनना एक रीति थी। तैयार होकर पिताश्री के चरण छूने गया। चरण छुए उनके और बोला—“मैं अमुक के यहाँ बंदोले पर जा रहा हूँ।”

पिताश्री बोले—“तुम्हारे सारे दोस्त आ गये।”

रायचन्द्र ने कहा—“कुछ आ गये हैं, कुछ आने हैं।”

अचानक पिता श्री विजयराज जी बोले—“अरे! तूने गुरुदेव के दर्शन किए या नहीं?”

रायचन्द्र ने कहा—“अभी तक तो नहीं गया।”

विजयराज जी बोले—“पूज्यश्री को यहाँ पधारे इतने दिन हो गये और तू उनके दर्शन करने नहीं गया। इतनी बड़ी भूल कैसे की तूने?”

□ कौन माता-पिता पूछते हैं, आज धर्म-शिक्षा की बात ?

बन्धुओं! आप भी कभी पूछते हैं अपनी सन्तान से कि गुरुदेव शहर में पधारे हुए हैं, दर्शनार्थ गया या नहीं। प्रथम तो आप पूछते ही नहीं; यदि पूछ भी लेते हैं तो आजकल की ये टी. वी. संस्कृति की सन्तानें जो प्रत्युत्तर देती होंगी, उनको सुनकर आप फिर कभी पूछने की शायद हिम्मत न करें। संस्कार ही नहीं दिये आपने उन्हें। कभी-कभी अनेक श्रावक-श्राविकाएँ कहती हैं—“बाब जी! अब तो बच्चों को कुछ कहने का जमाना ही नहीं रहा।”

बात यही है। गुरुदर्शन करे तो भला, न करे तो भला। आपको क्या मतलब? कहने से भी तो कुछ होना-जाना नहीं है। धर्म के प्रश्न पर सब छूट है, पूरी ढील है आपकी ओर से। शिक्षा को ही देखिए। व्यावहारिक शिक्षा बच्चों की उत्तम हो, इस पर माता-पिता का पूरा ध्यान रहेगा। “स्कूल-कॉलेज गया या नहीं? पढ़ाई कैसी हो रही है? इस बार अंक कैसे आये? मासिक जाँच रिपोर्ट बताओ।” आदि सारी बातें आपके दिलोदिमाग में रहती हैं और उनका आप प्रयोग भी करते हैं, पर यदि कहीं धार्मिक शिक्षा की बात आई तो? ज्ञान, ध्यान, संस्कार शिविर में जाने की प्रेरणा देना हो तो? कहेंगे आप अपनी सन्तानों से कुछ? नहीं कहेंगे। जाता होगा अपने मन से तो वह जाने, आपको उससे कोई मतलब नहीं।

□ आपका ध्यान बच्चों की सांसारिक शिक्षा पर

घर में टी. वी. है। माता भी देखती है, पिता भी देखते हैं। कोई अच्छा सीरियल है, बच्चा उसी सीरियल को कभी मिस नहीं करता। कभी मिस कर दे, भूल जाए, ताश, चौपड़, शतरंज, कैरम आदि खेलने में मगन हो तो आवाज देकर बुलवा लेंगे, पर कभी धार्मिक अध्ययन के लिए नहीं कहेंगे, नहीं पूछेंगे। व्यावहारिक शिक्षा में हजार-दो हजार प्रति मास देकर ट्यूटर रख देंगे, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ने के लिए कोई प्रेरणा नहीं करेंगे, क्योंकि प्रत्यक्ष लाभ जो नहीं दिखाई देता यहाँ। वहाँ तो सन्तान डॉक्टरी कर लेगी, इंजीनियर बन जायेगी, कलेक्टर या कोई अन्य अफसर की कुर्सी मिल जायेगी। अच्छी शिक्षा से अच्छी आय के अवसर होंगे। लड़कों को धनपतियों की कन्याएँ पत्नी के रूप में सरलता से मिल सकेंगी और लड़कियों को भी अच्छा वर प्राप्त हो सकेगा। प्रत्यक्ष लाभ दृष्टिगोचर हो रहा है।

□ भूल कर रहे हैं आप !

यहीं आप बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। संसार चलाने और संसार बढ़ाने वाली शिक्षा के लिए तो इतना सब कुछ कर रहे हैं, पर जो ज्ञान, जो विद्या, जो शिक्षा आत्म-विकास करने वाली है, आत्मा को कल्याण के पथ पर ले चलने वाली है, जन्म-मरण के दुःखों को घटाने, मिटाने वाली है उस पर आपका ध्यान नहीं जाता। अच्छे संस्कार सन्तान को मिलें, इसके लिए आप प्रयत्नशील नहीं बनते।

□ अपना बुढ़ापा सुधारना है तो बच्चों को सुसंस्कार दीजिए

ध्यान रखियेगा बन्धुओं ! यदि आपने अपनी सन्तानों को बचपन से ही सुसंस्कार दिये, आध्यात्मिक शिक्षा के लिए उन्हें प्रेरित किया, गुरु-भगवंतों के दर्शन व जिनवाणी सुनने के प्रति उनमें जिज्ञासा जगाई तो आपका बुढ़ापा नहीं बिगड़ जायेगा। सुधर जायेगा बुढ़ापा।

सुसंस्कारी होगी सन्तान तो वृद्धावस्था में आपकी सेवा करेगी, भोजन-पानी, रहन-सहन, वस्त्र, दवा, शुश्रूषा आदि किसी बात में कमी नहीं आने देगी। आपका प्रत्येक कार्य सेवा मानकर करेगी, आपके आदेशों का पालन करेगी और कहेगी—“आप छोड़िए इस काम को, आराम करिए, मैं कर लूँगा यह काम। आप धर्मध्यान करिये, व्याख्यान वाणी सुनिये, संवर-पौषध करिये।”

□ पहले गुरुदर्शन, फिर अन्य कोई काम

विजयराज जी ने दिये थे सुसंस्कार अपनी सन्तानों को। रायचन्द्र ने सिर झुकाकर भूल स्वीकार की और बोला—“पिताश्री! भूल हो गई।”

विजयराज जी ने कहा—“पुत्र! ऐसी भूल नहीं होनी चाहिए। याद रखना फिर कभी जीवन में ऐसी भूल न होने पाए। जाओ! आज ही पहले पूज्यश्री के दर्शन करो फिर बंदोला जीमने जाना।”

जहाँ सुसंस्कार, वहाँ पितृ-आदेश की अवहेलना का तो प्रश्न ही क्या था? रायचन्द्र उसी समय पूज्यश्री के दर्शनार्थ गया। व्याख्यान का समय था। पूज्यश्री जयमल जी म. सा. व्याख्यान दे रहे थे। नेम-चरित्र का प्रसंग सुनाया जा रहा था। बैठ गया रायचन्द्र भी परिषदा में। व्याख्यान में रस आया। अन्तर् में कथा के शब्द सार्थ होकर उतर गये। जिज्ञासा जागृत हुई, सुप्तात्मा चेतन बनी, पर समास अधूरा रह गया। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने कहा—“आगे क्या कथानक बनता है? वह जैसा अवसर आयेगा, आप सुनेंगे।”

□ रायचन्द्र की जिज्ञासा जगी

सभी श्रोता चले गये पर रायचन्द्र नहीं गया। वह तो जग चुका था, अन्तर् में उसके प्रकाश की किरणें स्पर्शित हो उठी थीं। पूछा पूज्यश्री से—“गुरुदेव! आगे क्या हुआ?”

पूज्यप्रवर ने उसे देखा। संघपति का पुत्र। वर का बाना पहने हुए। कुछ सोचा उन्होंने और रायचन्द्र को बोध देने लगे।

आपके लिए यह आश्चर्य की बात हो सकती है? आप कभी कहें तो क्या गुरुदेव बोध देंगे? नहीं, पर रायचन्द्र को दिया। ज्ञान देने वाले कौन? आचार्य श्री जयमल जी म. सा.। दर्शनार्थी के भावों को वे तुरन्त जान जाते थे। व्यक्ति के चेहरे को ही नहीं, कई बार एक अच्छे मनोवैज्ञानिक की तरह उसके मन को भी पढ़ लेते थे। उन्होंने जानबूझकर रायचन्द्र से पूछा कि यह सब तामझाम क्यों पहन रखे हैं? संकोचवश रायचन्द्र तो कुछ भी बोल नहीं पाया पर साथी मित्र ने कहा—“इनका विवाह है, जिसकी तैयारियाँ चल रही हैं।”

आचार्यश्री ने कहा—“विवाह.....!” और उपेक्षापूर्ण भाव से मुस्कराये। रायचन्द्र को जिज्ञासा हुई। क्या विवाह अच्छा नहीं है? आचार्यश्री की मुस्कराहट में कोई गम्भीर रहस्य छुपा था।

□ क्या विवाह अशुभ है ?

आध्यात्मिक बोध को सुनकर मन की तरंगों में चुम्बकीय आकर्षण उत्पन्न हुआ और रायचन्द्र पूछ बैठ—“गुरुदेव! क्या विवाह करना अच्छा नहीं होता? यदि विवाह अच्छी बात नहीं तो सभी विवाह क्यों करते हैं? माता-पिता सन्तान के युवा होने पर विवाह की ही चिन्ता क्यों करते हैं? क्या विवाह के पश्चात् सचमुच पछताना पड़ता है?”

पूज्यश्री बोले—“देवानुप्रिय ! बात तो यही है। सभी जानते भी हैं कि यह सत्य तथ्य है फिर भी करते हैं विवाह और बाद में पछताते हैं सारा जीवन। विवाह मेरा भी किया गया था, पर जब मैंने गुरुदेव आचार्य श्री भूधर जी म. सा. का व्याख्यान सुना तो समझ गया कि विवाह एक छल है, प्रपञ्च है, मायाजाल है। मैंने तुरन्त अपनी विवाहिता को छोड़ दिया। अच्छा होता तो मैं विवाह करके छोड़ता क्यों?”

इतना कहकर आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपने वैराग्य का, अपनी दीक्षा का पूरा प्रसंग उस किशोर को सुनाया। सुनकर रायचन्द्र चिन्तन में उतर गया। तभी पूज्यश्री बोले—“विवाह करने की सारी प्रक्रिया ही अशुभ और अशुद्ध है।”

रायचन्द्र ने जिज्ञासावश पूछा—“वह कैसे?”

□ विवाह की समस्त प्रक्रिया ही अशुभ

पूज्यश्री ने कहा—“स्त्री अपना जीवन सामान्यतया पुरुष को वैसे ही अर्पण नहीं कर देती। वह कई तरह से विचार करती है। सर्वप्रथम तो कन्या की माता सोचती है कि क्या यह पुरुष मेरी कन्या का भरण-पोषण कर सकेगा? ऐसा तो नहीं कि वह उसे पेट भर लिखा भी न सके?”

वर कन्या की माता को तोरण पर तलवार अड़ाकर विश्वास दिलाता है कि ऐसा नहीं है। वस्तुतः तोरण पर कुछ चिड़ियाएँ बनी हुई होती हैं। वर के तलवार से तोरण छूने का अर्थ है कि अन्य कोई धन्धा नहीं मिला तो मैं चिड़ीमार बनकर भी तुम्हारी कन्या का पेट भरूँगा। इस तरह विवाह की यह पहली प्रक्रिया ही हिंसा की भावना से भरी है।

इसके बाद कन्या की माता वर का तिलक करते हुए उसकी नाक पकड़ना चाहती है। यह इस बात का संकेत है कि मेरी कन्या तुम्हारी नाक में नकेल बनकर जिधर चाहे तुम्हें ले

जायेगी और तुम्हें जाना होगा। कन्या की माता वर को यह कहते हुए कि अरे! नकटे! तेरे तो नाक ही नहीं है, एक कन्या के लिए चिड़ीमार जैसा कार्य भी तू कर लेगा? इस प्रकार वह नाक पकड़ती है।

विवाह की तीसरी प्रक्रिया में कन्या की माता वर के गले में **बड़ा-सा रूमाल डालकर उसे खींचते हुए माया के पास ले जाती है**, जिसका तात्पर्य है कि मेरी पुत्री से शादी करने के बाद तुम्हें इसी तरह स्त्रीरूपी माया के पास खिंचे हुए, बँधे हुए जाना होगा। माया के पास बिठाकर माया स्थापना का अर्थ है—आज से तुम स्त्रीरूपी मोह-माया के जाल में जा रहे हो।

इसके बाद की प्रक्रिया में **वर को चँवरी में बिठाया जाता है**। यहाँ वधू को भी लाकर बिठाया जाता है। दोनों के पल्लू को गाँठ दी जाती है। इस **गठबंधन** का अर्थ है मैंने तुम्हें अपने साथ बाँध लिया है, तुम मेरे बन्धन में फँसे रहोगे, अर्थात् कर्मबन्धन करते रहोगे। चँवरी में **फेरे** होते हैं। **सात फेरे** सात नारकी को संकेतित करते हैं। तात्पर्य यह कि **स्त्री के फेर में पड़ने का अर्थ है नरक का द्वार खोलना**।

तीन फेरों तक वधू आगे रहती है तथा वर पीछे। अर्थ यह कि वधू वर को नरक का रास्ता न जानने पर आगे रहकर नरक का द्वार दिखलाती है। तीन फेरे होते ही जब देखती है कि वर नरक जाने के पथ से परिचित हो गया तो **तुरन्त उसे आगे कर देती है कि तुम चलो नरक की राह पर। रुकना नहीं, रुक गये तो पीछे से मैं धक्का देने के लिए तैयार बैठी हूँ**।

चौथा फेरा खाकर वर रुक जाता है। आगे के फेरे नहीं लिए जाते। स्पष्ट है कि उसे चार गतियों में रुलना, दुःख पाना, उलझना तो स्वीकार है, पर केवल नरक में ही बने रहना स्वीकार नहीं।

चँवरी में **अग्नि-प्रज्वलन** का अर्थ है—स्त्री-संसर्ग के कारण आज से कामभोगों की अग्नि में तुम्हें जलते रहना है।

जुआ खिलाने का अर्थ है—शादी भी एक जुआ है। इसका संकेत है कि पुरुष की जीत की भाँति कभी जीवात्मा जीतेगी तो स्त्री की जीत की तरह कभी माया जीतेगी या कर्म जीतेंगे।

कपड़े के कोड़े की मार का अर्थ है—कर्मों की मार, माया की मार जो संसार में जीव जब तक है, तब तक बनी रहती है।

□ विवाह दुर्गति का कारण है

विवाह की इस सम्पूर्ण अशुद्ध—अशुभ प्रक्रिया द्वारा आचार्य श्री जयमल जी म. सा. वर बने रायचन्द्र को समझा रहे हैं कि विवाह दुर्गति में ले जाने वाली क्रिया है। दुर्गति के इस पथ पर चलने के इच्छुक विवाह करते समय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, पर बाद में पछताते हैं, क्योंकि आज तक कोई भी कामभोगों में तृप्त नहीं बन सका। जितना भोगते हैं, उतना ही और भोगने का भाव जागृत होता है। कामभोग एक ऐसी आग है जो तब तक नहीं बुझती, जब तक उसके लिए प्रयुक्त होने वाले ईंधन को बाहर नहीं कर दिया जाता। कामभोग—लिप्तता तो कामभोगों को प्रज्वलित ही करती है। कामभोग हिंसा का ताण्डव नृत्य है। शास्त्र कहते हैं कि एक बार के स्त्री-सहवास में नौ लाख सम्मूर्छिम सत्री मनुष्यों का हनन होता है, हत्या होती है। गणित लगाकर देखा जाये तो व्यक्ति जीवनभर कामभोगों में फँसा रहता है, वह कितनी भयानक हिंसा का भागी बनता है। उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्ययन 'यज्ञीय' में प्रभु महावीर ने फरमाया है—

उवलेवो होइ भोगे सु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

जो भोगी है, भोगासक्त है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो भोगी नहीं है, भोगासक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता।

भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है और जो कामभोगों में अनासक्त बनता है, वही संसार से मुक्त बनता है।

□ भोगों पर विजय ही मुक्ति का पथ है

भोगों को जो जीत लेता है तो वह स्वतः योग में प्रविष्टि पा लेता है और योग में पा गया एक बार प्रवेश तो निश्चय ही मोक्षमार्ग के निकट पहुँच जायेगा वह। बड़ा कठिन है भोगों पर विजय प्राप्त करना। दशवैकालिकसूत्र के द्वितीय अध्ययन की चतुर्थ गाथा में बताया है—

न सा महं नो वि अहंपि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्जरागं।

यदि कभी भोगों में मन जाए तो चिन्तन करना चाहिए कि “न वह मेरी है और न मैं ही उसका हूँ।” रागबन्धन से, कामभोग से निकलने का यही एक मात्र रास्ता है।

“इससे स्पष्ट है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। सारे नाते-रिश्ते-सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं।” इस तरह के चिन्तन से भोगों पर, रागभाव पर विजय प्राप्त कर स्व में, ब्रह्मभाव में, आत्मसाधना में रमण प्रारम्भ करना चाहिए।

□ युवक रायचन्द्र का संकल्प—“विवाह नहीं करूँगा”

पूज्यश्री से इस तरह प्रतिबोध पाकर रायचन्द्र के मन में एक संकल्प ने वहीं जन्म लिया। वह संकल्प था—“विवाह नहीं करना।”

बन्धुओं! संकल्प शुभ था और युवा रायचन्द्र अपने संकल्प में दृढ़ता लिये हुए थे। समय बहुत हो गया था, अतः जिनके यहाँ रायचन्द्र को जीमने जाना, वे बार-बार समाचार भेज रहे थे। मित्र-वर्ग भी इन्तजार कर रहा था। उन्हें अनेक स्थानों पर ढूँढ़ा गया। स्वयं विजयराज जी दुकान छोड़कर घर पहुँचे कि बात क्या है? कहाँ है रायचन्द्र? क्यों अभी तक जीमने के लिए नहीं पहुँचा?

उधर पूज्यश्री से प्रतिबोधित एवं विवाह न करने के लिए संकल्पित रायचन्द्र भी घर पहुँचा। उसने अपने वर रूप में धारण किये अलंकार, आभूषण, वस्त्रादि उतार दिये और सामान्य वस्त्र पहन लिये। तभी विजयराज जी वहाँ पहुँचे और उसे देखकर बोले—“अरे! तुम बंदोला जीमने नहीं गये?”

□ “मैं तो दीक्षा लूँगा”—रायचन्द्र!

रायचन्द्र ने इनकार में सिर हिला दिया और बोले—“मुझे विवाह नहीं करना है। मैं तो पूज्यश्री के पास दीक्षा लूँगा।”

सुनी विजयराज जी ने पुत्र की बात तो स्तंभित रह गये। एक बारगी तो उनका कलेजा ही हिल गया। सोचा—‘पूज्यश्री ने भी गजब किया। दूसरा कोई मिला ही नहीं क्या उन्हें, जो मेरे ही कलेजे में हाथ डाला।’

उन्होंने रायचन्द्र को समझाते हुए कहा—“पुत्र! संयम कोई बच्चों का खेल नहीं है। तुम पहले विवाह करो। पुत्र-पौत्रादि हो जाँँ फिर दीक्षा ले लेना।”

निडरता से रायचन्द्र ने कहा—“पिताश्री ! काल का क्या भरोसा? मेरी आयुष्य कितनी है, निश्चित रूप से कौन बता सकता है? मेरी माता चली गई, बड़े पिता भी चले गये। क्या अवस्था थी उनकी?”

बन्धुओं ! सत्य तथ्य यही है। मौत कब आयेगी, कोई पता नहीं! बचपन हो या जवानी। मौत ने किसी को नहीं छोड़ा। कहा भी है गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री लालचन्द्र जी म. सा. ने—

आज जावणे काल जावणे, आखिर में है जावणे।
करियोडा करमा रो भाई, आगे है फल पावणे ॥

करे बिखेरो सांझ-सवेरो, आगो-नेडो जावे है।
 अवेरणा में समझे नहीं है, नित को फंद फैलावे है॥
 अरे भोलिया, गजब गोलिया, काई थने समझावणो।
 करियोड़ा करमा

पिता को मौन देख, रायचन्द्र पुनः बोले—“मैं शादी करूँ और मरण आ जाये तो कौन रोकेगा मेरी मौत को?”

□ पिता द्वारा पुत्र के वैराग्य-रंग को उतारने की योजना

विजयराज जी भी यह सब जानते थे। कौन नहीं जानता? आप सभी भी तो जानते हैं, पर संसार का आकर्षण प्रबल है। विजयराज जी भी संसारी थे। पुत्र की शादी के साथ उनका स्वार्थ जुड़ा हुआ था। मन में यह विचार भी था कि लड़की वालों को क्या जवाब देंगे?

सोच विचारकर बोले—“पुत्र! मामा यहाँ आये हुए हैं। ननिहाल गये तुझे कितने ही दिन हो गये। वे सभी तुझे देखना चाहते हैं। अभी तो तू कुछ दिन ननिहाल चला जा। वहाँ से आयेगा तब तेरी दीक्षा का विचार करेंगे।”

पुत्र जब संस्कारी हो तो एकदम मामूली बात के लिए कैसे इनकार करे? रायचन्द्र पिता के कहने पर मामा के साथ अपनी ननिहाल पीपाड़ के पास ‘बुचकला’ ग्राम चला गया।

इधर कन्या-पक्ष वाले निश्चित दिन विवाह के लिए दबाव दे रहे थे। जैसे-तैसे उन्हें समझाकर विवाह को कुछ दिनों के लिए आगे सरकाया। मामा को सारी बात समझा दी थी। सोच रहे थे—‘ननिहाल में रहेगा कुछ दिन तो दीक्षा की बात भूल जायेगा। वहाँ जैसा मैंने कहा, वैसे ही उसे पुनः संसार की ओर उन्मुख करने का सभी प्रयास करेंगे। अतः वहाँ से आयेगा तब विवाह कर दिया जायेगा। यहाँ यदि रह जाता तो संतों के पास आना-जाना बना रहता। उस स्थिति में वैराग्य रंग गहराता, पर अब वैसा नहीं हो सकेगा।’

□ संकल्प दृढ़ हो तो सारी बाधाएँ चूर-चूर

बन्धुओं! जिसका संकल्प दृढ़ हो, उसे कौन विकल्प में डाल सकता है? उसके सम्मुख चाहे कितनी विपरीत परिस्थितियाँ खड़ी की जाएँ, बाधाएँ उपस्थित की जाएँ, रुकावटें डाली जाएँ, पर जो आत्म-विश्वासी है, जो अपनी बात पर दृढ़ है, जो अपने संकल्प पर अटल है, उसे भला कौन विचलित कर सका है? मन में दृढ़ संकल्प हो तो स्वयं सर्वज्ञ तीर्थकर भगवंत को विहार-पथ बदलकर भक्त के यहाँ, श्रद्धालु के यहाँ, दृढ़ संकल्पी के मनोवर्गणा के

पुद्गलों में इतनी सघनता, इतनी शक्ति और इतना प्रभाव होता है कि स्वतः प्रतिकूल स्थितियाँ विनाश को प्राप्त हो जाती हैं और अनुकूल संयोगों का निर्माण हो जाता है।

□ आचार्य श्री जयमल जी म. सा. का धर्म-परिवार व उनके चातुर्मास

आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के स्वयं के नाम के ५१ शिष्य थे तथा शिष्य-प्रशिष्य व उनके भी शिष्य आदि मिलाकर कुल २५१ शिष्य थे। इनमें से कुछ दीक्षाएँ रायचन्द्र जी म. सा. की दीक्षा से पूर्व व अनेक दीक्षाएँ रायचन्द्र जी म. सा. की दीक्षा के पश्चात् हुईं। साध्वियों में ४४८ साध्वियों की दीक्षा आचार्य श्री जयमल जी म. सा. के मुखारविन्द से सम्पन्न हुई। ऐसे महान् त्यागी, तपस्वी, एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपने समस्त शिष्य समुदाय को छोटे-छोटे संघाडों में चातुर्मासिक क्षेत्रों की ओर विहार करने की अनुमति प्रदान की। पूज्यश्री का चातुर्मास उस वर्ष मेवाड़ क्षेत्र के लिए घोषित हुआ था। आपश्री के वरिष्ठ शिष्य श्री गोवर्द्धनदास जी म. सा. का चातुर्मास पीपाड़ क्षेत्र के लिए घोषित हुआ था।

□ मुनि श्री गोवर्द्धनदास जी म. सा. का विहार पीपाड़ की ओर

पूज्यश्री के विहार के पश्चात् मुनि श्री गोवर्द्धनदास जी म. सा. ने भी जोधपुर से पीपाड़ की ओर विहार किया। बीच में बुचकला क्षेत्र भी आता था, अतः उनका वहाँ पधारना हुआ। रायचन्द्र को ज्ञात हुआ कि ग्राम में कुछ जैन-सन्त आये हैं तो वह भी दर्शनार्थ पहुँच गया। देखा श्री गोवर्द्धनदास जी म. सा. को तो पहचान गया। ये तो गुरुदेव पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के साथ थे। देखा इधर-उधर, शायद पूज्यश्री भी साथ हों। नजर नहीं आये तो मुनिश्री को वन्दन कर, चरण-स्पर्श कर पूछ लिया—“गुरुदेव कहाँ हैं?”

मुनिश्री भी पहचान गये कि यही वह रायचन्द्र है, जिसके लिए अनेक वरिष्ठ व धोरी श्रावकों ने संकेत दिया था। बोले—“चातुर्मास-काल आने को है। गुरुदेवश्री अपने चातुर्मास क्षेत्र मेवाड़ की ओर गये हैं। मेरा चातुर्मास पीपाड़, अतः मैं विहार कर सन्तों के साथ उधर आया हूँ। यहाँ कुछ वर्षों पहले पूज्यश्री पधारे थे। यहाँ से कुछ भाविकों ने पूज्यश्री के पास दीक्षा भी ली थी। अच्छा धर्मक्षेत्र है यह, लोगों का धर्म के प्रति रुझान है, अतः यहाँ कुछ रुककर आगे की ओर हमारा विहार होगा।”

□ रायचन्द्र का मुनिश्री के साथ-साथ पीपाड़ जाना

“गुरुदेवश्री पुनः कब मिलेंगे?”—पूछा रायचन्द्र ने।

“क्यों क्या बात है? वे तो चातुर्मास के पश्चात् इस ओर विहार करें तभी मिल सकेंगे।”—मुनिश्री बोले।

इस पर रायचन्द्र ने कहा—“मुझे तो उनसे दीक्षा लेनी थी।”

“देवानुप्रिय! दीक्षा के लिए प्रथम तो आज्ञा मिलना आवश्यक है और आज्ञा मिल जाने पर भावी दीक्षार्थी की पूर्व तैयारी के रूप में ‘संयम-पथ’ के विषय में कुछ ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता है।”—मुनिश्री ने कहा।

रायचन्द्र जी बोले—“ठीक है! मैं आपके साथ चलता हूँ। साथ रहकर आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकूँगा फिर दीक्षानुमति भी प्राप्त कर लूँगा।”

बन्धुओं! घटनाक्रम पर कुछ चिन्तन उठा क्या आपके हृदय में? मैंने अभी बताया था कि संकल्प की दृढ़ता से सारी बाधाएँ चकनाचूर हो जाती हैं, सारे शुभ और अनुकूल संयोग निर्मित हो जाते हैं। मिल गया एक दृढ़ संकल्पित वैराग्यमना को पुनः सन्त-संयोग। क्या सोचकर भेजा था उसे, उसके पिता ने ननिहाल में? पर हुआ वही जो भविष्य के गर्भ में था।

रायचन्द्र मुनिश्री के विहार के समय मुनिश्री के साथ हो गये। पीपाड़ पहुँचने तक उन्होंने एक दीक्षार्थी के योग्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। पीपाड़ के संघपति ने उनके विषय में जानकारी प्राप्त कर श्री विजयराज जी धारीवाल को एक पत्र लिखा। पत्र में रायचन्द्र की दीक्षा-भावना का उल्लेख करते हुए एक व्यक्ति के साथ उस पत्र को प्रेषित किया और उनको पीपाड़ बुलाया।

□ रायचन्द्र जी के साथ उनके पिता व बड़ी माता भी दीक्षित

पत्र पढ़कर आये विजयराज जी पीपाड़। उनके साथ थीं उनकी भावज। बहुत तरह से समझाया रायचन्द्र को पर उनके दृढ़ संकल्प को वे किसी तरह तोड़ न सके। अन्त में दोनों (पिता श्री विजयराज जी व उनकी भावज) ने निर्णय लिया कि “जब दोनों परिवार का यह एक मात्र चिराग ही संयम के पथ पर चलने का निर्णय कर चुका है तो हम संसार के कीचड़ में रहकर क्या करेंगे?”

बन्धुओं! वीतराग वाणी से जो वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसके प्रभाव से एक नहीं, पीपाड़ में तब तीन-तीन भव्य जनों की दीक्षा हुई। यही रायचन्द्र जी म. सा. आगे जाकर पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के पट्टधर बने।

उत्कृष्ट क्रिया-पालक एवं चारित्रनिष्ठ आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने ‘मध्यम साधु वन्दना’ के अतिरिक्त आगमिक तथ्यों को लगभग २५०-३०० लयबद्ध कविताओं में आबद्ध किया है।

□ पद्मकुमार विरक्त बने

बन्धुओं! जब वीतराग प्रभु के मुख से निःसृत पावन वाणी गुरुदेवों के मुख से सुनकर श्रोता इस सीमा तक प्रभावित हो जाता है कि वह संसार-विरक्त बन संयम के मार्ग पर दृढ़ संकल्प के साथ चल पड़ता है तो जब स्वयं वीतराग प्रभु देशना देते हैं, उनके श्रीमुख से निःसृत उस आत्म-कल्याणी देशना से भव्य जीवों का विरक्त बनना तो सहज ही सम्भाव्य है।

पद्मकुमार के साथ भी यही हुआ। सुनी प्रभु-देशना और मन में विरक्ति-भाव उत्पन्न हो गया। वे प्रभु से बोले—“भगवन्! मैं आपके पास अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर श्रामणी-प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ।”

घर आकर पद्मकुमार ने माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा माँगी। पुत्र और माता-पिता के मध्य अनेक उत्तर-प्रत्युत्तर हुए। उन्होंने यह भी कहा कि “तुमने जिन आठ सुन्दरी, सुशीला, गुणवती राजकन्याओं से विवाह किया है, उन्हें तो इस प्रकार छोड़कर संयम मत लो।”

□ राज्याभिषेक

इस पर भी पद्मकुमार नहीं माना तो माता-पिता ने कहा—“हे कुमार! हम एक दिन के लिए तुम्हारी राज्यश्री देखना चाहते हैं।”

पद्मकुमार ने तब कोई उत्तर नहीं दिया, वे मौन ही रहे।

मौन को स्वीकृति मानकर पद्मकुमार का अत्यन्त महोत्सव के साथ राज्याभिषेक किया गया, उसकी जय-जयकार से चारों दिशाओं को गुँजाया गया। जब वह राजमुकुट धारण कर राजसिंहासन पर आसीन हुआ तब पिता कालकुमार ने पूछा—“राजन्! क्या आज्ञा है?”

□ दीक्षा-तैयारी का आदेश व दीक्षा

पद्मकुमार ने तुरन्त कहा—“मेरी दीक्षा की तैयारियाँ करवाइये। दो लाख स्वर्ण-मुद्राएँ देकर ओघा मँगवाइये, दो लाख स्वर्ण-मुद्राएँ देकर पातरे मँगवाइये, नाई को कहलवाइये और भी जो करना हो उसकी तैयारियाँ पूर्ण करवा दीजिये।”

दीक्षा की भव्य तैयारियाँ की गईं। यथासमय भगवान महावीर के निकट पद्मकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर श्रमणधर्म स्वीकार किया और वे पद्मकुमार से पद्म अणगार बन गये।

स्थविर श्रमणों के निकट रहकर पद्म मुनि ने सामायिक से प्रारम्भ कर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और विभिन्न उग्र तपस्याओं का आराधन करते हुए विचरने लगे।

□ संथारा व समाधिमरण

निरतिचार संयम का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए, तप से अपने शरीर को शुष्क, रूक्ष, अस्थि-पिंजर मात्र बनाकर जब कृश हो गये तो किसी सयम धर्म-जागरणा करते हुए आयुष्य का अंतिम समय आया जानकर संलेखना-संथारा द्वारा समाधिमरण की अभिलाषा उत्पन्न हुई। प्रभु से आज्ञा प्राप्त कर विपुलगिरि पर्वत पर उन्होंने संथारा स्वीकार किया। एक मास की संलेखना करके साठ भक्त के अनशनपूर्वक वे कालधर्म को प्राप्त हुए। उनकी श्रमण-पर्याय पाँच वर्ष की थी।

□ सौधर्म देवलोक-महाविदेह-मोक्ष

मरणोपरान्त वे सौधर्मकल्प देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ दो सागरोपम की आयु को भोगकर उनका जीव महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और साधना कर कर्मबन्धन से मुक्त हो सिद्ध, बुद्ध बनेगा।

□ महापद्म

पद्म के बाद महापद्म का प्रसंग आता है। वह भी श्रेणिक का पौत्र था और सुकाली रानी के लड़के राजा सुकालकुमार का अंगजात था। उसकी माता का नाम था—महापद्मा!

पद्मकुमार की तरह ही महापद्मकुमार के जन्म, शिक्षा, विवाह, प्रभु-दर्शन, देशना-श्रवण, वैराग्य, एक दिन का राज्याभिषेक, दीक्षा, साधना, संथारा आदि का विवरण आगमों में मिलता है। कालधर्म प्राप्त कर ये ईशानकल्प देवलोक में उत्पन्न हुए, वहाँ से कुछ अधिक दो सागरोपम की स्थिति पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेंगे।

□ भद्रकुमार आदि

इसी तरह भद्रा के पुत्र भद्रकुमार, सुभद्रा के पुत्र सुभद्रकुमार, पद्मभद्रा के पुत्र पद्मभद्रकुमार, पद्मसेना के पुत्र पद्मसेन, पद्मगुल्मा के पुत्र पद्मगुल्म, नलिनीगुल्मा के पुत्र नलिनीगुल्म, आनन्दा के पुत्र आनन्द और नन्दा के पुत्र नन्दन—इन सभी श्रेणिक पौत्रों का वर्णन आगमकारों ने किया है।

दीक्षा-पर्याय-पद्म और महापद्म की पाँच-पाँच वर्ष; भद्र, सुभद्र और पद्मभद्र की चार-चार वर्ष; पद्मसेन, पद्मगुल्म और नलिनीगुल्म की तीन-तीन वर्ष तथा आनन्द व नन्दन की दीक्षा-पर्याय दो-दो वर्ष की रही।

□ सभी की मुक्ति होगी

देह त्यागने के पश्चात् पद्म मुनि सौधर्मकल्प देवलोक में, महापद्म मुनि ईशानकल्प देवलोक में, भद्र मुनि सनत्कुमारकल्प देवलोक में, सुभद्र मुनि माहेन्द्रकल्प देवलोक में, पद्मभद्र मुनि ब्रह्मलोक में, पद्मसेन मुनि लान्तककल्प देवलोक में, पद्मगुल्म मुनि महाशुक्र देवलोक में, नलिनीगुल्म मुनि सहस्रारकल्प देवलोक में, आनन्द मुनि प्राणतकल्प देवलोक में और नन्दन मुनि अच्युतकल्प देवलोक में उत्पन्न हुए। ये सभी देवलोक में जो भी उनकी उत्कृष्ट स्थिति है उसे भोगकर महाविदेह क्षेत्र से जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होंगे।

नाम	पिता	पत्नियों की संख्या	माता	दीक्षा-पर्याग्य	संथारा अवधि	दीक्षा पश्चात् अध्ययन	मरणोपरान्त गति
पद्म	कालकुमार	८	पद्मावती देवी	५ वर्ष	१ मास	११ अंग	सौधर्मकल्प देवलोक में २ सागरोपम
महापद्म	सुकालकुमार	८	महापद्मा देवी	५ वर्ष	१ मास	११ अंग	ईशानकल्प देवलोक में २ सागरोपम से अधिक
भद्र	महाकाल	८	भद्रा	४ वर्ष	१ मास	११ अंग	सनत्कुमारकल्प
सुभद्र	कण्हकुमार	८	सुभद्रा	४ वर्ष	१ मास	११ अंग	माहेन्द्रकल्प
पद्मभद्र	सुकण्हकुमार	८	पद्मभद्रा	४ वर्ष	१ मास	११ अंग	ब्रह्मलोक
पद्मसेन	महाकण्हकुमार	८	पद्मसेना	३ वर्ष	१ मास	११ अंग	लान्तककल्प
पद्मगुल्म	वीरकण्हकुमार	८	पद्मगुल्मा	३ वर्ष	१ मास	११ अंग	महाशुक्र
नलिनीगुल्म	रामकण्हकुमार	८	नलिनीगुल्म	३ वर्ष	१ मास	११ अंग	सहस्रारकल्प
आनन्द	सेणकण्हकुमार	८	आनन्दा	२ वर्ष	१ मास	११ अंग	प्राणतकल्प
नन्दन	महासेणकण्हकुमार	८	नन्दा	२ वर्ष	१ मास	११ अंग	अच्युतकल्प

[ये सभी महाविदेह में उत्पन्न होकर सिद्धगति को प्राप्त करेंगे।]

आनंद ही आनंद !



सहुनेमि समीपे—चार महाव्रत लीध

कुसगगे जह ओस बिन्दुए, थोवं चिदुइ लम्ब माणए।
एयं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमाइए॥

आत्म-बन्धुओं !

तीर्थकर भगवन्तों की आत्मा-कल्याणी वाणी जीव को मोह-निद्रा से जगाने का सन्देश दे रही है। अनादिकाल से जो जीव संसार-सागर में डोल रहा है, उसे पार उतारने के लिए मोह त्यागना होगा, प्रमाद छोड़ना होगा, सांसारिक प्रवृत्तियों से दूर रहना होगा।

□ संसार प्राणी का आवास नहीं है

प्रभु कहते हैं—अब तो जाग, मोह-निद्रा त्याग। जिस संसार को तू अपना आवास समझ रहा है, वह तेरा आवास नहीं है। जाना होगा एक दिन तुझे यहाँ से, छोड़ना होगा यह आवास। तुझे ज्ञात होना चाहिए कि यह तेरा आवास नहीं, प्रवास है।

हे जीव ! तुझे यदि शाश्वत आवास चाहिए; ऐसा आवास चाहिए, जो कभी प्रवास में न बदले तो अपनी सांसारिक प्रवृत्तियों को विराम देकर विश्राम कर, आराम कर। मन और इन्द्रियों के विषयों को तू जब तक नहीं त्यागता, कामभोगों को छोड़कर अपना चित्त, अपना चिन्तन धर्मारोधना से नहीं जोड़ता तब तक शाश्वत आवास, शाश्वत विराम की प्राप्ति नहीं होगी।

□ आत्म-कल्याण के कार्य में प्रमाद मत कर

प्रभु महावीर फरमाते हैं—“कुसगगे जह ओस बिन्दुए।” जिस प्रकार कुश (घास) के अग्र भाग पर मुक्तामणि की तरह आकर्षक लगने वाला ओस बिन्दु अत्यल्प समय तक ही स्थिर रह पाता है। ठीक इसी प्रकार है जीव ! यह तेरा मानव-भव भी पानी का बुलबुला है, ओस का कण है, अर्थात् क्षणभंगुर है, शीघ्र नाशवान है। अतः हे चेतन ! हे गौतम ! हे मानव ! एक समय मात्र के लिए भी प्रमाद में मत पड़।

प्रभु की यह आत्म-हितकारी वाणी आप कई बार सुनते हैं। सुनाते हैं गुरुदेव आपको और कहते भी हैं कि प्रमाद मत करो, धर्म में अपने को लगाओ, त्याग-तप से अपने को जोड़ो, पर स्थिति ढाक के वही तीन पात की तरह है। सुनेंगे बार-बार पर प्रमाद त्यागेंगे नहीं, पाप-कार्य छोड़ेंगे नहीं, धर्म से अपने को जोड़ेंगे नहीं। संसार की प्रवृत्तियों ने आपको पूरी तरह उलझा रखा है और आप भी उन प्रवृत्तियों के आकर्षण में फँसे पाप-कार्यों में कभी देरी नहीं करते, शिथिलता नहीं लाते, प्रमाद नहीं करते। वहाँ तो जो कल करना होगा, उसे भी आज ही तुरन्त कर डालना चाहेंगे।

बन्धुओं! खबर नहीं पल की और सामान खलक-मुलक का। भविष्य की चिन्ता में, बेटों-पोतों-पड़पोतों की फिक्र में न मालूम कितने-कितने पाप यह जीव अपने वर्तमान समय में करता जा रहा है।

धर्म-आराधना, त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान आदि की बात यदि आपसे की जाये तो आप क्या कहेंगे? जल्दी क्या है? बहुत उम्र पड़ी है। बाद में कर लेंगे। तात्पर्य यह कि जो आज करना है, अभी करना है, उसे आप आने वाले उस कल पर छोड़ रहे हैं, जिस कल के आने का, अर्थात् जिस कल तक आपके यहाँ बने रहने का कोई निश्चय नहीं। धर्म के नाम पर ही आपको तो आलस्य घेर लेगा, प्रमाद में पड़ जायेंगे आप, पर प्रभु महावीर फरमाते हैं—

**परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥**

अर्थात् यह शरीर जीर्ण हो रहा है, सिर के केश पककर सफेद हो चले हैं, शरीर का बल क्षीण होता जा रहा है, अतः हे गौतम! क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

□ गया हुआ समय पुनः नहीं आयेगा

बन्धुओं ! चिन्तन करिये इस विषय पर, इस सत्य-तथ्य पर, इस यथार्थ पर! सोचिए, कितना समय आप आत्म-शुद्धि, आत्म-विकास, आत्म-चिन्तन के लिए निकालते हैं और कितना समय प्रमाद में, सांसारिक प्रवृत्तियों में, टी. वी., चौपड़, खेल-तमाशों, सिनेमा, ताश आदि में व्यतीत करते हैं। जो समय व्यतीत हो रहा है, वह समय कभी वापस आने वाला नहीं है। जो क्षण आपके हाथ में हैं, वे ही महत्वपूर्ण हैं जीवन-निर्माण की दिशा-परिवर्तन में। यदि हाथ में आये ये क्षण निकल गये तो क्या पुनः हाथ आएँगे कभी? सपने में भी नहीं। स्पष्ट है, हाथ में आया हुआ एक-एक क्षण अमूल्य है। हिसाब लगाइये, आज तक आपने कितने अमूल्य क्षणों को नष्ट कर दिया।

□ सब धरा यहीं रह जायेगा

बन्धुओं, जागिए! सचेत बनिये! सँभल जाइये! अब भी नहीं यदि सँभले तो परिणाम अति भयावह होने वाला है। ये माता-पिता, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी, प्रिय पति, प्रियतमा पत्नी, मित्रगण, कोई भी न साथ देगा, न साथ चलेगा। धन-धान्य, दुष्पद-चतुष्पद, स्वर्ण-रजत, माणिक्य-मोती, हीरे-पन्ने जो कमा-कमाकर एकत्रित किये, क्या साथ ले जाएँगे इनमें से? एक तिनका मात्र भी साथ नहीं जा पायेगा—

“सब धरा यहीं रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा।”

□ साथ जायेगा पुण्य और पाप

साथ क्या जायेगा? साथ जायेगा धर्म, साथ जायेगा पाप, साथ जाएगा पुण्य! कितना धर्म कमाया? कितना पाप और कितना पुण्य एकत्रित किया? जीवन के बिखरे पृष्ठों को समेटकर टटोलिये। निश्चय ही वहाँ पाप-पुँज का बड़ा-सा ढेर अवश्य दिखाई देगा। परलोक गमन करेंगे तो इस पाप के भार को, संचित उपार्जित पाप-पुँज को साथ लेकर अकेले गमन करना होगा। इसलिए महावीर प्रभु बार-बार फरमाते हैं—“प्रमाद का त्याग कर। जहाँ प्रमाद है, वहाँ सुख नहीं हो सकता। जहाँ निद्रा है, वहाँ विद्या नहीं आती। जहाँ ममत्वभाव है, वहाँ वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता और जहाँ आरम्भ-समारम्भ है, वहाँ दयालुता की भावना का होना अति कठिन है।”

□ कार्यसिद्धि में लगना है

उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान महावीर बार-बार कहते हैं—“समयं गोयम मा पमाइए।” हे गौतम! समय मात्र के लिए भी प्रमाद मत कर। क्यों कहा? इसलिए कहा कि जिससे गौतम जिस लक्ष्य के लिए साधना कर रहे हैं, वह सिद्ध हो जाए। कार्यसिद्धि के लिए प्रमाद का त्याग आवश्यक है।

आप यह मत समझिए कि भगवान ने गौतम को कहा तो गौतम ही सुनेंगे और वे ही प्रमाद का त्याग करेंगे। बन्धुओं! गौतम स्वामी ने प्रभु से सैकड़ों-सहस्रों प्रश्न किये हैं? ऐसा नहीं कि गौतम स्वामी उन प्रश्नों का समाधान जानते नहीं थे, पर वे विनयपूर्वक प्रश्न पूछकर प्रभु-मुख से समाधान सुनते थे तो उसमें जन-जन का हित निहित था। वे चाहते थे, इस बात को सभी जानें, समझें और तदनुसार आचरण करें।

कार्यसिद्धि के लिए प्रमाद-त्याग आवश्यक है और सुख-शान्ति तभी प्राप्त होती है, जब जिस कार्य को किया जा रहा है, वह कार्य सफलता के साथ सम्पन्न हो जाये, उसका परिणाम

जैसा हम चाहते हैं वैसा मिल जाये। इस सबके लिए चाहिए स्फूर्ति, पुरुषार्थ। आलस्य यदि किया तो सफलता दूर हो जायेगी, क्योंकि—“आलस्यहि मनुष्याणां शरीरस्तो महारिपुः।” यह आलस्य, प्रमाद, व्यर्थ में समय खोना ही हमें कदम-कदम पर असफलता का मुँह देखने को विवश करता है।

□ जहाँ प्रमाद, वहाँ सुख नहीं!

जैसे ३६ के अंक में तीन का अंक व छह का अंक एक-दूसरे के कभी आमने-सामने नहीं होते, विपरीत ही बने रहते हैं, वैसे ही प्रमाद व सुख भी एक-दूसरे से विपरीत तत्त्व हैं, जिनका मेल कदापि सम्भव नहीं है।

साधक के लिए तो प्रमाद बहुत बड़ा घातक शत्रु है। साधक चाहता है आत्मा को अनंत सुख में तल्लीन देखना, पर प्रमाद जहाँ, वहाँ अनंत सुख तो क्या, सुख भी क्या, किंचित् मात्र सुख भी उपस्थित नहीं रहता।

□ करना है प्रमाद तो सांसारिक प्रवृत्तियों में कर !

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करें तो सांसारिक प्रवृत्तियों में प्रमाद अच्छा है, क्योंकि जो हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन-सेवन करता है वह व्यक्ति यदि प्रमाद करेगा तो उसकी पापकारी प्रवृत्तियों को कुछ विराम मिलेगा।

स्पष्ट है, धर्माचरण में प्रमाद का त्याग आवश्यक है, जबकि हिंसादि प्रवृत्तियों में प्रमाद हो तो अच्छा है।

□ प्रमाद ज्ञान का शत्रु है !

ज्ञानियों ने दूसरी बात बताई कि विद्या और नींद का आपस में मेल नहीं होता। जहाँ नींद है, वहाँ विद्या नहीं। यह भी एक सत्य है कि विद्या और ज्ञान सीखने के समय निद्रा आती ही है। एक विद्यार्थी है। वर्षभर उसे भले ही पढ़ाई के समय नींद आवे या नहीं आवे, पर देखा गया है कि परीक्षा के समय जरूर नींद आती है। इस तरह यह नींद विद्यार्थी की, विद्या की शत्रु है, अमित्र है, दुश्मन है।

□ निद्रा और दर्शनावरणीय कर्म

क्यों आती है नींद? जैनदर्शन के कर्मविज्ञान की मान्यतानुसार नींद आने का कारण है जीव के स्वयं के दर्शनावरणीय कर्म का उदय। इस कर्म के उदय में आने पर जीव की जो

स्थिति बनती है, उसके सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र के तैंतीसवें अध्ययन की पाँचवीं गाथा में वर्णन आता है—

निद्रा तहेव पयला, निद्राऽनिद्रा य पयला पयलाय।
तत्तो य थीणगद्धि, पंचमा होइ नायव्वा ॥

इसमें कहा गया कि निद्रा के पाँच प्रकार होते हैं—(१) निद्रा, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानद्धि।

कर्मग्रंथ में भी निद्रा के पाँच प्रकारों का विवरण देते हुए कहा है—

सुह-पडिबोहा निद्रा, निद्रानिद्रा य दुक्ख पडिबोहा!
पयला ठिओवविट्ठस्स, पयलापयलाउ चंकमओ!!
दिण-चिंति अत्थ-करणी, थीणद्धी अद्ध-चक्कि अद्ध-बला!

(१) निद्रा (सुह-पडिबोहा निद्रा)

“सुखप्रबोधस्वभावस्वापावस्था विशेषरूपत्वं। सूख-जागरणस्वभावस्वापावस्था विशेषरूपत्वं वा निद्राय लक्षणं।”

ऐसी नींद जिसमें निद्रित व्यक्ति आसानी से जग जाये, उसे ‘निद्रा’ कहते हैं। जिस नींद में सुखरूप से जागने का स्वभाव हो अथवा जगाने पर एक क्षण में आसानी से जो जाग जाये, उसे प्रथम प्रकार की ‘निद्रा’ कहते हैं।

(२) निद्रानिद्रा (निद्रानिद्रा य दुक्ख पडिबोहा)

“दुःखजागरणस्वभावस्वापावस्था विशेषरूपत्वं, दुःखप्रतिबोधस्वापावस्था विशेषरूपत्वं वा निद्रानिद्राय लक्षणं।”

अर्थात् नींद की एक विशेष अवस्था जिसमें बड़ी मुश्किल से, बहुत हिलाने-डुलाने-टटोलने पर सुप्त प्राणी जगे, उठे, उसे दूसरे प्रकार की निद्रा, अर्थात् ‘निद्रानिद्रा’ कहा गया है।

(३) प्रचला (पयला ठिओवविट्ठस्स)

“स्थितोपस्थितस्वापावस्था विशेषरूपत्वं प्रचलाय लक्षणं।”

तीसरे प्रकार की ‘प्रचला’ नामक निद्रा वह है जिसमें खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आ जाती है।

(४) प्रचलाप्रचला (पयलापयलाउ चंकमओ)

“चङ्क्रमणविषयकस्वापावस्था विशेषरूपत्वं प्रचलाप्रचलाय लक्षणं।”

अर्थात् चलते-चलते जो नींद आती है, उसे प्रचलाप्रचला कहा गया है।

(५) थीणद्धि (दिण-चिंति अत्थ-करणी, थीणद्धी अद्ध-चक्कि अद्ध-बला)

“दिण चिन्तितार्थाऽऽभिकाङ्क्षाविषयकस्वापावस्था विशेषरूपत्वं, जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थं संसाधनविषयकाभिकाङ्क्षानिमित्तकस्वापावस्था विशेषरूपत्वं वा स्त्यानद्धैलक्षणं।”

पाँचवें प्रकार की स्त्यानद्धि नामक निद्रा में व्यक्ति ने दिन में जिस विषयक-कार्य का तीव्र आकांक्षा से जो चिन्तन किया हो और दिन में वह कार्य न करके सो गया हो फिर रात को नींद में उठकर उस कार्य को निद्रावस्था में ही करे, यह ऐसी निद्रा होती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति उसी तरह सारा कार्य करता है, जैसे वह जागृतावस्था में हो, फिर भी उसे पता नहीं रहता कि मैं कुछ कर रहा हूँ। कार्य-समाप्ति पर वह आकर सो जाता है। सुबह जगने के बाद उसे इस सम्बन्ध में कुछ भी स्मरण नहीं रहता। इस निद्रा के उदय वाले व्यक्ति को नरक मिलना निश्चित है।

बन्धुओं ! ‘स्त्यानद्धि निद्रा’ में व्यक्ति जब निद्रावस्था में दिन में सोचा हुआ कार्य करता है तो उसमें अद्ध-चक्रवर्ती से आधा या कहना चाहिए वासुदेव के बल का आधा बल समाविष्ट हो जाता है। उसके शरीर में तब १० लाख अष्टापद पक्षी जितना बल आ जाता है।

कर्मशास्त्रकारों का कहना है कि यह कथन वज्रऋषभनाराच संहनन वाले जीवों के लिए है। वैसे जिसका जैसा संहनन होगा, उसके स्त्यानद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय में आने पर उसकी स्वयं की शक्ति का दुगुना, तिगुना बल आ जाता है। कर्मग्रंथ में ‘थीणद्धी’ प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए बताया है—“स्त्यानासंघातीभूता गृद्धिर्दिन चिन्तिनार्थसाधन विषयाभिकाङ्क्षायस्याम् सा स्त्यानद्धि। प्राकृतत्वात् ‘थीणद्धी’ इति नियातः।”

थीणद्धि-निद्रा के कुछ दृष्टान्त

(१) माँसभक्षक

किसी गाँव में माँसभक्षी ‘कणवी’ जाति का एक व्यक्ति अति माँसलोलुप था। वह कच्चा या पक्का, जैसा भी माँस मिलता, खा लेता था। एक बार एक त्यागी संत उस ग्राम में

पधारे। कुछ दिन वहाँ उनके धर्मोपदेश हुए। उनके त्याग, व्रत एवं उपदेश आदि के प्रभाव से ग्राम के अनेक व्यक्तियों ने अपने कुव्यसनों का त्याग किया। उस व्यक्ति ने भी माँसाहार त्याग का संकल्प धारण किया। शाकाहारी बन वह सन्त-समागम में अधिक रहने लगा।

एक बार वह अपने गुरु के दर्शनार्थ किसी ग्राम में गया। वहाँ निवृत्ति के लिए जब वह जंगल में गया तो राह में कुछ माँसलुब्ध कसाइयों को देखा, जो एक भैंस के पाडे को काट रहे थे। यह दृश्य देख उसके मन में भी पूर्वकाल के माँस खाने के संस्कार स्मृति-पटल पर उभरे और उसकी तीव्र इच्छा बन गई—माँस खाने की। तभी उसे याद आया—मैं तो माँसभक्षण त्यागी हूँ। तुरन्त इच्छा मारकर वहाँ से त्वरा गति चलते हुए धर्मशाला में आ गया, परन्तु अन्तर्मन में माँसभक्षण की इच्छा का जोर बढ़ता रहा। रात होने पर उसी विचार में सो गया।

रात को स्त्यानर्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय हुआ। रात्रि में वह निद्रावस्था में ही उठा, गाँव के बाहर निद्रावस्था में ही गया, भैंसों के झुण्ड में जाकर एक पाडे को मारा, उसका माँस वहीं बैठकर भरपेट खाया, कुछ माँस हाथ में लेकर खड़ा और चलकर यथास्थान लौट आया, आकर साथ लाये माँस को छुपाकर रखा और सो गया।

रात्रि व्यतीत हुई। प्रातःकाल हुआ। सभी यात्री उठकर अपने-अपने कार्य आदि में लगे। वह भी उठा। उसके हाथ व कपड़े खून से भरे थे। अन्य यात्रियों ने जब उसे इस हाल में देखा तो पूछा—“यह क्या है? कैसे हुआ यह?”

उसने कहा—“मैं तो कुछ भी नहीं जानता कि यह क्या है और कैसे हुआ?”

कुछ देर बाद छिपाया हुआ माँस भी मिल गया, पर वह किसी भी जानकारी से इन्कार करता रहा।

ज्ञानी गुरु भगवंत ने अपने ज्ञान से जान लिया कि इसे स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ है, अतः इसके द्वारा यह जघन्य कृत्य निद्रा में किया गया है और अब यह वह कार्य भूल चुका है। उसे वहाँ से निष्कासित कर दिया गया क्योंकि ऐसी निद्रा वाला नरक में जाता है।

(२) मोदक-भक्षक

एक ग्राम में कुछ साधु विराजमान थे। भिक्षार्थ एक मुनिराज गृहस्थों के घर गये तो एक घर में थाल भरे हुए मोदक (लड्डू) दिखाई दिये। गृहस्थ ने भिक्षा में लड्डू नहीं बहराये। उन साधु जी के लड्डू खाने की तीव्र इच्छा जगी। दिनभर वे उन लड्डुओं की ही बात सोचते रहे।

रात्रि में सोये तब भी ध्यान में लड्डू ही थे। स्त्यानर्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से वे मध्य रात्रि में उठे, निद्रावस्था में ही उस लड्डू बाले गृहस्थ के घर गये। द्वार तोड़कर अन्दर घुसे, खूब लड्डू खाए वहाँ उन्होंने। बचे हुए लड्डू झोली में डालकर वहाँ से उपाश्रय आ गया। झोली यथास्थान रखकर सो गये।

प्रातः उठे तो उन्हें लगा कि उन्होंने सपना देखा था। सपने की बात उन्होंने अपने गुरुजी से कह भी दी। बाद में झोली में लड्डू भी मिले। गुरु ने समझ लिया कि सपने में यह उन्हीं साधु का कार्य है और यह स्त्यानर्द्धि निद्रा के उदय से किया गया है। उसे दीक्षा से निकाल दिया गया।

(३) हस्ति-मारक

एक बार निवृत्ति के लिए गये एक छोटे सन्त को जंगल में हाथी ने बहुत परेशान किया। वह हाथी उन सन्त के पीछे ही पड़ गया। घबराकर संत वहाँ से भागे। तीव्र गति से भागकर अपनी जान बचाते हुए उपाश्रय में आ गये। दिनभर उनके मन में वही दृश्य आता रहा, वे हाथी पर क्रुद्ध होते रहे। क्रोध से भरे वे हाथी की बात सोचते-सोचते ही रात्रि होने पर सो गये। स्त्यानर्द्धि नाम के इसी दर्शनावरणीय कर्म के भारी उदय से वे साधु जी रात्रि में उठकर नगर के बन्द द्वार तोड़कर नगर से बाहर गये। हाथी को ढूँढ़ा। उस हाथी के मिलने पर उन्होंने उस हाथी के दोनों बाहरी दाँत खींचकर निकाल लिये और उन्हीं दाँतों के प्रहारों से हाथी को मार डाला। वापस उपाश्रय लौटे तो हाथी के दाँत बाहर ही रख दिये और स्वयं अन्दर आकर अपने संस्तारक पर सो गये।

प्रातः गुरु से बात की कि मुझे अमुक स्वप्न आया है। कुछ देर बाद हलचल मची कि उपाश्रय के बाहर दो विशाल हाथी-दाँत पड़े हैं। गुरु ने समझ लिया कि बात क्या है? स्त्यानर्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय वाले उस साधु का साधुवेश छीनकर निकाल दिया गया।

श्रीणर्द्धि निद्रावशे रे, हणियो हस्तीमहतः।
 सूतोभर निद्रावशे रे, भूतलीये दोयदंत॥
 अंग अशुचि शिष्यनुं रे, संशय भरियो साधः।
 ज्ञानी वयण काढियो रे, हंसवनेथी व्याधः॥

(ये घटनाएँ तब की हैं जब मानव-समुदाय के शरीर का संहनन वज्रऋषभनाराच का हुआ करता था।)

(४) वट-वृक्ष-छेदक

बहुत पुराने समय का एक और दृष्टान्त है—एक मुनिराज भिक्षाचर्यार्थ निकले। बड़ा संघाड़ा था, साधुओं की संख्या अधिक थी, अतः झोली में पातरे भी बड़े-बड़े थे। आहार लेकर लौट रहे थे वे। पातरे भरे हुए थे। झोली कुछ भारी थी। गर्मी का मौसम था, जेठ-आषाढ़ की दुपहरी थी। आकाश व धरती दोनों तप रहे थे। मुनि के पाँव जल रहे थे। वे उस तपन से परेशान हुए, व्यथित बने गये, बेचैनी उनमें व्याप्त हो गई। तभी एक वट-वृक्ष दिखाई दिया। सोचा—‘कुछ देर वृक्ष की छाया तले रुककर तपन को दूर कर दूँ।’

चले वृक्ष की तरफ। एक ओर की मोटी डाल कुछ अधिक ही नीचे झुकी हुई थी। मुनि को ध्यान रहा नहीं। जल्दबाजी में सिर उस शाखा से टकरा गया। काफी चोट आई। गूमड़ निकल आया।

किसी तरह भिक्षा लेकर उपाश्रय पहुँचे। सभी ने आहार किया। उन मुनि को दिनभर वह उनका सिर टकराना आदि याद आता रहा। वे चिन्तित भी थे और क्रुद्ध भी क्योंकि चोट लग गई थी।

रात्रि में सोए तब भी दिमाग में वही विचार, वही दृश्य था। स्त्यानर्द्धि निद्रा—दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से उठे निद्रावस्था में, गये वृक्ष के पास, वट-वृक्ष की उस मोटी-सी विशाल शाख को खींचकर तोड़ डाला, टूटी शाखा को घसीट ले आये, उपाश्रय के बाहर डाल दिया उसे, स्वयं अन्दर आकर अपनी शय्या पर सो गये।

सुबह उठकर गुरु से कहा कि मैंने ऐसा-ऐसा स्वप्न देखा। जब टूटी शाख वहीं उपाश्रय के दरवाजे पर मिली तो गुरु ने समझ ली सारी बात। स्त्यानर्द्धि निद्रा कर्म वाले उस साधु का साधुवेश छीन उसे समुदाय से बाहर कर दिया।

(५) पुत्र-वधु का दृष्टान्त

एक सेठ की पुत्र-वधु को स्त्यानर्द्धि निद्रा आती थी। एक बार इस निद्रा के उदय आने से वह मध्य रात्रि में उठी, कमरे में रखी अपनी आलमारी खोली, सोने-चाँदी के आभूषणों का डिब्बा उसमें से निकाला, आलमारी बन्द की और कमरे से बाहर निकल गई। कमरा

ऊपरी मंजिल पर था, अतः सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आई। घर का मुख्य द्वार खोला। बाहर निकलकर मुख्य मार्ग से होते हुए ग्राम से बाहर जंगल की ओर निकल गई। जंगल में पड़ी एक बड़ी भारी पत्थर की शिला (१०-२० व्यक्ति मिलकर उठाएँ ऐसी भारी शिला) को हटाकर आभूषणों का वह डिब्बा गड्ढे पर रखा और घर आकर अपने कमरे में जा, अपने बिस्तर पर सो गई।

शादी में जाने के प्रसंग पर जब आभूषण पहनने के लिए आलमारी खोलकर देखा गया तो डिब्बा नहीं था। घर में कुहराम मच गया। ढूँढ़ने की बहुत कोशिश हुई, पर डिब्बा नहीं मिला। जिन-जिन के गहने थे उसमें, वे सभी उदास, चिन्तित थे। याद करते गहनों को और अश्रुधारा बहाते थे। कभी सेठ को कोसा जाता, कभी सेठानी पर दोषारोपण किया जाता, कभी सेठ-पुत्र की तो कभी सेठ के पुत्र-वधु की ओर शक की निगाहें फिरतीं। ढूँढ़ने में, आरोप-प्रत्यारोपों में छह मास व्यतीत हो गये।

छह मास पश्चात् एक दिन पुत्र-वधु के पुनः स्त्यानर्द्धि निद्रा-दर्शनावरणीय कर्म उदय में आया। तब हुआ ऐसा कि वह अर्द्ध-रात्रि में उठी, जंगल में उसी स्थल पर पहुँची, उसी भारी-भरकम पत्थर-शिला को सरकाया, गड्ढा खोद आभूषण-बॉक्स निकाला। भारी शिला को पुनः यथास्थान रखा। आभूषण-बॉक्स लेकर पुनः घर आई। आलमारी में वह कीमती बॉक्स रखा और सो गई।

दूसरे ही दिन किसी कार्यवश आलमारी खोलने पर डिब्बा दिखाई दिया। डिब्बा मिल गया, आभूषण सभी के सुरक्षित थे, अतः सभी प्रसन्न हुए। बहुत समय तक सभी ने यही समझा कि घर के ही किसी सदस्य ने यह मजाक किया है।

एक बार ग्राम में महाज्ञानी मुनि भगवंत पधारे। सेठ ने आभूषण के डिब्बे वाला प्रसंग मुनिवर से कहा। ज्ञानी मुनिराज ने बताया कि स्त्यानर्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय से यह प्रसंग घटित हुआ है।

□ निद्रा से बचें

यह निद्रा जीव के लिए नरक निश्चित करती है, अतः ऐसे प्रगाढ़ दर्शनावरणीय कर्मबन्ध से हमेशा बचना चाहिए।

निद्रा की सभी स्थितियाँ प्रमाद का कारण हैं, प्रमाद की ही अवस्थाएँ हैं। दर्शनावरणीय कर्मोदय से ये पाँच प्रकार की निद्रा व्यक्ति लेता है और अपनी उस निद्रा के कारण जीव

सामान्य जानकारी प्राप्त करने में भी बाधा का सामना करता है। इस तरह निद्रा को विद्या एवं ज्ञान-प्राप्ति में मुख्य बाधक कारण माना गया है। इसीलिए एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने ५० वर्ष तक निद्रा नहीं ली।

प्रभु महावीर पूर्णतः अप्रमत्त थे। प्रमाद में न रहते हुए भी, प्रत्येक समय साधना में व्यतीत करते हुए भी जब दर्शनावरणीय कर्म उदय में आया तो साढ़े बारह वर्ष के अप्रमत्त साधनाकाल में प्रभु को दो घड़ी अर्थात् एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक निद्रा ने घेरा था। बन्धुओं! उनका दर्शनावरणीय कर्म था तो इससे तीव्र पर प्रभु ने पुरुषार्थपूर्वक, तपःसाधना से उसे क्षीण, क्षीणतर बना दिया था।

□ आसक्ति जहाँ, वैराग्य कहाँ ?

तीसरी बात जो बताई वह है, ममत्व वैराग्य का शत्रु है। ममत्व का अर्थ है बाह्य पदार्थों, सम्बन्धों आदि में आसक्ति, अनुराग, मोहभाव! ममत्व का होना संसार की प्रवृत्तियों में जीव की रुचि को प्रकट करता है। ममत्व होता है धन का, परिग्रह का, पत्नी का। मान लीजिए इनमें ममत्व कम हो रहा है, पर बच्चों के प्रति जो ममत्वभाव है, उसका घटना बड़ा दुष्कर है। यह ममत्व जब तक जीव में है, तब तक वह वैराग्य को भीतर प्रवेश नहीं करने देता। जहाँ आसक्ति है, वहाँ विरक्ति कैसे हो सकती है?

“भरी सराय को लखि कबीर, पथिक आपहु फिर जाय।”

मन ममत्व से भरा हो तो विराग-भाव वहाँ नहीं आता।

□ हिंसा जहाँ, वहाँ अनुकम्पा कहाँ?

चौथी बात में कहा गया है कि जहाँ हिंसा है, आरम्भ है, क्रूर-भाव है वहाँ दयालुता नहीं, वहाँ अनुकम्पा नहीं, वहाँ करुणा-भाव या मैत्री-भाव भी नहीं। जहाँ दया नहीं, वहाँ धर्म नहीं। षट्काय जीवों पर दया करना ही सर्वप्रथम धर्म, सबसे बड़ा धर्म है। कहते भी हैं—“देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, केवलीभाषित दयामय धर्म, ये तीन तत्त्व सार, संसार असार।”—जिसने इन तीनों तत्त्वों को अंगीकार कर लिया फिर उसके लिए संसार में कुछ नहीं रहता। प्रभु ने धर्म का प्रवेश-द्वार बताया है—दया को!

□ अवगुण छोड़िए, सद्गुण अपनाइए

बन्धुओं! प्रमाद, निद्रा, आसक्ति और हिंसा-भाव या आरम्भ—इन चार अवगुणों को जीतना है, इनसे नाता तोड़ना है। तोड़ेंगे इनसे नाता तो सुख-शांति, विद्या-ज्ञान, वैराग्य और

अनुकम्पा—ये चारों गुण आपसे स्वतः नाता जोड़ लेंगे। छोड़ेंगे कुछ तो कुछ प्राप्त होगा, तोड़ेंगे कुछ तो कुछ जोड़ सकेंगे। जोड़ लिए गुण तो बन जाएँगे गुणी। गुण से गुण बढ़ते हैं। जब गुण बढ़ेंगे तो गुणस्थानों की विकास-श्रेणियों पर चढ़ते जाएँगे।

□ पुरुषार्थ करें, व्रत पालन में

आप श्रावक हैं, श्रमणोपासक हैं, अतः गुणस्थान होना चाहिए आपका देशविरति श्रावक गुणस्थान। देशविरति अर्थात् अंशतः त्याग, मर्यादित त्याग। सम्पूर्ण त्याग किया जाता है तीन करण (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदन करूँ नहीं) और तीन योग (मन, वचन व काया) से। ऐसा त्याग करते हैं संयम-साधना के साधक श्रमण। श्रावक का त्याग उनपचास भांगे (प्रकार) से हो सकता है, यथा—एक करण एक योग से, एक करण दो योग से, दो करण एक योग से..... इसी तरह उनपचास भांगा बनते हैं। समवायांगसूत्र में आया है कि जो मोक्ष में जाने का श्रम, पुरुषार्थ करे वह श्रमण। श्रमणोपासक भी वही पथ अपनाता है। श्रमणोपासक का श्रम बारह व्रतों में विभाजित है। सच्चा श्रावक वह जो बारह व्रतों को धारण कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं व्यवहार को मर्यादा में सीमित करे। प्रतिक्रमण करते समय बोलते हैं आप-एक व्रतधारी यावत् बारह व्रतधारी।

□ कौन नहीं कर पाता व्रत धारण?

श्रावक होते हुए भी कई बार व्रत धारण नहीं जिए किये। कारण क्या? कौन नहीं कर सकता व्रत धारण? क्यों नहीं कर सकता वह व्रत धारण?

पहले कहा गया था आपसे कि जो अनंतानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों—कुल सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है। इन सात के क्षयोपशम के पश्चात् यदि अप्रत्याख्यानावरण की चार प्रकृतियाँ भी क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर ली जाएँ तो वह स्थिति देशविरति श्रावक की बन जाती है। नहीं किया यदि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार प्रकृतियों को क्षय, उपशमित या क्षयोपशमित तो व्रत धारण नहीं किये जा सकते।

□ श्रावक के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक

साधक के देशविरति श्रावक गुणस्थान में आ जाने के पश्चात् भी और व्रती बन जाने के बाद भी कई-कई बार अनंतानुबन्धी या अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क का उदय हो सकता है।

ऐसे में व्रतों में अतिचार लगने की स्थिति बने व अतिचार लगे तो श्रावक पंचम गुणस्थान से नीचे गिर सकता है। तब उसे चाहिए कि वह अपने दोषों का प्रतिदिन उभयकाल चिन्तन कर उनका प्रतिक्रमण करे और उनके लिए हृदय से पश्चात्तापपूर्वक “मिच्छामि दुक्कडं” दे। ऐसा करने पर वह पुनः पाँचवें गुणस्थान में स्थिर हो जाता है।

अनेक बार ऐसा होता है कि पूर्ण व्रती, बारह व्रतधारी श्रावक होने पर भी अंत में दुर्गति हो जाती है उनकी, मरण नजदीक आता है तो हाय-त्राय मच जाती है अन्तर् में और बाहर, दोनों ही तरफ। क्यों? वे सोचते हैं कि जीवनभर इतना धर्मध्यान, व्रत-प्रत्याख्यान किये पर लाभ क्या हुआ? फल क्या मिला? उन्हें समझ लेना चाहिए कि व्रत तो लिये पर उनका पुनः चिन्तन नहीं किया, लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं की, पश्चात्ताप कर प्रायश्चित्त नहीं लिया तो परिणाम भला कैसे मिले? व्रती हैं और मोहनीय उदय में हैं, कषाएँ आ गईं उदय में, पर पुनः चिन्तन कर उन्हें हटाने की बात नहीं सोची और न उनके कारण लगे दोषों की आलोचना की, अतः व्रतों का यथेच्छ फल नहीं मिला। क्यों नहीं करते चिन्तन, क्यों नहीं करते आलोचना? कारण है—प्रमाद, आलस्य, सांसारिक प्रवृत्तियों में उलझना।

□ प्रमत्त से अप्रमत्त बन गए तो!

बन्धुओं! जो व्रत धारण करते हैं, पुनः-पुनः व्रतों का चिन्तन करते हैं, दोषों के लिए उभयकाल प्रतिक्रमण करते हैं तो समझिए वे प्रमादरहित बन रहे हैं, अप्रमत्त ही हैं, कभी भी उन्हें वैराग्य आ सकता है और उस वैराग्य के समय दीक्षा धारण करने से पाँचवें से सातवें अप्रमत्त संयति गुणस्थान में आ जाते हैं वे। अब वे मद, विषय, कषाय, निन्दा, विकथा—ये जो पाँच प्रकार के प्रमाद हैं, उन पर अपनी विजय पा चुके हैं।

□ अप्रमत्त अवस्था का समय अत्यल्प

यहाँ जीत का सम्बन्ध केवल क्रियाओं से नहीं अपितु मन से अधिक है, अतः याद रखिए कभी भी, किसी भी समय स्वलना संभावित है। वैसे भी नियमा यह है कि अप्रमत्त-संयत स्थिति का समय अत्यल्प रहता है, अधिक से अधिक एक मुहूर्त्त, अड़तालीस मिनट। क्या आप जानते हैं—एक सामायिक का समय अड़तालीस मिनट, अर्थात् एक मुहूर्त्त क्यों है? वह इसीलिए कि सामायिक काल अप्रमत्त काल है और जीव अड़तालीस मिनट से ज्यादा अप्रमत्त नहीं बना रह सकता। या तो वह ऊपर चढ़ेगा या फिर वहाँ से अल्प समय के लिए ही क्यों न हो, गिरेगा फिर सँभलेगा और ऊपर चढ़ेगा।

□ पुनः-पुनः उतार-चढ़ाव

अप्रमत्त संयति को प्रमाद आये तो छट्टे गुणस्थान में, अप्रमत्त बने जिस काल तो उस काल पुनः सातवें गुणस्थान अप्रमत्त संयति में। अनेक बार स्वाध्याय आदि धार्मिक प्रवृत्तियों से हटकर अन्य प्रवृत्तियों में अब लगते हैं तो छट्टे प्रमत्त संयति की गुणश्रेणी पर होते हैं, पर जैसे ही पुनः स्वाध्याय, ध्यान आदि से जुड़ते हैं तो अप्रमत्त संयति गुणश्रेणी में आ जाते हैं। ऐसा अनेक बार होता है। एक बार पाँचवें गुणस्थान से सातवें में आने के पश्चात् सातवें से छठवें, छट्टे से सातवें, सातवें से पुनः छट्टे, छट्टे से पुनः सातवें गुणस्थान में। यह स्थिति बार-बार होती है।

यदि साधक छट्टे-सातवें गुणस्थान में रहता हुआ काल करे तो वह देवलोक में जाता है।

□ बलभद्र के बारह पुत्र

बन्धुओं! चल रहा है उन महापुरुषों का गुणगान जो गुणस्थान की सातवीं पायदान पर पैर रखकर उत्कृष्ट संयमाराधना व तपःसाधना से गुणश्रेणी में आगे बढ़े, ऊपर चढ़े और निरन्तर चढ़ते हुए एकभवावतारी बन गये। ऐसे ही महापुरुषों की श्रेणी-शृंखला में बलभद्र के निषध, मातलि आदि बारह पुत्र आते हैं। आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने 'बड़ी साधु वन्दना' में उन्हें अत्यन्त भावपूर्वक वन्दन-नमन करते हुए लिखा है—

बलभद्रना नंदन, निषधादिक हुआ बार।

तजी पचास अंतेउरी, त्याग दियो संसार ॥८८॥

सहु नेमि समीपे, चार महाव्रत लीध।

सर्वार्थसिद्ध पहुंच्या, होसे विदेहे सिद्ध ॥८९॥

□ निषधकुमार (जन्म, शिक्षा, पाणिग्रहण)

निषध आदि इन बारह कुमारों का वर्णन बत्तीस आगमों में वर्णित बारह उपांगों में से वण्हदशा नामक आगम सूत्र में मिलता है। ये बारह ही कुमार त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलदेव बलराम के पुत्र थे। इन सभी की माता का नाम था—रानी रेवतीदेवी।

एक बार रेवती रानी ने रात्रि में सुख-शय्या पर शयन करते हुए सिंह का स्वप्न देखा। स्वप्न देखकर वह जागृत हुई और राजा बलदेव के पास गई। राजा ने योग्य आसन देकर उन्हें

बिठायी तथा आने का कारण पूछा। रानी ने अपने स्वप्न की बात बताकर उस स्वप्न के फल की जिज्ञासा की। बलदेव ने अपने ज्ञान के आधार पर बताया कि “स्वप्न शुभ है, तुम एक वीर पुत्र को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त करोगी।”

दिन में राजा ने स्वप्न-पाठकों को बुलाया और स्वप्न बताकर उसका फलादेश पूछा। स्वप्न-पाठकों ने भी विचार कर राजा के फल-कथन की पुष्टि की। राजा ने उन्हें अनेक तरह की भेंट देकर, यथोचित दान-दक्षिणा देकर विदा किया।

गर्भ का समय पूर्ण होने पर रेवती ने एक अति सुन्दर, सुदर्शन, मनमोहक पुत्र का प्रसव किया। नामकरण का समय आने पर उत्सव-महोत्सव करके उसका नाम रखा गया—निषधकुमार।

महलों में वह बालक पाँच धाय-माताओं द्वारा पाला-पोषा जाने लगा। आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर निषधकुमार को कलाचार्य के पास अध्ययनार्थ भेजा गया। निषध ने पुरुषोचित बहत्तर कलाओं को निपुणता के साथ सीखा और सभी कलाओं में वह प्रवीण बन गया।

युवावस्था के प्राप्त होने पर उसका परिणय पचास राज-कन्याओं के साथ एक ही दिन में कर दिया गया। दहेज में उसे पचास-पचास कोटि स्वर्ण, रजत आदि अनेक वस्तुएँ दी गईं। अब वह निषधकुमार अपने उच्च शिखर वाले प्रासादों में वाद्ययन्त्रों के संगीत, वारांगनाओं के नृत्य-गीत आदि के बीच आमोद-प्रमोद के साथ समय व्यतीत करने लगा।

□ प्रभु-दर्शन एवं देशना-श्रवण

एक बार द्वारिका में अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु का पदार्पण हुआ। वासुदेव श्रीकृष्ण अपने राजसी ठाट-बाट के साथ प्रभु-दर्शन को गये। द्वारावतीवासी प्रजाजन भी अनेक समूहों में प्रभु-दर्शन को जाने लगे। राजपथों पर, वीथियों व बाजारों में हो रही चहल-पहल के कारण नगर में हो रहे जन-कोलाहल को सुन निषधकुमार ने कौतूहल प्रकट किया। उनके मन में इस कोलाहल का कारण ज्ञात करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

पूछने पर जब ज्ञात हुआ कि अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु पधारे हैं और सभी उन्हीं के दर्शन-वन्दन के लिए जा रहे हैं तो निषधकुमार भी अपने वैभव के साथ प्रासाद से निकलकर द्वारिका के मध्यवर्ती राजपथों से होते हुए प्रभु अरिष्टनेमि जहाँ विराजमान थे, वहाँ जाते हैं। समवसरण

लगा हुआ था वहाँ। प्रभु स्फटिक-सिंहासन पर विराजमान थे। निषध ने अन्य सभी जन की तरह पाँच अभिगमों का पालन करते हुए प्रभु-दर्शन किये, उन्हें विधियुक्त वन्दन किया और धर्मसभा में धर्मदेशना श्रवण करने के लिए बैठ गये।

□ अनेकानेक जन्मों के संचित पुण्यों से आती है विरक्ति

बन्धुओं! अनेक जन, अनेक देव, अनेक पशु-पक्षी सुनते हैं भगवान की देशना, पर यह जरूरी नहीं है कि सभी के अन्तर् में उसका समान प्रभाव हो। कुछ ही श्रेष्ठतम बिरले व्यक्ति होते हैं, जिन्हें उनकी देशना सुन संसार, घर-बार, परिवार से विरक्ति आती है और मोह-माया से नाता तोड़ वे संयम से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। कब होता है ऐसा? बन्धुओं! संयम लेने के भाव जो जागृत होते हैं, वे किसी एक जन्म के फल के कारण ही नहीं होते, अपितु अनेकानेक भवों, जन्म-जन्मान्तरों के संचित शुभ पुण्यों का एक स्थान पर एकत्रित होने से होते हैं, अन्तर् में विरक्ति जागती है, साधना करने की, संयम ग्रहण करने की भावना पैदा होती है।

□ निषध बने बारह व्रतधारी श्रमणोपासक

निषधकुमार ने सुनी देशना। श्रद्धा उत्पन्न हुई, पर संयम लेने के भाव उदय होने लायक संचित शुभ पुण्य अभी उदय में नहीं आये थे, अतः प्रभु के सम्मुख करबद्ध हो श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर व्रतधारी श्रावक बन गये और श्रावकाचार का पालन करते हुए महलों में समय व्यतीत करने लगे।

निषधकुमार के श्रावकाचार ग्रहण करने के पश्चात् अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु के वरदत्त नामक प्रधान शिष्य ने प्रभु से पृच्छा की कि इस निषधकुमार को ऐसा सुन्दर रूप, ऐसा इष्ट, कान्त, मनोज्ञ मानव शरीर, ऐसा सुदर्शन शारीरिक गठन किन शुभ कर्मों के फल से प्राप्त हुआ कि जिसे देखकर मानव-मन तो क्या, मुनि-मन भी कुछ क्षणों के लिए मोहित हो जाते हैं?

□ निषध का पूर्वभव

मुनि वरदत्त की जिज्ञासा का समाधान करते हुए प्रभु फरमाते हैं—

किसी समय जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में रोहीतक नाम का एक नगर था। वहाँ का राजा था महाबल और रानी थी पद्मावती। किसी रात रानी ने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर में सिंह

का स्वप्न देखा। देखकर जागृत हुई। स्वप्न-फल की जिज्ञासा करने पर समाधान मिला कि कुल को उज्ज्वल करने वाला शूरवीर पुत्ररत्न का लाभ होगा।

समय पर पुत्र हुआ। वीरांगद नाम रखा गया। अध्ययनकाल में बहत्तर कलाओं का अध्ययन किया। युवा होने पर बत्तीस श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण किया गया। बत्तीस-बत्तीस कोटि स्वर्ण, रजत आदि अनेक वस्तुओं का दत्त-दायजा उसे दिया गया। वह वीरांगद इन कन्याओं के साथ मानवीय कामभोगों को भोगते हुए आनंदपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा।

एक समय बहुश्रुताचार्य सिद्धार्थ अपने विशाल शिष्य-परिवार के साथ रोहीतक नगर के मेघवन उद्यान में पधारे और मणिदत्त-यक्षायतन में विराजमान हुए। परिषद् दर्शनार्थ जाने लगी। जन-कोलाहल सुन वीरांगदकुमार ने कारण ज्ञात किया और स्वयं भी अपनी ऋद्धि-वैभव के साथ दर्शन के लिए निकला। वहाँ धर्मदेशना सुनी तो विरक्त बन गया और आचार्यश्री के निकट दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प प्रकट किया। घर आकर माता-पिता से दीक्षा की अनुमति चाही। अनुमति मिलने पर दीक्षा अंगीकार कर शुद्ध भावों से श्रमणाचार पालन करने लगे। वीरांगद अणगार ने दीक्षा के पश्चात् आचार्य सिद्धार्थ से सामायिक आदि से लेकर ग्यारह अंग पर्यन्त विद्याध्ययन किया। अनेक प्रकार के तपादि का आराधन करते हुए उन्होंने पैंतालीस वर्ष तक निर्मल श्रमणधर्म का पालन किया। अन्तिम समय में आलोचनादि करके दो मास की संलेखना संधारा के साथ समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर ब्रह्मलोक कल्प के विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। देवलोक की दस सागरोपम की स्थिति, आयु क्षय कर, वहाँ से च्यव कर उसका जीव बलदेव राजा के घर रेवती रानी की कुक्षि में अपने पूर्वभव के शुभ कर्मों के कारण ऐसा सुन्दर, मनोज्ञ, सुदर्शन रूप लेकर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ है।

□ चिन्तन : “प्रभु आँ तो पर्युपासना का लाभ लूँ”

जिज्ञासा शान्त हुई। वरदत्त अणगार विहार कर अपनी आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे। अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु ने भी द्वारावती नगरी से विहार किया और वे बाह्य जनपदों में विचरण करने लगे। निषधकुमार जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता बन गया। वह दृढ़ श्रमणोपासक बन धर्म व नीतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

कितने ही समय व्यतीत हो जाने पर किसी समय निषधकुमार अपनी पौषधशाला में जाकर दर्भ के आसन पर बैठकर पौषध व्रत लेकर धर्म-जागरणा करने लगे। मध्य रात्रि में धार्मिक चिन्तन करते हुए अचानक अन्तर्मन में विचार आया—‘वे ग्राम, नगर, राज्य आदि धन्य हैं जहाँ- जहाँ अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु विचरण करते हैं। वहाँ के निवासी सेठ, सार्थवाह, राजा आदि भी धन्य हैं जो प्रभु को वन्दन-नमन करते हैं, उनके दर्शनों से पुण्य-लाभ अर्जित करते हैं, उनकी पर्युपासना से कर्म क्षीण करते हैं, उनकी धर्मदेशना सुन कृत-कृत्य बनते हैं। यदि अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यहाँ पधारे तो मैं भी उन्हें वन्दन-नमन करूँ और पर्युपासना का लाभ प्राप्त करूँ।’

□ वैराग्य एवं दीक्षा

निषधकुमार के इन मनोविचारों को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु अरिष्टनेमि ने जाना। वे अठारह हजार श्रमण-समुदाय के साथ ग्राम, नगर, पुर विचरण करते हुए द्वारिका नगरी के बाहर रैवतक पर्वत के निकट नन्दनवन नामक उद्यान में पधारे, समवसरित हुए। जन-परिषद् दर्शन-वन्दन करने आई। निषध भी पूर्ण वैभव के साथ दर्शनार्थ आया, धर्मदेशना सुनी, विरक्ति-भाव आने से माता-पिता की अनुमति पाकर प्रभु के पास प्रव्रजित हो त्रिगुप्ति से गुप्त ब्रह्मचारी अणगार बन गये। उन्होंने स्थविरों की सेवा में रहकर विनय-वैयावृत्य करते हुए ग्यारह अंगों का ज्ञानाभ्यास किया। विविध तप किये। नौ वर्ष का श्रमणधर्म-पर्याय का पालन किया।

□ संथारा-समाधिमरण-सर्वार्थसिद्ध वैमानिक देव बने

अन्तिम समय में महाव्रतों की आलोचना कर, अठारह पापस्थानों की आलोचना कर, दोष-शुद्धि कर पुनः महाव्रत धारण कर, अठारह पापस्थान का त्याग कर बीस दिवस (बयालीस भक्त) के संलेखना-संथारा के साथ समाधिमरण को प्राप्त किया। यहाँ से देह-त्यागकर उनका जीव सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। देवभव की तैंतीस सागरोपम की अपनी स्थिति क्षय कर उनका जीव जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र के उत्राक नगर में विशुद्ध पितृवंश वाले राजकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा।

□ मोक्ष जाएँगे

वहाँ बाल्यावस्था के पश्चात् सज्ञान बनने पर युवावस्था में प्रव्रज्या ग्रहण कर अनगार बनेगा। अणगार धर्म का पालन करते हुए अनेक उपवास, बेले, तेले, चार-पाँच-आठ दिवस,

धर्म-मासक्षमण व मासक्षमण आदि तपः साधना द्वारा अपनी आत्मा को भावित करके, अनेक वर्षों तक साध्वाचार का पालन करते हुए मासिक संलेखना-संधारा के साथ चरम श्वासोच्छ्वास में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो सर्व दुःखों का अन्त करेगा।

□ मातलि आदि शेष ग्यारह कुमार

बन्धुओं! निषधकुमार का प्रसंग आगम में जिस प्रकार से उल्लेखित किया गया है, शेष ग्यारह कुमारों का प्रसंग भी बिना किसी न्यूनाधिकता के, वैसा का वैसा ही है। उन शेष ग्यारह कुमारों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मातलि, (२) वह, (३) वेह, (४) पगया, (५) युक्ति, (६) दशरथ, (७) दृढरथ, (८) महाधन्वा, (९) सप्तधन्वा, (१०) दशधन्वा, और (११) शतधन्वा।

ये सभी सर्वार्थसिद्ध विमान में देवभव की तैंतीस सागरोपम आयु का क्षय कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहाँ के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन जन्म-मरण के चक्र से पूर्णतः छुटकारा प्राप्त करेंगे।

□ पाँचवें आरे में भी करणी मोक्ष की [अवन्ति सुकुमाल]

बन्धुओं! करनी है धर्मकरणी, रखने हैं चढ़ते हुए भाव, ज्ञान-दर्शन-चारित्र और दान-शील-तप-भावना में से जिसमें भी सामर्थ्य बने पराक्रम फोड़ें, पुरुषार्थ करें। यह न सोचें कि ये सारी बातें चौथे आरे की हैं, पाँचवें आरे में कहाँ है मोक्ष? एक प्रवचन, एक देशना सुनी और वैराग्योत्पत्ति अब कहाँ? पाँचवें आरे में भी एक भव करके मोक्ष जाने का रास्ता खुला है। इस आरे में भी एक वाणी सुनकर वैराग्योत्पत्ति और दीक्षाभाव आते हैं। नास्ति किसी बात की नहीं है।

अवन्ति सुकुमाल का नाम है। सुन्दर ऐसे कि देखें तो नजर लग जाये, सुकोमल इतने कि चलें पैदल तो पाँवों में छले पड़ जाएँ, सुकुमारता ऐसी कि छू लो उन्हें तो मुरक्षा जाये शरीर।

उज्जैनी नगरी और वहाँ की भद्रा सेठानी का इकलौता पुत्र-अवन्ति सुकुमाल! माता भद्रा थी व्रतधारी, दृढधर्मी श्राविका। सुना कि उज्जैनी में सुहस्ति आचार्य पधारे हैं अपने शिष्य-समुदाय सहित। जाती है दर्शन-वन्दन के लिये। विनती करती है आचार्य सुहस्ति से—“आचार्यदेव! बहुत बड़ी हवेली है, अनेक भाग खाली पड़े हैं, वहाँ पधारकर क्षेत्र-स्थान पवित्र बनाएँ, यह लाभ प्रदान कर हमें सेवा-सत्कार-सम्मान का अवसर दें।”

□ आचार्य सुहस्ति का श्रमणाचार

पधार गये आचार्य हवेली में। जिस भाग में विराजे, निकट ही अवन्ति का भवन। अवन्ति की बत्तीस पत्नियाँ। राग-रंग, गीत-संगीत, नृत्य-अभिसार। अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ चल रही हैं वहाँ। इधर आचार्य सुहस्ति व उनके साधु अपनी श्रमणचर्या में लीन। साधु दिन या रात में कालोकाल अपनी निश्चित चर्या करते हैं। आगम विधान के अनुसार वे दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं, दूसरे प्रहर में ध्यान करते हैं, तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी के लिए निकलते हैं और भिक्षा लाकर आहार करते हैं। चौथे प्रहर में प्रतिलेखन कर पुनः स्वाध्याय-लीन बन जाते हैं। रात्रि के प्रथम प्रहर में भी स्वाध्याय, प्रतिक्रमण करते हैं, दूसरे प्रहर में ध्यान करते हैं, तीसरे प्रहर में शयन करते हैं और अन्तिम प्रहर में पुनः स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण करते हैं।

□ अवन्ति को जातिस्मरण ज्ञान

आचार्य सुहस्ति व उनके शिष्य रात्रि-प्रतिक्रमण के पश्चात् आगम-पाठ उच्चारण करने बैठे। मंद ध्वनि, मधुर स्वर, गुणगुनाहट। गीत-संगीत क्या है उस ध्वनि-उस स्वर के समक्ष? अवन्ति सुकुमाल के कानों में पड़ी वह ध्वनि। अवन्ति आकर्षित हुआ उस नयी विशिष्ट स्वर-लय आदि से परिपूर्ण ध्वनि की ओर तभी आगम-पाठ में देवलोक का वर्णन आया, देवलोक के विमानों का वर्णन आया। अवन्ति को लगा कि उसने ऐसे विमान देखे हैं। उपयोग लगाया, चिन्तन करने लगा और इसी चिन्तन में उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। देखा उसने, जाना उसने कि वह पिछले भव में वैमानिक देव था, उसके पास ऐसा विमान था। चिन्तन की धारा चलती रही तो ध्यान में आया कि उससे पूर्व मानव-भव मिला था। संसार त्यागकर श्रमण बना। उत्कृष्ट संयम का पालन किया। उसी के परिणामस्वरूप महर्द्धिक वैमानिक देव-ऋद्धि मिली।

□ दीक्षानुमति की प्रार्थना

रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त हुआ तो स्वाध्याय भी रुक गया। सन्त-जन ध्यानरत बन गये पर अवन्ति का चिन्तन तब भी गतिशील बना रहा—“श्रमणधर्म-पालन में, संयममय जीवन में कहीं कोई कमी रह गई तभी मोक्ष नहीं मिला। मानव-भव का चरम लक्ष्य तो मोक्ष-प्राप्ति ही है। पुनः मानव-भव पाया है तो क्यों न इसको सफल करूँ?”

प्रातः उठकर माता के पास आता है और चरण स्पर्श कर प्रणाम करता है। आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात् कहता है—“माँ ! मैं श्रमण बनना चाहता हूँ, संयम-पालन करना चाहता हूँ, रत्नत्रयी की आराधना करना चाहता हूँ।”

□ सहज नहीं दीक्षानुमति

पाँचवाँ आरा था और न भी होता तो क्या, चौथे आरे में भी माता-पिता पुत्र के वैराग्य की परीक्षा लिया करते थे, उसे मोह-माया में उलझाए रखने के प्रयत्न करते थे, दीक्षा के पश्चात् श्रमणचर्या की दुष्करता का वर्णन कर डराते थे, भोगों का, धन का, राज्य का, पत्नियों के साथ हास-विलास का प्रलोभन देते थे, सम्बन्धों की आसक्ति को प्रकट करते हुए कहते थे—“तुम्हारे बाद हमारा क्या होगा ? पत्नियों का क्या होगा ?”

बन्धुओं ! वैराग्य में दृढ़ता हो तो न डर, न प्रलोभन और न नाते-रिश्ते ही व्यक्ति को दीक्षा से रोक सकते हैं। कोई बाधा नहीं होती उसके मार्ग में, वह सभी बाधाओं को अपने ज्ञान के प्रकाश से दूर कर देता है।

□ माता के रोकने पर अवन्ति का माता को समझाना

अवन्ति की माता ने भी उसे संसार में उलझाने, दीक्षा से रोकने का हर संभव प्रयत्न किया, पर अवन्ति तो जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अपना पूर्वभव देख, जान चुका था। उसने स्पष्ट कहा—“हे माता ! जो कर्म मैंने बाँधे हैं वे मुझे ही भोगने हैं, अतः मैं अब और कर्म नहीं बाँधना चाहता, अपितु जो कर्म बाँधे हुए हैं उन्हें भी तपादि से दूर करना चाहता हूँ। तुमने संयम के कष्टों की बात कही तो दुनिया में क्या कम कष्ट हैं फिर कष्टों के बिना सफलता का सुपरिणाम कहाँ ? जहाँ तक मेरी बत्तीस पत्नियों के रो-रोकर मरने की बात है तो माता ! उन्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि मैं उज्ज्वल पथ का पथिक बनने जा रहा हूँ। मेरा उनसे भी यही कहना है कि रो-रोकर आर्त्तध्यान कर कर्मबन्धन करेगी वे तो उन्हें अपने कर्मों का फल भोगना होगा, उनका संसार बढ़ेगा, दुःख-पीड़ा-व्यथा का भार बढ़ेगा। हे माता ! दुनिया के सभी नाते-रिश्ते स्वार्थ के हैं। स्वार्थ-पूर्ति में बाधा आये तो बेटा भी माता-पिता के लिए खारा और पत्नियों के लिए पति भी दुश्मन रूप हो जाता है।”

मन दुःखित हुआ माता भद्रा का। पुत्र के वचन सत्य थे, पर कठोर थे। अवन्ति ने देख लिया कि मातुश्री इस तरह तो मानेंगी नहीं, दीक्षा की आज्ञा देंगी नहीं, अतः इतने कठोर शब्द कह गया। बताइए, इस पाँचवें आरे में भी कैसी दृढ़ता उस युवक में ?

□ मन में साहस लाकर धर्मदृढ़ बनें !

बन्धुओं ! इस बात को मन से निकाल दीजिए कि पाँचवाँ आरा है, अतः दृढ़ता नहीं, शुद्ध धर्मकरणी नहीं, शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं। सब कुछ है और पाँचवें आरे के अन्त तक सब कुछ रहेगा। आवश्यकता है मन में साहस की, दृढ़ता की और रत्नत्रयी-पालनार्थ आगे बढ़कर उसमें पुरुषार्थ करने की। करेंगे पुरुषार्थ तो आप भी उन महापुरुषों की श्रेणी में आ सकते हैं, सर्वार्थसिद्ध विमान के देव बनकर एकभवावतारी हो सकते हैं। मोक्ष का रिजर्वेशन हो जायेगा, सीट यदि रिजर्व तो मंजिल तो प्राप्त होनी ही है।

आनंद ही आनंद !

□□

निषधकुमार मातलिकुमार वहकुमार वेहकुमार पगयाकुमार युक्तिकुमार दशरथकुमार दृढ़रथकुमार महाधन्वा सप्तधन्वा दशधन्वा शतधन्वा	वासुदेव श्रीकृष्ण के अग्रज बलदेव बलराम इन सभी के पिता थे।	इस बारह ही राजकुमारों की माता थी बलराम की पत्नी रानी रेवती।	इन सभी ने गृहस्थावस्था में श्रावकधर्म स्वीकार कर श्रावक के बारह व्रत धारण किये।	सभी ने दीक्षा ली, सभी की दीक्षा-पर्याय ९ वर्ष	सभी को २०-२० दिवस का संथारा आया।	सभी काल करके सर्वार्थसिद्ध विमान के देव हुए।	सर्वार्थसिद्ध विमान की स्थिति पूर्ण कर सभी च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो सिद्धगति प्राप्त करेंगे।
---	---	---	---	---	----------------------------------	--	--

निरयावलिकासूत्र, वर्ग ५
(वण्हदशासूत्र)

टालसे भव नी खोड़

जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरण मुत्तमं ॥

(उत्तरा. २३/६९)

आत्म-बन्धुओं!

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थकर भगवन्तों की वाणी प्राणी मात्र को भवसागर से तारने वाली है, पार उतारने वाली है, किनारे पर पहुँचाने वाली है। उन तीर्थकर भगवन्तों ने चार तीर्थरूपी धर्म की स्थापना की। तीर्थ वे स्थान होते हैं जो तिरा दें, पार उतार दें, डूबने से बचा लें। प्रभु द्वारा स्थापित वे चार जीवन्त तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। व्यक्ति यदि जीवन में इन चारों में से किसी भी एक तीर्थ को धारण करके आगे बढ़े तो वह मुक्ति के राजपथ पर कदम रख देता है, उसका संसार परीत्त बन जाता है, मोक्ष में उसकी सीट रिजर्व हो जाती है क्योंकि जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणियों के लिए धर्म ही एक मात्र द्वीप है, आधार है।

□ पुरुषार्थ से प्रगति

कारण बिना कार्य नहीं होता और कार्य में पुरुषार्थ न हो तो सिद्धि नहीं मिलती। यह सिद्धांत यहाँ भी लागू होता है अर्थात् श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी रूपी तीर्थ में से किसी एक को पकड़ने के पश्चात् उसके अनुरूप जिनेन्द्र कथित निर्देशों का, आज्ञाओं का पालन करना होता है। इसी का नाम है पुरुषार्थ। पथ मिल गया, पुरुषार्थ की क्षमता है, करता है जीव पुरुषार्थ तो प्रगति निश्चित है।

□ सागर—जहाज—नाव

कार्य क्या है? कार्य है—“संसार-सागर को पार करना।” इस संसार-सागर को पार करने के लिए प्रभु ने तीर्थ तो बनाए, पर ध्यान रखिए, सागर पार करना इतना सहज, सरल नहीं है। आप जानते हैं, सागर किनारे पर कम गहरा और आगे अधिक गहरा होता है।

अधिक गहरे पानी में जहाज चलते हैं, पर वे कम गहरे पानी में नहीं चल सकते, गहरे पानी में ही खड़े रहते हैं। उन जहाजों तक पहुँचने के लिए नौका, जेटी आदि साधन काम में लाये जाते हैं। कोई यदि यह सोचे कि नाव पर बिना चढ़े ही जहाज तक पहुँच जाऊँ। क्योंकि तकलीफ उठाऊँ पहले नाव में चढ़ने की? तो वह भूल करता है। उसका जहाज तक पहुँच पाना कठिन है। जहाज पर ही नहीं पहुँचेगा तो पार उतरना कैसे संभव होगा!

□ संसार—अणगार—सागर

बंधुओं! भव-सागर से तिरने की नाव है—आगार-धर्म, श्रावक-धर्म, एक व्रतधारी यावत् बारह व्रतधारी श्रावक-धर्म का पालन। जहाज है—अणगार-धर्म, श्रमण-धर्म, पंचमहाव्रत पालन रूपी धर्म। आगार-धर्म बड़े स्टीमर या जहाज, अर्थात् अणगार-धर्म तक पहुँचने का साधन है। संसार और सांसारिक पदार्थों, नाते-रिश्तों, माया-मोह से ममत्व को त्याग, लगाव को छोड़ व्रतों के पालन द्वारा व्यक्ति बड़े जहाज को पकड़ ले और चढ़ जाये उसमें तो फिर बेड़ा पार है।

□ दृढ़ता आवश्यक

नाव या जहाज में बैठने के बाद भी कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना होगा। पहली बात नौका हो या जहाज, उसमें मजबूती होनी जरूरी है। बीच सागर में तूफान आ सकता है, समुद्र की उत्ताल तरंगें नाव या जहाज को तोड़ने-फोड़ने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रह सकती हैं। ऐसे में नाव या जहाज के छिन्न-भिन्न होने का या डूबने का डर बन सकता है। तात्पर्य यह है कि चाहे श्रावक-धर्म का पालन करना हो, चाहे श्रमण-धर्म का, दृढ़ता बनी रहनी चाहिए। बावीस परीषह श्रमण-धर्म के लिए सबसे भयंकर तूफान हैं। इनमें भी जो अनुकूल परीषह आते हैं, वे अधिक भयंकर उत्पात पैदा करते हैं। इन पर विजय प्राप्त करें तो मंजिल निश्चित है।

□ संघर्ष का साहस : साहस से संघर्ष

दूसरी बात सागर के बीच भयंकर तूफान आ सकते हैं, समुद्री डाकू उपद्रव पैदा कर सकते हैं, बड़े-बड़े कच्छ-मच्छ भी जहाज को टक्कर मारकर या अन्य किसी प्रकार से हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसे समय में यात्री, अर्थात् साधक को पूरे साहस के साथ उनका मुकाबला करना होगा, अपने को व अपने जहाज को बचाना होगा। दिखाया यदि इतना साहस तो पार जा सकेंगे, किनारे पहुँच सकेंगे।

प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र के २३वें अध्ययन की ७१वीं गाथा में फरमाया है—

जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।

जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥

तीसरी शर्त बताते हुए यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि नाव या जहाज में कोई छेद नहीं होना चाहिए। छेद डुबाते हैं, पार नहीं लगा सकते। जो भी व्रत या महाव्रत ग्रहण किए हैं उनमें दोष न लगने पाये, शिथिलता न आये, मन कमजोर न हो। श्रावकाचार या श्रमणाचार में किसी तरह का प्रमाद न किया जाये। जहाँ शिथिलता है, विचलितता है, विकल्प है वहाँ कच्चावट निश्चित है और जहाँ कच्चावट है, वहाँ व्रत-महाव्रत भंग भी हो सकते हैं, डूबा जा सकता है अतल गहराइयों में, बढ़ाया जा सकता है संसार के जन्म-मरण को। आगार-धर्म से अणगार-धर्म में आ गये, उसके पश्चात् भी आवश्यक है कि साधक पूर्ण सचेत रहे, दृढ़ रहे, साहस रखे। पार होना है तो यह आवश्यक है।

□ आत्म-ज्ञान से आत्मोन्नति

जिन व्यक्तियों को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने की चाह है तो उनके अन्तर् में संयमरूपी नीर होना चाहिए फिर उस नीर की गहराई भी बढ़ती जानी चाहिए। अन्दर यदि सूखी रेत है तो पार होना कठिन है। इसके लिए आत्म-ज्ञान होना चाहिए, आत्मा का भान व्यक्ति को चाहिए। आत्म-ज्ञानी व्यक्ति आगार से अणगार-धर्म ग्रहण कर दृढ़ता से महाव्रतों का पालन करता हुआ, आत्म-विकास के सोपान चढ़ता हुआ बहुत शीघ्र मुक्त बन जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

□ धन्ना-शालिभद्र

आगार-धर्म ग्रहण कर अणगार-धर्म की तरफ बढ़ने वाले और आत्म-ज्ञानी बन मुक्ति प्राप्त करने वाले अथवा एक या एकाधिक (दो या तीन) भवों के पश्चात् मोक्ष जाने वाले दिव्य-भव्य साधकों का वर्णन चल रहा है 'बड़ी साधु वन्दना' में। उन्हीं महासाधकों की कड़ी में आज प्रसंग चलेगा महामुनि धन्ना व महामुनि शालिभद्र का।

इन दोनों महापुरुषों को अपना भाव-वन्दन करते हुए एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने कहा है—

धन्ना ने शालिभद्र, मुनीश्वरों नी जोड़।

नारी ना बंधन, तत्क्षण नाख्या तोड़ ॥१०॥

घर—कुटुम्ब—कबीलो, धन—कंचन नी कोड़।
मास—मास खमण तप, टालसे भव नी खोड़ ॥९१॥

□ शूरां ने लागे ओ वचनज ताजणा

बंधुओं! धन्ना जी थे शालिभद्र जी के बहनोई। शालिभद्र को जब संसार से विरक्ति होती है और वे दीक्षा ग्रहण करने के लिए संकल्पित होते हैं तब वे संकल्प पूर्ति के निमित्त अपनी बत्तीस पत्नियों को एक-एक दिन में एक-एक कर छिटकाते हुए तैंतीसवें दिन दीक्षा ग्रहण करने का निर्णय प्रकट करते हैं। यह समाचार शालिभद्र की बहन सुभद्रा के माध्यम से धन्यकुमार को मिलता है। धन्यकुमार पत्नी से कह उठते हैं—“कायर है तुम्हारा भाई! क्या एक-एक नारी छिटकाना? छोड़ना है तो एक साथ छोड़े! तोड़ना है तो झटके से तोड़े।”

पत्नी कह देती है—“कहना सरल है, करना कठिन। करके दिखाओ तो जानूँ।”

बस! यहीं झटका लग जाता है धन्यकुमार को। तत्क्षण त्याग देते हैं अपनी आठों पत्नियों को। हँसी की बात अन्तर् में उतरकर सत्य का प्रगटीकरण करती हुई क्रियान्विति के चरण तक पहुँच जाती है। सुभद्रा व शेष पत्नियाँ धन्ना जी को बाद में बहुत मनाती हैं, पर “शूरां ने लागे ओ, वचनज ताजणा।” शूरीर थे, एक बार कह दी बात मुँह से, धार ली जो हृदय में फिर उससे पीछे क्या हटना?

□ शालिभद्र का पूर्वभव—‘संगम’

कैसे होता है यह सब कुछ? किस प्रकार रचना होती है घटना-चक्र की? उस अति रोचक प्रसंग को आप सभी ध्यान से सुनिए—

मगध राज्य की राजधानी राजगृह के निकट ही एक छोटा-सा ग्राम था। ग्राम का नाम था—शालि! ग्राम में गोधन से सम्पन्न एक गोपालक रहता था। दुधारू पशु बहुत थे, अतः घर में घी, दूध, दही की कोई कमी नहीं थी। पत्नी थी ‘धन्या’ और एक था पुत्र, नाम था जिसका ‘संगम’! अचानक गोपालक को मृत्यु का आमन्त्रण मिला और उसने देह त्याग दी। इस देह का कोई भरोसा नहीं, नश्वर है शरीर। जन्म जिसका है उसका मरण भी निश्चित है। मृत्यु उम्र नहीं देखती, समय या स्थान नहीं देखती। वह तो कभी भी, कहीं भी, किसी भी आयु में आ सकती है।

□ पितृ-मरण और दुर्दिनों का आगमन

गोपालक का देहान्त हुआ तो संगम अभी छोटा-सा बालक ही था। एक आदमी गया और उसके बाद दुर्दिन जो आये तो पशु भी एक-एक कर मरने लगे। सारे गाय-बछड़े

काल-कवलित हो गये, सारी धन-सम्पत्ति ठिकाने लग गई। अब बचा था एक घर और माता धन्या व पुत्र संगम! संसार में यदि कोई बड़ा से बड़ा अभिशाप है तो वह है दारिद्र्य, गरीबी, निर्धनता!

वैधव्य का बोझ और गरीबी से 'धन्या' अत्यंत व्यथित रहने लगी। उसे रह-रहकर अपने पुराने वैभवमय दिन याद आते पर वह करती क्या? अब तो मजबूरी थी उसकी गरीबी में जीवन बिताने की। एक समय ऐसा आया कि दो समय के भोजन की पूर्ति भी मुश्किल हो गई। गाँव था, धन्या को कौन काम देता? काम था भी क्या वहाँ? अन्त में उसने निश्चय किया कि पुत्र संगम को बड़ा करना है, योग्य बनाना है तो गाँव छोड़कर शहर में जाना होगा, काम तलाशना होगा।

□ ग्राम त्यागकर राजगृही आना

उसने वह 'शालि' नामक ग्राम छोड़ दिया और राजगृही नगर में चली आई अपने पुत्र 'संगम' को साथ लेकर। सेठ-साहूकारों की नगरी थी राजगृही। वह अनेक साहूकारों के घरों में गई, घर का कुछ काम देने का कहा। कुछ अमीरों के धर झाड़ू-बर्तन का, पानी भरने का काम मिल गया। धन्या कामकाज करने लगी। लोग उससे काम करवाते, बदले में भरण-पोषण योग्य कुछ राशि भी देते। एक पुराना टूटा-फूटा मकान भी किसी रहमदिल ने दया करके दे दिया। संगम भी अब कुछ सज्ञान था। उसे धमीमानी सेठों की गाँव चराने वाले चरवाहे के साथ लगा दिया गया। जाता वह नित्य और बदले में सेठ-साहूकार उसे भी कुछ राशि दे देते।

□ तब गोपालन और गोधन प्रतिष्ठा का कारण था

बंधुओं! पुराने समय में धनीमानी सेठ-साहूकार, समृद्ध व्यक्ति गाँव रखते और पालते थे। जो जितना अधिक समृद्ध होता वह उतनी ही अधिक गाँव रखता था। गोधन उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाता था, अनेक गरीबों को वहाँ काम मिल जाता था, शुद्ध घी, दूध, दही, मक्खन का तो लाभ था ही। बिलौवने की छाछ से भी अनेक घर लाभान्वित होते थे। गोबर भी लाभ का साधन था—खाद के रूप में भी और उपले आदि बनाकर ईंधन के रूप में भी।

□ आज मानव स्वयं मशीन बन गया

आज का व्यक्ति थोड़ा-सा धन कमा लेता है तो स्कूटर खरीदता है। कुछ अधिक कमा लेता है तो कार खरीदता है, टी. वी. व फ्रिज खरीदता है, वाशिंग मशीन लाता है। तात्पर्य यह है कि आप वर्तमान युग में जीने वाले लोग मशीनों को पाल रहे हैं और स्वयं का जीवन भी मशीन की ही भाँति बना रहे हैं, बना चुके हैं। अन्तर् में जो भाव-प्रवणता है वह शनैः-शनैः

निष्पन्द बन रही है, आत्मीयता और अनुकम्पाभाव समाप्त हो रहे हैं। पशुओं को, जीवों को आप नहीं पालते, नहीं पाल सकते। अन्तर् में जीवन्तता नहीं, स्पन्दन नहीं तो पशुपालन संभव नहीं। व्यक्ति मशीनों के पराधीन बनता जा रहा है और मेरी समझ में वह दिन दूर नहीं जब मानव-जाति अपना जीवन इन मशीनों को सौंप देगी।

आपकी बात आप जानें, पर उस समय के व्यक्ति गो-पालन समृद्धि का चिह्न मानते थे। बालक संगम गायों, बछड़ों के साथ जंगल में, खेतों में दूर-दूर जाता, उनकी निगरानी रखता, संध्या पड़ने से पूर्व वापस आ जाता।

□ संगम की अभिलाषा : खीर खाने की आशा

एक दिन कोई त्योहार का अवसर था। संगम जंगल से गाएँ चराकर शहर में आया, गायों को बाड़े में डाला और घर जाने लगा। तभी उसकी दृष्टि सेठ-साहूकारों के कुछ लड़कों पर पड़ी। उसने देखा कि वे लड़के कुछ खा रहे थे, कुछ पी रहे थे। उत्सुकता जगी। निकट चला गया। लड़के खीर खा रहे थे और आपस में बातें भी कर रहे थे—“बहुत स्वादिष्ट है”, “मीठी कुछ ज्यादा है”, “सुगंध कितनी अच्छी है”, “केसर डाली गई है”, “केसर के साथ बादाम, पिश्ते, इलायची भी है।”

बंधुओं! भोजन में क्षीर या खीर को उत्तम भोजन बताया है। परमान कहा है उसे। शुभ्र-श्वेत-दुग्ध की, अतः उज्ज्वलवर्णी, खाने में आनन्द देने वाली और खाने के पश्चात् परिणामन शुभ, पाचक, किसी तरह की तकलीफ नहीं, कोई रोग नहीं इससे। स्वयं प्रभु महावीर के भी चातुर्मासी तप का पारणा क्षीर से हुआ था।

सेठ-साहूकारों के वे बच्चे खीर खा रहे थे। संगम को निकट आते देख वे बातों के साथ जीभ से चटखारे लेने लगे। उसे चिढ़ाते हुए किसी ने कहा—“अहा! क्या आनंद है खीर खाने का!”

दूसरे ने कहा—“देखो! ये संगम, गाय-बछड़े चराने वाला आया है। ये भी खीर खाएगा!”

तीसरे ने उसे सम्बोधित करके स्पष्ट पूछ ही लिया—“क्यों रे! तू भी खायेगा खीर? कभी देखी है खीर कैसी होती है? जा, अपनी माँ से कहना, वह बना देगी तेरे लिए खीर।”

संगम को खीर की सौंधी सुगंध ने अभिभूत बनाया था फिर कल्पित स्वाद ने उसके अन्तर् में एक चाह जगा दी। खीर खाने वालों की बातें और ताने उसने सुने तो चाह और बढ़ गई।

आया घर। कहा माता धन्या से—“मैं भी खीर खाऊँगा। सारे सेठ-साहूकारों के लड़के खीर खा रहे हैं। तू जल्दी से मेरे लिए भी वैसी ही खीर बना दे।”

□ माता की विवशता

क्या कहे धन्या ? उसके पास तो दूध, चावल के लायक भी पैसे नहीं थे। बोली—“कल बना दूँगी बेटे! आज तो रोटी खा ले।”

संगम ने जिद पकड़ ली कि “मैं तो आज खीर ही खाऊँगा। यदि खीर नहीं बनाई तो भूखा ही सो जाऊँगा।”

धन्या ने समझाया—“बेटे! हम गरीब हैं। दो समय रोटी मिल जाती है, वही बहुत है। खीर कहाँ से बनाऊँ मैं? कहाँ से लाऊँ दूध, चावल, शक्कर! वे जो बच्चे खीर खा रहे हैं उन्होंने पूर्वभव में कुछ दान दिया है, पुण्य कार्य किये हैं, शुभ कर्मोपार्जन किये हैं, अतः उन्हें खाने के लिए खीर प्राप्त हो गई है।”

□ दान से अधिक भावना का महत्त्व है

आज व्यक्ति प्राप्त तो बहुत कुछ करना चाहता है। छोटा-सा मकान बन गया तो बंगला चाहिए, बंगला बन गया तो कार चाहिए, कार आ गई तो व्यापार-विस्तार चाहिए, कुर्सी या सत्ता चाहिए, बैंक-बैलेंस चाहिए, स्वर्ण, रत्न, हीरे चाहिए, नौकर-चाकर, दास-दासी चाहिए। बंधुओं! चाहिए तो सब कुछ पर देने का कभी काम पड़े तो मुँह फेर लेते हैं, बहाने बनाते हैं, देने में समर्थ हैं, पर असमर्थता प्रकट करते हैं।

ध्यान रखियेगा, मैं पहले भी आपको कह चुका हूँ कि दान में महत्त्व वस्तु का उतना नहीं जितना दान देने वाले की भावना का है और दान लेने वाले की पात्रता का है। वस्तु का विचार करते समय चित्त की शुद्धता व ग्रहण करने वाले की आवश्यकता का ध्यान रखा गया है। चंदना ने उड़द के बाकले बहराए थे, बलभद्र जी के आख्यान में जंगल के हिरण ने केवल दान देने की अनुमोदना की, पर इन सबको परिणाम कितना सुन्दर, सुखद मिला।

आप चाहते तो सब कुछ हैं, पर आपके पुण्य के खाते में दान के नाम पर शून्य चढ़ा हुआ है तो कैसे कुछ मिलेगा? कहा है किसी कवि ने—

दान न दीना भूंगड़ा, कछु लड्डू भी चाहिए।

बिसुरे क्या मना, तेरे पुण्य न पूरे रे॥

अतः व्यक्ति को चाहिए कि अवसर चूके नहीं। जहाँ भी उचित अवसर आये, शुभ भावों के साथ अवश्य यथोचित, यथाशक्य दान करे।

□ संगम का खीर के लिए हठ

संगम ने कहा—“माता! आज तू कुछ भी कह, पर मैं तो खीर खाऊँगा ही, नहीं खिलायेगी तो अन्न भी मुँह में नहीं डालूँगा।”

धन्या को अपने विगत वैभव की याद आ गई, उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली।

संगम बालक था। वह क्या जाने अमीरी-गरीबी। उसे तो चाहिए थी खीर। बालहठ था यह। वह भी रोने लगा।

संगम के रोने की आवाज सुन एक भद्र महिला वहाँ आ गई। पूछ—“क्यों रो रहे हो दोनों?”

धन्या विचार कर रही थी—‘हाय रे दुर्भाग्य! कैसी अभागिनी हूँ मैं! मेरा इकलौता लाल, मेरे नयनों का तारा, मेरे कलेजे का टुकड़ा आज खीर माँग रहा है और मैं इसे खीर बनाकर खिलाने की स्थिति में नहीं हूँ। धिक्कार है मेरे मातृत्व को! व्यर्थ है मेरा जीवन!’ वह अन्दर ही अन्दर अत्यधिक बेचैन हो गई, पीड़ा से उसका मन कसक उठा। उस भद्र महिला की बात का वह क्या उत्तर देती? वह मौन ही रही।

दूसरी और तीसरी बार पूछने पर सारी बात बता दी।

□ ऐसे बनी खीर

भद्र प्रकृति की महिला को वहाँ खड़े देख कुछ अन्य महिलाएँ भी वहाँ आ गई थीं। भद्र महिला ने धन्या की बात सुनकर कहा—“बस, इतनी सी बात! इसमें रोने की क्या बात है? दिल छोटा मत करो। संगम बच्चा है। आज घर-घर में खीर बनी है। उसका खीर माँगना गलत भी नहीं है। उसे खीर मिलनी चाहिए। हम अभी सामान देती हैं, तुम खीर बनाकर इसे अवश्य खिलाना।”

एक महिला दूध लाई, दूसरी ने उसे चावल दिये, तीसरी ने शक्कर दी। बच्चे के भाग्य अच्छे थे, अतः एक महिला ने केसर, बादाम, पिशते भी दिये।

सारी सामग्री लेकर धन्या घर आई। सामान बहुत था, काफी खीर बन सकती थी। धन्या ने सोचा—‘मैं नहीं खाऊँगी, सारी खीर संगम को खिलाऊँगी।’

बनाई उसने खीर। उसमें केसर, बादाम, पिशते भी डाले। एक थाली में खीर डालकर संगम को बुलाया और कहा—“देख! अभी ये गरम है, ठंडी होने देना, एकदम हाथ मत डालना नहीं तो हाथ जल जायेगा। तू खीर खाए इतने में मैं एक घड़ा पानी का भरकर ले आती हूँ।”

□ थाली में खीर : माता पनघट पर

माता गई पनघट पर पानी का घड़ा भरकर लाने के लिए। संगम थाली के पास बैठ गया। खीर खाने के लिए और प्रतीक्षा करने लगा कि कब यह ठंडी हो, कब मैं खाऊँ?

इतने में नजर पड़ी सामने के घर में। सेठ का घर था। कोई मुनिराज आये थे। उनके हाथ में झोली थी। सेठ हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कह रहे थे—“पधारो महाराज! अन्दर पधारकर गोचरी का लाभ दिराओ।”

□ मुनिवर को खीर बहराने की शुभ भावना

मुनिराज के मासक्षण का पारणा था। वे सेठ के घर में गये। बच्चा देख रहा था। उसने विचार किया—‘महाराज! मेरे घर पधारें तो आज खीर तैयार है, मैं उनको खीर बहराऊँ।’ पूर्वभव के सुप्त संस्कार अन्तर् में जग उठे। वह उठकर सामने गया। मुनि अभिग्रहधारी थे। अभिग्रह फलित नहीं हुआ था। पातरे अभी खाली थे।

□ विनीत निवेदन : मुनिवर का पदार्पण

संगम मुनि के निकट आया और हाथ जोड़कर बोला—“महाराज जी! मुझ गरीब बालक पर भी कृपा करो। मेरे घर पधारो।”

मुनिराज ने बालक की उच्च भावना का अनुभव किया। चल दिये बालक के साथ। सामने ही घर था बालक का। अन्दर गया बालक, पीछे-पीछे मुनिराज भी गये। थाली में खीर परोसी हुई। बालक ने सरल स्वभाव से नीचे बैठकर थाली के बीच में अँगुली से एक रेखा खींच दी कि आधी मुनिराज जी को बहराऊँगा और आधी बचेगी वह मैं खा लूँगा।

□ खीर बहराने को तत्पर : अत्यन्त शुभ चिंतन

थाली हाथ में लेता है। मन में चिन्तन चलता है—‘मेरा कैसा सौभाग्य है कि मुझे मुनि को भिक्षा देने का लाभ मिल रहा है। हम गरीबों के यहाँ कब-कब आते हैं ऐसे महामुनि! अवसर भी कैसा बढ़िया! मैंने मेरी पसंद की वस्तु आज बनवाई, हठ करके और रोकर के उसे प्राप्त किया, उसी वस्तु को ऐसे महामुनि मेरे हाथ से ग्रहण करेंगे। उसके मन में थी अत्यंत प्रसन्नता, था अत्यधिक उल्लास!

□ वीर कहे रे गोयमा!

बंधुओं! देते समय भावों की शुभ्रता, शुद्धता, उत्कृष्टता और देने के बाद मन में प्रसन्नता, हर्ष, खुशी। रंच मात्र भी पश्चात्ताप हो गया यदि तो वह देना व्यर्थ गया, निष्फल हुआ। कहा भी है—

देता भावे भावना, लेता करे सन्तोष ।
वीर कहे रे गोयमा, दोनों पावे मोक्ष ॥

□ देना चाहता था आधी, पर गिर गई सारी

हर्षभाव से बालक संगम ने थाली मुनिराज के पातरे में उलटा दी। द्रव, गाढ़ा द्रव, अतः सारी खीर फिसलकर गिर गई मुनिराज के पात्र में। मुनिराज ने पात्र झोली में रखा, झोली इकट्ठी की, हाथ में उठाई और चल दिये स्थानक की ओर।

□ मन तब भी प्रसन्न

आधी देना चाहता पर सारी चली गई, तब भी बालक के मन में तनिक भी खेद नहीं। वह तो तब भी खुश कि सारी गई तो गई पर मेरे जैसे गरीब के घर, एक गरीब बालक के हाथ से इतने बड़े महापुरुष ने कृपा करके आहारदान लिया। सोचिए बंधुओं! वह दीन बालक, गाय और बछड़े चराने वाला, मुश्किल से जिसके घर में दोनों समय की रोटी का जुगाड़ होता हो, बड़े प्रयत्नों से जिसके घर खीर का उत्तम पकवान बना हो, खीर खाने के लिए जिसका मन अत्यंत लालायित हो फिर भी जो आनन्द स्वयं उसे खीर खाने में आता उससे कहीं अधिक आनन्द की अनुभूति उसने मुनिराज को खीर देकर अनुभव की।

वह भूखा है, पर आनन्दित है। उसे खीर खाने की चाह बनी हुई है, पर वह अपनी खीर के चले जाने से किञ्चित् भी खेदित नहीं, अपितु प्रमुदित भाव से माता की प्रतीक्षा कर रहा है।

□ थाली में फिर खीर

माता आती है घड़ा लेकर और देखती है संगम को। वह बैठा है और थाली चाट रहा है। सोचा माँ ने—“भूखा था, खीर जैसा मीठा भोजन इसे रुचिकर लगा, अतः बैठा चाट रहा है।” पूछा—“और डालूँ।”

“डाल दे माँ !”—संगम बोला।

माता धन्या ने भर दी उसकी थाली फिर खीर से। बालक संगम खाने लगा खीर को पर मन में उसके चिन्तन कि ‘आज कितना अच्छा हुआ! मेरा कैसा सौभाग्य है! मेरा घर पवित्र हो गया।’

□ उत्कृष्ट चिंतन, गर्म खीर का उदरस्थ करना

चिन्तन में खोया था बालक, अतः खीर ठंडी किए बिना, गरम-गरम ही खा गया। न अँगुलियाँ जलती महसूस हुई और न मुँह को खीर की गर्मी लगी। माँ देख रही थी उसे। माता

को क्या पता कि कोई मुनिराज इस घर को पवित्र कर गये हैं अपने पावन पद-स्पर्श से और मेरा पुत्र संगम आज निहाल हो गया है उनके मासक्षमण के पारणे के अभिग्रह की पूर्ति करके। वह तो सोच रही थी कि मेरा बेटा हमेशा कितना भूखा रहता है। आज इसने भरपेट भोजन किया है। आज मेरा 'धन्या' नाम सार्थक हुआ जो मैं इसे भरपेट खिला सकी।

□ संगम ने प्राण त्यागे

रात्रि में संगम के पेट में दर्द हुआ। दर्द बढ़ने लगा। कहते हैं उसे अपनी ही माँ की नजर लग गई या फिर हो सकता है कि उसने गरमागरम खीर खाई उसका दुष्प्रभाव हुआ हो। जो कुछ हुआ, वह शायद निमित्त मात्र था। उसके असातावेदनीय कर्म उदय में आया, अतः उदरशूल से व्यथित रहा। उसी रात्रि में उसका आयुष्य कर्म भी पूर्ण हो गया, अतः रात्रि के अंतिम प्रहर में उसने प्राण त्याग दिये।

□ अन्त समय तक शुभ भाव, अतः शालिभद्र सा पुण्यशाली बना

भयंकर उदरशूल में भी संगम का ध्यान मुनि की ओर। भावना में उत्कृष्टता, उज्ज्वलता। शुभ ध्यान में प्राण त्यागे उसने।

उसी संगम का जीव राजगृही नगरी के सेठ गोभद्र की पत्नी भद्रा की कुक्षि में अवस्थित हुआ। सेठानी ने स्वप्न में शालि (धान, चावल) का लहलहाता पकी बालों वाला खेत देखा। स्वप्न का फल पूछने पर सेठ ने बताया कि "स्वप्न शुभ है। गर्भ में कोई तेजस्वी जीव है। तुम एक प्रभावी, यशस्वी पुत्र की माता बनोगी।"

गर्भ समय पूर्ण होने पर भद्रा सेठानी ने एक सुकुमार पुत्र को जन्म दिया। शालि-खेत का स्वप्न देखा था। अतः नाम रखा उसका शालिभद्र। पूर्वभव में सुपात्रदान के अमित परिणाम के कारण संगम के जीव ने यहाँ धनकुबेर श्रेष्ठी गोभद्र के घर में जन्म लिया।

पश्च संगमको नाम, सम्पदं वत्सपालकः।

चमत्कार करीं प्राप्य, मुनिदान प्रभावतः॥

अनेक वर्षों तक निःसंतान रहकर बड़ी उम्र में पुत्र-प्राप्ति के कारण माता-पिता का अतिशय लाड़-प्यार मिला शालिभद्र को।

□ पिता गोभद्र दीक्षित, समाधिमरण, देवलोक-प्राप्ति

शालिभद्र के जन्म के पश्चात् सेठ गोभद्र अधिक समय तक जीवित नहीं रहे। शालिभद्र का बत्तीस श्रेष्ठी-कन्याओं के साथ तथा शालिभद्र की छोटी बहन सुभद्रा का धन्यकुमार

नामक श्रेष्ठ-पुत्र के साथ विवाह करने के पश्चात् गोभद्र दीक्षित हो गये। कुछ वर्ष संयम पालन कर अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त कर सेठ गोभद्र सौधर्म देवलोक में देव बने।

□ शालिभद्र का सुख : उत्कृष्ट भाव से सुपात्रदान का फल

शालिभद्र के लिए सेठ गोभद्र ने एक सप्तखण्डी विशाल महल बनवा दिया था, उसी महल में शालिभद्र अपनी बत्तीस सुकुमार पत्नियों के साथ आनंदपूर्वक कामभोग में रत हो समय व्यतीत करने लगा।

शालिभद्र के पिता सेठ गोभद्र के जीव ने देवलोक में अवधिज्ञानपूर्वक अपना पिछला भव देखा। पुत्र के प्रति अपने मोह के कारण उसने निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन इतनी भोग्य सामग्री इनको भेजूँगा कि इन सभी का जीवन अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत हो, इन्हें किसी प्रकार का कोई दुःख न हो।

अपने निश्चय के अनुसार देव बने गोभद्र के जीव ने नित्य दिव्य देव-दूष्य वस्त्र, आभूषण, व्यंजन, मेवे आदि की ९९ पेटियाँ (३३ सुबह, ३३ मध्याह्न व ३३ संध्या में) प्रतिदिन शालिभद्र के महल में उतारनी प्रारंभ कर दीं। दिव्य वस्त्रों की तैंतीस पेटियाँ प्रतिदिन आर्ती, अतः शालिभद्र एवं उनकी बत्तीस पत्नियाँ नित्य नवीन वस्त्राभूषण धारण करतीं। आज जिन्हें पहना, कल वे पुराने हो जाते, बाहर डाल दिये जाते और फिर नवीन वस्त्राभूषण धारण किये जाते। ऐसी थी उनकी पुण्यवानी। यह था पूर्वभव में संगम के रूप में मुनिराज को उत्कृष्ट भावना के साथ खीर बहराने का सुफल।

□ दान व्यर्थ नहीं जाता !

बंधुओं! जो दान शुभ भावना के साथ, उत्तम पात्र को दिया जाता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका शुभ फल तो प्राप्त होता ही है। कवि ने इसीलिए तो कहा है—

दीन को दीजिए होत दयावंत, मित्र को दीजिए प्रीति बढ़ावे।
सेवक को दीजिए काम करे बहु, शायर को दीजिए आदर पावे ॥
शत्रु को दीजिए बैर रहे नहीं, याचक को दीजिए कीरति गावे।
सुसाधु को दीजिए मुक्ति मिले, यूँ हाथ को दीधो ने एलो जावे ॥

नीति भी यही कहती है—

जोड़ गया सिर फोड़ गया, गाड़ गया सो व्यर्थ गया।
खाय गया सो खोय गया, देय गया सो लेय गया ॥

जो दिया जाता है वही साथ जाता है और वही हजार, लाख गुना होकर वापस प्राप्त भी होता है। दिया था दान शालिभद्र ने, अतः वह उसका फल उस रूप में भोग रहा है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

ब्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणम् प्रोक्तं, पात्रे अनंत गुणं भवेत्॥

□ राजगृही में रत्नकम्बल व्यापारी

एक बार नेपाल देश का एक व्यापारी रत्नकम्बल लेकर राजगृह आया। बाजार में दिनभर घूमा, पर कोई खरीददार नहीं मिला। निराश होकर राजा श्रेणिक के पास गया। उस समय राजा श्रेणिक चेलना रानी के प्रासाद में थे। द्वारपाल ने सूचना दी तो राजा ने उस व्यापारी को वहीं बुलवा लिया। व्यापारी ने आकर दिखाया रत्नकम्बल। रानी चेलना ने देखा तो मुग्ध हो गई। कहा राजा से कम्बल के लिए। राजा ने मूल्य पूछा, व्यापारी ने एक रत्नकम्बल का मूल्य सवा लाख स्वर्ण-मुद्राएँ बताया और बोला—“ले लीजिए महाराज! ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ आप जैसे राजा-महाराजाओं के लिए ही होती हैं। फिर महारानी जी को भी ये बहुत पसन्द हैं। इनकी पसंद के आगे सवा लाख स्वर्ण-मुद्राएँ तो कुछ भी नहीं हैं।”

□ राज्यकोष जनता का है, अतः जनता के लिए है

राजा श्रेणिक ने विचार किया—‘ये भोग-विलास की वस्तुएँ हैं। राजकोष का धन प्रजा की अमानत है, अतः प्रजा-रक्षण और प्रजा-पालन के लिए है। मुझे कोई अधिकार नहीं इस धन को इन भोग-विलास की चीजों के लिए व्यय करने का।’—यही सोचकर उसने कहा—“रत्नकम्बल अच्छे हैं! रानी को भी पसंद हैं, पर हमारा राजकोष जनता का है, जनता के लिए है, अतः इसे कहीं अन्यत्र बेचने की फिक्र करो।”

व्यापारी अत्यंत निराश हुआ। इस पर रानी चेलना ने कहा—“महाराज! मेरे लिए एक रत्नकम्बल तो ले लीजिए!”

श्रेणिक ने कहा—“रानी जी! तुम अकेली ही नहीं हो इस महल में, और भी अनेक रानियाँ हैं। फिर इन महलों में इतनी कौन-सी सर्दी प्रवेश करती है कि ऐसे रत्नकम्बल ओढ़ने के प्रयोग में लिए जाएँ।”

बंधुओं! प्रारंभ में राजा ने जब कम्बल देखे तो देखते ही उनका हृदय प्रसन्न हो गया। हाथ लगाकर देखा उसे तो पूरे शरीर में एक सुखद सरसरी-सी फैल गई, पर जब मूल्य सुना तो सर्दी उड़ाने वाले कम्बल ही जैसे सर्दी उत्पन्न कर गये।

□ व्यापारी निराश मन

व्यापारी भी जब महलों की ओर आया था तो एक कल्पित आशा से खुश था। सोचा था—‘राजगृह नगर की ऋद्धि, व्यापार, ऐश्वर्य विख्यात है और राजा श्रेणिक का नाम तो सभी जानते हैं। उनकी उदारता, वीरता आदि से सभी परिचित हैं। वे समर्थ भी हैं, अतः अवश्य खरीद लेंगे, मेरे रत्नकम्बलों को।’ पर यहाँ भी जब उन्हें निराशा हाथ लगी तो रही-सही आशा भी समाप्त हो गई। राजा ने ही नहीं लिया तो दूसरा कौन खरीदेगा ?

निराश, हताश, उदास व्यापारी एक-एक मण के भारी बने पाँव घसीटता-सा महलों से बाहर आया। कुछ दूर चला पर जैसे चला ही नहीं जा रहा था। देखा इधर-उधर। सेठानी भद्रा की विशाल हवेली के निकट एक पंथशाला देखी तो वहीं चला गया और गाँठ उतारकर विश्राम करने लगा। बड़े जोर की प्यास लगी थी, अतः व्यापारी ने सेठानी भद्रा की दासी से पानी पिलाने को कहा।

सेठानी का आदेश था कि पंथशाला में आये हुए भद्र व्यक्तियों को पानी ही नहीं अपितु भोजन के लिए भी पूछा जाये और उनकी इच्छा हो तो उन्हें अवश्य भोजन कराया जाये।

□ सेठानी भद्रा के होते निराश नहीं जाने पाओगे

उच्च घराने की दासियाँ भी भली व सहृदय होती हैं। उस दासी ने रजत-कलशी में शीतल जल लाकर पिलाया और भोजन के लिए पूछा। इस पर व्यापारी ने कहा—“क्या भोजन करें बहन! निराशा में भूख भी मर जाती है।”

किस बात की निराशा है तुम्हें! कहाँ के हो तुम ? गाँठ की तरफ देखते हुए कहा—“राजगृह में क्या लेकर आये हो ? मुँह पर ऐसी उदासी किस कारण से है ?”—दासी ने ढेर सारे प्रश्न पूछ लिये।

व्यापारी ने निच्छ्वास छोड़ते हुए कहा—“नेपाल से आया हूँ। रत्नकम्बल का व्यापारी हूँ। सोलह रत्नकम्बल लाया था, पर एक भी नहीं बिका, अतः निराश भी हूँ और उदास भी। बहुत नाम सुना था राजगृही का, पर मेरे लिए तो ‘खोदा पहाड़ और निकली चुहिया भी नहीं’—वाली कहावत चरितार्थ हो गई।”

“बस ! इतनी-सी बात ! तुम पहले हाथ-मुँह धोओ, भोजन करो और विश्वास रखो कि राजगृही में आये हो तो निराशा लिए यहाँ से नहीं जाओगे। तुम हमारी सेठानी जी को नहीं जानते। खैर ! ये सब बातें बाद में, पहले भोजन।”—दासी ने कहा और उसकी निराशा को कम करते हुए, उसके मन में धैर्य और विश्वास जगाते हुए उसे भोजन कराया।

□ सोलह नहीं, बत्तीस रत्नकम्बल चाहिए

दासी ने सेठानी से बात कही। भद्रा सेठानी ने कहा—“उसे अन्दर बुलाओ।”

व्यापारी अन्दर आया तो पूछा—“क्या लाए हो?”

व्यापारी ने कहा—“रत्नकम्बल लाया हूँ।”

भद्रा ने पूछा—“कितने हैं?”

व्यापारी बोला—“सोलह हैं।”

भद्रा ने कहा—“तब तो बात कैसे बनेगी? मेरे तो बत्तीस बहुएँ हैं!”

व्यापारी तो सेठानी का विशाल भवन और उसका वैभव देखकर पहले ही चकित था। प्रस्तर शिलाओं की जगह आँगन के फर्शों में स्वर्ण-पट्टियाँ लगी थीं। दीवारों व छतों में अनेक मणि-रत्न जड़े थे। कमरों के द्वार चन्दन की लकड़ी से बने थे। अभी वह इस वैभव की बात पर विचार कर ही रहा था कि भद्रा सेठानी ने उसे पुनः चकित कर दिया। राजा श्रेणिक एक कम्बल नहीं खरीद सका और सेठानी को ये सोलह भी कम लग रहे हैं, बत्तीस चाहिए, क्योंकि बत्तीस बहुएँ हैं, पर कीमत? अभी कीमत कहाँ पूछी उसने! कीमत सुनेंगी तो होश उड़ जाएँगे, रत्नकम्बल खरीदने का यह बढ़ा-चढ़ा जोश सारा ठंडा पड़ जायेगा।

□ बारह वर्ष लगते हैं एक रत्नकम्बल बनाने में

व्यापारी ने सेठानी से कहा—“अभी तो ये सोलह ही हैं। एक शिल्पी को एक रत्नकम्बल बनाने में बारह वर्ष लगते हैं। मेरे पिता, मैं और मेरे परिवार ने मिलकर ये कम्बल बनाए हैं। इन सोलह कम्बलो को बनाने में मेरे पिता का सम्पूर्ण जीवन बीत गया और मेरा भी आधा-पौना जीवन चला गया। अनेक व्यक्ति इन्हें बनाते समय आँखों की रोशनी तक खो देते हैं।”

□ समस्या का हल : एक-एक रत्नकम्बल के दो-दो टुकड़े करना

सेठानी ने कहा—“वह सब तो ठीक है, पर मेरी समस्या का क्या होगा? तुम ऐसा करो, इन सभी को बीच से फाड़कर सोलह के बत्तीस टुकड़े बना दो।”

□ व्यापारी असमंजस में

व्यापारी फिर चकित! बोला—“आप अपनी बात पर पुनः विचार कर लीजिए। एक बार फाड़ने के बाद ये किसी अन्य के काम नहीं आ सकेंगे। हम व्यापारी भी चाहें तो उन्हें पुनः नहीं बेच सकेंगे। फिर एक-एक रत्नकम्बल सवा-सवा लाख स्वर्ण-मुद्रा का है। सभी की कीमत बीस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ बनती हैं।”

□ बीस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ देकर टुकड़े करवाये

इस पर भद्रा ने कहा—“वणिक्! शायद तुम्हें संदेह है कि मूल्य सुनकर इन्हें खरीदने से इन्कार कर दिया जायेगा या इतना मूल्य नहीं दिया जायेगा। ठीक है, तुम पहले मूल्य लो फिर इनके दो-दो टुकड़े करो।”

इतना कहकर सेठानी भद्रा ने एक दास को संकेत किया। वह संकेत पाकर गया और बहुत कम समय में ही कुछ दासों के साथ वापस आ गया। उन सभी के हाथों में स्वर्ण-मुद्राओं से भरी थैलियाँ थीं। उनमें से एक दास ने कहा—“स्वामिन्! ये बीस थैलियाँ हैं और प्रत्येक थैली में एक-एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ हैं।”

चौथी बार चकित हुआ व्यापारी। इतने कम समय में इतनी अधिक स्वर्ण-मुद्राएँ गिनकर कैसे ले जाए! बोला—“क्या ये पूरी बीस लाख हैं?”

भद्रा ने उसके प्रश्न पर प्रश्न किया—“क्या तुम्हें कुछ सन्देह है?”

व्यापारी ने संकोच के साथ कहा—“सन्देह तो नहीं, पर इतने कम समय में बीस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ गिनना कैसे संभव है?”

अब दास बीच में बोला—“ये तोल-तोलकर डाली गई हैं और कितने तोल में कितनी स्वर्ण मुद्राएँ होती हैं, इस गणना में कहीं कोई त्रुटि असंभव है। कुछ ज्यादा हो सकती हैं ये, पर कम तो एक स्वर्ण-मुद्रा भी हो नहीं सकती।”

□ घी नहीं तो भी घर की शोभा

व्यापारी निश्चिन्त हुआ। उसने रत्नकम्बल फाड़कर दो-दो टुकड़े किये। सेठानी भद्रा के आदेश से दासी ने प्रत्येक गृह-वधु को उसमें से एक-एक टुकड़ा ले जाकर दे दिया।

व्यापारी ने स्वर्ण-मुद्राएँ वहीं रखीं और सेठानी से बोला—“आज तो रात्रि हो गई है। मैं राजगृही में ही विश्राम करूँगा। कल यहाँ से कुछ सामान की खरीददारी कर वापस अपने देश जाने की व्यवस्था करूँगा।”

सेठानी के आदेश पर एक दासी ने भवन के बाहर बनी अतिथिशाला में उसे एक कमरा दिया, उसने खाने-पीने व सोने की सारी व्यवस्थाएँ कर दीं। नौकरों के हाथ उसकी स्वर्ण-मुद्राएँ उसी के उस कमरे में भेज दीं।

व्यापारी ने तब एक दास से कहा—“तुम्हारी सेठानी को धन्य है। जिस नगरी का राजा एक रत्नकम्बल भी न खरीद सका, उसी नगरी की सेठानी ने सारे कम्बल खरीद लिये। मैं तो

निहाल हो गया। काश! सोलह कम्बल मेरे पास और होते तो वे भी बिक जाते और इन सोलह के टुकड़े भी नहीं करने पड़ते।”

इस पर दास ने कहा—“आपकी सारी बातें सत्य हैं, पर हमारी नगरी के राजा के बारे में जो बात कही वह सत्य नहीं है। वे हमारे स्वामी हैं, नाथ हैं, मालिक हैं। उनकी सम्पदा, ऐश्वर्य, धन हमारी सेठानी से कहीं अधिक है, पर वहाँ १६ कम्बल से क्या होता है? हाँ, ५०-१०० कम्बल होते तो वहाँ बात बनती।”

बंधुओं! दास था पर नगर के राजा की बात को कितने सुन्दर ढंग से सँभाल लिया। एक मारवाड़ी कहावत है—

जाड़ी रोटी, ऊपर खोबा।
घी नहीं तो भी, घर री शोभा॥

एक सेठजी खाना खाने बैठे। सेठानी ने खोबा-रोटी बनाई। घर में घी नहीं। सेठजी की थाली में वह मोटी खोबा-रोटी। खोबा-रोटी की शोभा किससे? घी से। जगह-जगह पर नन्हें गड्ढे घी से भरने के लिए, पर घी था नहीं, अतः विवश सेठ उसे लूखी ही खाने लगे।

अभी सेठ ने एक-दो कौर ही गले के नीचे उतारे होंगे कि कोई पड़ौसी आ गया। देखा उसने, सेठ की थाली में जाड़ी खोबा-रोटी है, पर घी नहीं है उस पर। बोला—“अरे सेठजी! क्या बात है? आज क्या सेठानीजी घी डालना भूल गई?”

सेठजी बोले—“नहीं भाई, भूलेगी क्यों? पर डॉक्टर ने घी खाने को मना किया है।”

बंधुओं! बिगड़ी बात को सुधारना भी एक कला है, एक गुण है। उस दास ने बिगड़ी बात सुधार दी। व्यापारी के मन में राजा के प्रति जो हीनभाव थे, वे तिरोहित हो गये।

□ रत्नकम्बलों से पाँव पौँछे और फेंक दिये : मिले मेहतरानी को

दूसरे दिन शालिभद्र की बत्तीस पत्नियों ने स्नान किया। सासूजी द्वारा भेजे गये रत्नकम्बल के टुकड़े उन्हें खुरदरे लगे, शरीर में चुभने वाले लगे, अतः उन सभी ने उन टुकड़ों से अपने पाँव पौँछे और फेंक दिया उन्हें भवन के पिछवाड़े कचरा फेंकने की जगह पर।

मेहतरानी आई तो उन्हें उठा लिया वहाँ से। एक दासी को दिखाएँ और पूछा—“क्या ये कचरे में फेंक दिये गये हैं?”

दासी ने तब रत्नकम्बल खरीदने से लेकर बहुओं को देने व उनके द्वारा पाँव पौँछकर फेंक दिए जाने की सारी बात बता दी।

आगे उसे जाना था राजमहलों की सफाई करने, पर उन कम्बलों का भार लेकर क्यों जाती वह! अतः पहले अपने घर गई। रत्नकम्बल के टुकड़े सहेजकर रखे फिर एक टुकड़ा उठाकर अपने सिर पर डाल दिया, कमर पर लेकर आगे पटली दे दी। अब चली वह राजमहलों को साफ करने।

□ रानी चलना चकित

राजमहलों में जाकर वह सफाई करने लगी तभी रानी चलना की नजर उस पर पड़ी। मेहतरानी को वही रत्नकम्बल ओढ़ा देखकर वह चकित रह गई। उसे विश्वास नहीं हुआ कि सच है यह या कोई स्वप्न! दोनों आँखों को अपनी हथेलियों से मला फिर देखा। सच्चाई थी यह, स्वप्न नहीं। रानी ने दासी को मेहतरानी के पास भेजकर पूरी जानकारी पूछी कि यह कम्बल कहाँ से प्राप्त हुआ। मेहतरानी ने सारी बातें बता दीं।

□ सम्पूर्ण प्रसंग सुन रानी कृपित

मेहतरानी तो सारी बात बताकर महल के पिछवाड़े के आँगन को बुहारने में लीन हो गयी, पर रानी चलना चिन्तन में पड़ गई। मेरे स्वामी, मगध के अधिपति, एक करोड़ इकहत्तर लाख गाँवों के मालिक, लेकिन एक रत्नकम्बल मेरे लिए नहीं खरीद सके। बहुत गुस्सा आया उसे। दासी को भेजकर बुलाया महाराज श्रेणिक को। श्रेणिक उस समय किसी जरूरी राज्य-कार्य में उलझे हुए थे, अतः कहलवा दिया कि वे बाद में आएँगे। सुना रानी ने तो तेवर और अधिक चढ़ गये। दासी को वापस भेजा और कहलाया कि अभी और तुरन्त बुलवाया है।

□ रूठी चलना को मनाना चाहते हैं श्रेणिक

दासी ने जाकर श्रेणिक महाराज को संकेत से बुलाकर बात कही। श्रेणिक सारे कार्य छोड़कर गये राजमहलों में, भला वे अपनी चहेती, सर्वाधिक मनभाती रानी को कैसे नाराज करते! रानी ने देखा उन्हें और बोली—“आप मगध राज्य के अधिपति हैं फिर भी इतने गरीब, इतने दरिद्र! आपके इन राजमहलों में ऐसी दरिद्रता की छाप।”

श्रेणिक ने देखा, उनकी प्रियतमा गुस्से में है, अतः हँसकर बोले—“यह क्या कह रही हैं आप? हमारे राज्य जैसा वैभव, ऐश्वर्य, समृद्धि तो अन्य किसी राज्य के पास नहीं है। आपको यहाँ भला दरिद्रता कहाँ नजर आ गई। क्या कमी है आपको यहाँ?”

□ महाराज श्रेणिक भी चकित

चेलना ने बड़े तीखे स्वर में कहा—“कमी ? वह देखिए उधर।” और चेलना सफाई कर रही मेहतरानी की ओर संकेत करती है।

श्रेणिक भी देखकर चकित रह जाते हैं। मेरे राज्य की हरिजन महिला और रत्नकम्बल ओढ़े हुए। तभी चेलना ने पुनः कहा—“आप मेरे लिए एक भी रत्नकम्बल नहीं खरीद सके। सवा लाख स्वर्ण-मुद्राएँ आपको मुझसे ज्यादा प्यारी लगीं। जाने क्या हो गया है आजकल आपको ? मेरा कुछ ख्याल ही नहीं करते। पहले तो आप मेरी सारी इच्छाएँ पूर्ण कर देते थे, कोई इच्छा आज तक अपूर्ण नहीं छोड़ी आपने!”

□ यह कैसे संभव हुआ ?

राजा श्रेणिक तो अभी तक उसी हरिजन महिला को देख रहे थे। बोले रानी से—“यह इसको कहाँ से मिला ? क्या इसने खरीदा है ? ऐसा तो हो नहीं सकता ! फिर कहाँ से आया इसके पास ?”

क्रोधित चेलना ने राजा श्रेणिक को कई बातें सुनाई और फिर बताया कि कैसे राजगृह की ही सेठानी भद्रा ने वे सारे रत्नकम्बल खरीदे, दो-दो टुकड़े किये, अपनी बत्तीस पुत्र-वधुओं को दिए। पुत्र-वधुओं ने उन टुकड़ों को पैर पौँछ-पौँछकर घर के पिछवाड़े फेंक दिये। मेहतरानी उन्हीं टुकड़ों को उठाकर लाई है।

□ कौन है भद्रा ? कितना टैक्स मिलता है, उससे राज्य को ?

श्रेणिक ने पता लगाया कि कौन है यह भद्रा सेठानी ! ज्ञात हो गया भद्रा के विषय में भी और शालिभद्र के विषय में भी। बुलाया राज्य के कराधिकारी को और पूछा—“इस राज्य के कर वसूली रजिस्टर को देखकर बताओ कि शालिभद्र कितना कर देता है प्रतिवर्ष इस राज्य को ?”

कराधिकारी ने रजिस्टर देखे और बताया कि “इस नाम का कर देने वाला कोई व्यक्ति राज्य में नहीं है।”

राजा श्रेणिक ने बुलाया महामात्य अभयकुमार को। महामात्य के आने पर राजा ने उनसे कहा—“यह कैसी अंधेरगदी है हमारे राज्य में। जिसके पास इतनी सम्पत्ति है कि वह बीस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ एक साथ देकर रत्नकम्बल खरीदता है और दूसरे दिन कचरे में फेंक देता है फिर भी राज्य को कोई टैक्स नहीं देता ? यह कर-वंचना कैसे ? क्या वैभवशाली व्यक्ति उत्कोच या रिश्वत देकर कर से बचे रहते हैं ?”

अभयकुमार बोले—“महाराज! न तो इस राज्य में अंधेरगदी है, न रिश्वतखोरी। इस राज्य में टैक्स चुकाने योग्य जितने भी व्यक्ति हैं, वे सभी नियमानुसार समय पर अपना टैक्स भरते हैं।”

□ बत्तीस अखंड चूड़े जहाँ, वहाँ से कर लेने का नियम नहीं

राजा श्रेणिक बोले—“तो फिर ये शालिभद्र कौन हैं? इनका नाम कर देने वालों में क्यों नहीं आया?”

अभयकुमार ने कहा—“महाराज ! शालिभद्र इस राज्य के सर्वाधिक वैभवशाली, पर विशिष्ट पुरुष हैं। हमारे राज्य के नियमानुसार जिस घर में बत्तीस एक समान अखंड चूड़े हों, वहाँ से कोई कर नहीं लिया जाता, उन्हें विशिष्ट पुरुष का दर्जा दिया जाता है। शालिभद्र के बत्तीस पत्नियाँ हैं। उसका ऐश्वर्य, वैभव, उसकी सम्पदा देवोपम है।”

□ महाराज श्रेणिक पहुँचे सेठानी भद्रा के यहाँ

यह सुन श्रेणिक राजा के मन में कुतूहल हुआ। मेरे राज्य में ऐसे वैभव, ऐसी ऋद्धि का स्वामी। मुझे उससे अवश्य मिलना चाहिए। महामात्य से कहा श्रेणिक ने—“हमारे राज्य में ऐसा कौन है? उसे यहाँ बुलाओ। मैं उससे मिलना चाहता हूँ।”

राज्यादेश था, अतः अभयकुमार गये सेठानी भद्रा के यहाँ। मिले सेठानी से और कहा उनसे कि “महाराज श्रेणिक शालिभद्र से मिलने की इच्छा रखते हैं।”

इस पर सेठानी बोली—“महामात्य! आपसे शालिभद्र की सुकुमारता छुपी नहीं है, वह कभी महलों से बाहर जाना तो दूर, सप्तखंडी महल के सातवें खंड से नीचे भी नहीं उतरा है। आप महाराज से विनीत निवेदन करिये इस माँ के मातृत्व की तरफ से कि वे स्वयं यहाँ पधारें और इस कुटिया को पवित्र करें।”

महामात्य ने आकर महाराज श्रेणिक से भद्रा का निवेदन सुना दिया। महाराज ने भी उस आग्रह भरे निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और कहा—“महामात्य! कल हम उसके घर चलेंगे। वह इस मगध राज्य का, हमारे नगर राजगृह का और स्वयं हमारा गौरव है। कैसा होगा उसका वैभव, अकल्पनीय है?”

दूसरे दिन महाराज श्रेणिक, रानी चेलना, महामात्य अभय, अनेक राजकुमार, मंत्री, सभासद आदि राजकीय ऋद्धि, वैभव के साथ शालिभद्र के घर गये। भद्रा ने महाराज श्रेणिक का राजोचित स्वागत किया और कहा—“पधारिये राजन्! इसी कुटिया में आपका सुकुमार शालिभद्र रहता है।”

□ सेठानी का वैभव देखकर चकित

सप्तखंडी महल के तलीय—स्थल से सीढ़ियाँ चढ़कर महाराज पहली मंजिल पर आये, फिर सीढ़ियाँ चढ़ीं और दूसरी मंजिल पर पधारे, फिर सीढ़ियाँ चढ़ीं तब तीसरी मंजिल में प्रविष्ट हुए। राजा श्रेणिक उस विशाल भवन की प्रत्येक मंजिल के अद्भुत वैभव से चकित होते जा रहे थे। तीसरी मंजिल पर जब वे ठहर गये तो भद्रा ने विनीत निवेदन किया—“महाराज! इस मंजिल पर तो दास-दासी रहते हैं। आप और ऊपर चलिये।”

□ श्रेणिक पधारे हैं तो मुँहमाँगा दाम देकर गोदामों में रखवा दो

श्रेणिक चतुर्थ मंजिल पर आये। भद्रा ने राजा के श्रम का, उनकी थकान का विचार किया और उसी मंजिल पर एक दिव्य रत्नजटित स्वर्ण-निमित्त सिंहासननुमा आसन उनके लिए लगवा दिया। श्रेणिक वहाँ विराजमान हो गये। भद्रा ने शालिभद्र को लिवाने एक दासी को सावर्ती मंजिल पर भेजा। दासी ने शालिभद्र से कहा—

“स्वामी! महाराज श्रेणिक पधारे हैं, अतः नीचे चलिये।”

शालिभद्र ने ‘श्रेणिक’ शब्द सुना, शेष शब्द उसके लिए अनसुने-से रहे। सोचा उसने कि “कोई किराणे का सामान है।” वह दासी से बोला—“मेरे नीचे आने की क्या जरूरत है। हमेशा की तरह मुँहमाँगा मूल्य देकर गोदामों में रखवा दो।” दासी ने आकर यही बात माता भद्रा से कह दी।

सुन रहे थे राजा श्रेणिक। सोचने लगे—‘लो, मेरे जैसा व्यक्ति तो यह किराणे के मोल में खरीदकर गोदामों में रखवाना चाहता है। कैसी दिव्य पुण्यवानी है? बुलाने पर भी मैं किसी के यहाँ नहीं जाता पर आज अपनी इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ।’

□ पुण्यवानी से शुभ पुद्गल स्वतः आकर्षित

बंधुओं! पुण्यवानी किसी को भी सहज आकर्षित करने की सामर्थ्य रखती है। जब किसी के पुण्य का उदय होता है तो शुभ पुद्गलों का वहाँ स्वतः ही आकर्षण बढ़ जाता है। नालन्दा—पाड़ा, अर्थात् राजगृह में भगवान महावीर के चौदह चातुर्मास हुये। क्यों किये प्रभु ने वहाँ सर्वाधिक चातुर्मास? क्या उन्हें उस भूमि के प्रति विशेष राग-भाव था? नहीं! वीतरागी थे वे। राग का तो प्रश्न ही क्या? वह तो उस क्षेत्र-विशेष की पुण्यवानी थी, वहाँ के निवासियों-भव्य जीवों के संचित प्रबल पुण्य-पुँज का आकर्षण था। वे शुभ पुद्गल उन्हें बार-बार खींचते थे, आकर्षित करते थे। जहाँ क्षेत्र की पुण्यवानी, वहाँ व्यक्ति जाये तो

उसका विकास होगा। जहाँ पापोदय हो क्षेत्र का तो वहाँ व्यक्ति का विनाश होगा। पुण्यवानी जब क्षीण हुई तो हिरोशिमा और नागासाकी जैसे नगरों पर बम गिरे। वहाँ के निवासी पूर्णतः नष्ट हो गये, वे दोनों नगर जलकर राख बन गये।

□ हमारे नाथ आए हैं !

श्रेणिक ने अपने लिए 'किराणे' का सम्बोधन सुना तो किंचित् हँस दिये। उधर भद्रा को संकोच अनुभव हुआ कि मेरा लाल यह क्या कह गया ? तुरन्त बोली—“राजन्! क्षमा करना। आज तक ऊपर सातवें खंड में ही रहा है, अतः नादान है। क्या राजा, क्या प्रजा ? कुछ भी तो समझता नहीं, अतः किसी तरह का कोई अन्यथा विचार मन में मत करियेगा।” इतना कहकर स्वयं भद्रा ऊपर गई।

भद्रा ने अपने पुत्र से कहा—“पुत्र! श्रेणिक कोई किराणे की वस्तु नहीं, अपितु इस राज्य के स्वामी हैं। मालिक हैं, राजा हैं। हम सब इनकी प्रजा हैं, ये हमारे नाथ हैं।”

□ गोद नहीं, कारागार

शालिभद्र विवश, बेमन सातवीं मंजिल से नीचे उतरा। चौथी मंजिल तक आते-आते तो वह पसीना-पसीना हो गया। सेवक उसे पंखा झलने लगे। शालिभद्र ने श्रेणिक को देख उन्हें नमन किया। राजा ने उसे अपनी गोद में बिठाया। शालिभद्र को लगा जैसे वे किसी गहरे कुएँ में उतरे हों। राजा की गोद उन्हें कारागार-सी लगी। वह वहाँ से मुक्त हो जाना चाहता था। माँ भद्रा ने उसके हालात को समझ लिया। वह बोली—“राजन्! अब इसे छोड़ दीजिए। यह यहाँ अधिक समय तक बैठ नहीं पायेगा।”

□ सीढ़ियाँ चढ़ रहा था शरीर, ऊपर उठ रही थी आत्मा

राजा ने गोद से नीचे उतारा। राजा के शरीर की गर्मी से परेशान शालिभद्र तो यही चाहते थे। नीचे उतरकर, वे ऊपर चले गये। उनका शरीर तो नीचे से ऊपर, अर्थात् चतुर्थ मंजिल से सीढ़ियाँ चढ़कर सातवीं मंजिल पर गया सो गया ही, पर उनकी आत्मा भी तीव्र गति से ऊपर उठने लगी।

□ मेरा भी कोई नाथ ? मैं अधीनस्थ ?

बंधुओं ! जब से शालिभद्र ने माता भद्रा के मुख से सुना कि “हमारे नाथ आये हैं, मालिक आये हैं, स्वामी आये हैं। तभी से उनके चिन्तन का चक्र प्रारंभ हो गया—‘मैं पराधीन हूँ, मेरा भी कोई नाथ है। मुझे भी किसी के समक्ष आकर नमन करना पड़ता है। मैं भी

मनुष्य, राजा भी मनुष्य। वैभव मेरा अधिक। फिर भी मैं उसके अधीन, वे मेरे मालिक। यह क्या बात हुई? क्यों हुआ ऐसा?’

□ नहीं रहना है मुझे अधीनस्थ

“मैंने पूरा पुरुषार्थ नहीं किया। मेरी करणी में कहीं कुछ कसर रह गई तभी तो मेरा कोई नाथ है और जिसका कोई नाथ, वह उसका अधीनस्थ। मुझे अधीनस्थ नहीं रहना है, पूरा पुरुषार्थ करना है, इस बार कोई कसर नहीं रखनी है।”

□ माते! रास्ता बता ऐसा कि मेरा कोई नाथ न रहे

बंधुओं! भव्य जीव थे, हलुकर्मी थे, ऊर्ध्वगामी थे, अतः चिन्तन में शुभ भावों की धारा प्रवाहमान हुई अपने आप में खो गये, अन्तर्मुखी बन गये। यही हालत होती है जब आत्मा जागृत बन जाती है। संसार फीका, खारा, निस्सार लगने लगता है। शालिभद्र की भी यही स्थिति बनी। वे अब अपने नाथ स्वयं ही बनना चाहते थे। माता से बोले—“माते! क्या कोई ऐसा रास्ता है कि मैं स्वयं अपना नाथ बन सकूँ, मेरा कोई नाथ न हो।”

माता भद्रा बोली—“क्यों मेरे लाल! तू ऐसा क्यों पूछ रहा है? आज क्या हो गया है तुझे?”

शालिभद्र ने कहा—“माता! आप मेरी जिज्ञासा का समाधान करें। मेरे मन में एक जिज्ञासा जगी है। क्या आप जानती हैं, नाथ बनने का रास्ता क्या है?”

□ संयमी मुनिराज के कोई नाथ नहीं होता

माता ने सहज भाव से कह दिया—“बेटे! इस विश्व में पूर्ण रूप से यदि कोई सच्चे नाथ हैं तो वे हैं त्यागी, संयमी मुनिराज! जिस दिन कोई व्यक्ति अपना घर-बार, अपना परिवार, यह सांसारिक बंधन, मोह-माया, आसक्ति छोड़ देता है और पाँच महाव्रतों को धारण कर श्रमण बन जाता है, उस दिन वह व्यक्ति स्वयं अपना नाथ बन जाता है, सारा संसार उसका चरणानुगामी बन जाता है। एक मुनि-जीवन ही वह पथ है जो नाथ बनाता है। मुनि का नाथ कोई नहीं होता।”

□ शालिभद्र का संकल्प : मुझे मुनि बनना है

माता के मुँह से इन शब्दों को सुन शालिभद्र ने निर्णय कर लिया कि “मुझे मुनि बनना है, दीक्षा लेनी है, संयम-पथ पर चलना है।”

□ एक-एक पत्नी का त्याग

संकल्प में दृढ़ता हो तो कार्यसिद्धि में क्यों देरी लगे? शालिभद्र ने श्रमण बनने की दिशा में कदम बढ़ाते हुए व्रत-प्रत्याख्यान करने प्रारंभ कर दिये। बत्तीस पत्नियाँ थीं, एक-एक पत्नी को नित्य त्यागना प्रारंभ किया। राजगृहवासी सभी जन यह जान गये कि शालिभद्र दीक्षा लेंगे। बत्तीस दिन में एक-एक कर बत्तीस पत्नियों का त्याग कर वे तैंतीसवें दिन श्रमण बन जाएँगे।

□ बहन सुभद्रा और धन्यकुमार

बात के तो पंख होते हैं। शालिभद्र की बहन सुभद्रा को भी पता लगा। वह अपने भाई के मुनि बनने की बात सुन अत्यंत दुःखी हुई। उसके पति धन्यकुमार के आठ पत्नियाँ थीं। पूज्य श्री खूबचंद्र जी म. सा. ने धन्ना-शालिभद्र सञ्ज्ञाय में लिखा है—

नगरी तो राजगृही ना वासिया,
सेठ धन्ना जी जग में सार।
पूरव पुण्य थी बहु रिध पामिया,
आठ नार्यां रा भरतार॥

सांभल हो सुरता सूराने, लागे वचन ज्युं ताजणा।
कायर ने लागे नहीं कोय सांभल हो सुरता॥

□ आँसू तो निकले सुभद्रा नैन सूं

पूर्वभवों की पुण्यायी बैलेंस में शेष थी, अतः धन-धान्य की कोई कमी नहीं थी। धनसार श्रेष्ठी के पुत्र थे ये और माता का नाम था शीलवती। धन्ना जी की पत्नी, शालिभद्र की बहन सुभद्रा भाई के वैराग्य की बात सुन आँसू गिराने लगी। धन्ना जी तब स्नान कर रहे थे। उनकी आठों पत्नियाँ उन्हें स्नान करा रही थीं। कोई साबुन लगाती, कोई तेल का हाथ फेरती, कोई पानी गिराती तो कोई पीठ आदि पर हाथ फेरती। पुण्यवानी हो तो आठ-आठ मिलकर सुख देती हैं और पुण्यवानी न हो तो एक ही अँगुलियों पर नचा देती हैं। आज यह नहीं है, आज यह लाना है, अमुक वस्तु लेकर नहीं आये आदि। ऊपर से कहती हैं कि तुम्हारे साथ शादी करके मैंने तो आज तक कोई सुख नहीं देखा। इतना सुनाती हैं फिर भी किसी को वैराग्य नहीं आता। सुन लेते हैं, हँस देते हैं, “हैं-हैं” करके रह जाते हैं। सुभद्रा शीतल, सुगंधित जल धन्ना जी के शरीर पर गिरा रही थी। तभी उसकी आँख से निकले आँसू भी उस पानी के साथ धन्ना जी की पीठ पर गिरे।

एक दिन धन्ना जी बैठा पाटिए,
स्नान करे तिण बार।
आठों नार्या मिल प्रेम सूं,
कूढ़ रही हैं जल धार॥
सुभद्रा नारी चौथी तेहनी,
मन में हुई रे दिलगीर।
आंसू तो निकले तेहना नैन सूं,
संजम लेवे मुझ वीर॥
सांभल हो सुरता

□ कामण क्यों हुई उदास?

अत्यंत सुकोमल शरीर पर शीतल जल के बीच गर्म आँसू की वह बूँद धन्ना जी का ध्यान आकर्षित करने के लिए पर्याप्त थी। देखते हैं पीछे मुड़कर। सुभद्रा की आँखों में अश्रुओं की झड़ी। पूछते हैं—“क्या बात है?”

प्रेम धरी ने धन्ना जी पूछियो, कामण क्यूं हुई हो उदास।
शंका मत राखो थे मुझ आगले, कारण तो कहो नी विमास॥
सांभल हो सुरता.....

“उदासी का कारण क्या? बिना किसी संकोच के जो भी बात हो, मुझसे कहो।”

□ एक-एक नारी नित परिहरे

इस पर सुभद्रा ने कहा—“मेरे भाई शालिभद्र संसार से विरक्त बन गये हैं और दीक्षा लेने वाले हैं।”

कामण कहे यूं कंता माहरा, वीरा ने चढ्यो है वैराग।
एक-एक नारी नित परिहरे, संयम लेवा की रही लाग॥
सांभल हो सुरता.....

□ कायर दीसे है थारो वीर!

बंधुओं ! बहन के लिए भाई का महत्त्व भारतीय संस्कृति में अत्यधिक है, विश्व की सभी संस्कृतियों से अधिक है। विश्व में रक्षाबंधन जैसा भाई-बहनों का त्योहार केवल भारत की संस्कृति ही दे सकती है। यहाँ तो कहावत भी है—

रोटी तो खावे धणी रे घर री,
अर गीत गावे वीरा रा।

धन्ना जी ने सुना कि मेरे साला जी दीक्षा का निर्णय लेने के बाद एक-एक पत्नी छोड़ रहे हैं तो उनके मन में विचार आया—‘एक पल का भी तो भरोसा नहीं, मौत जाने कब आकर दबोच ले, स्वयं भगवान महावीर ने फरमाया है कि धर्मकार्य में विलम्ब मत करो फिर ये बत्तीस दिन बाद दीक्षा लेना तो उचित निर्णय नहीं है।’

तभी सुभद्रा ने आँसुओं के बीच सिसकते-सुबकते-रोते हुए कहा—“प्रियतम्! कोई उन्हें रोकता भी तो नहीं। कितना वैभव! कितनी सम्पदा! सब कुछ छोड़ देगा मेरा वीर! एक से एक सुन्दर मेरी बत्तीस भाभियाँ हैं, उन्हें भी एक-एक कर छोड़ देगा। वह दीक्षा लेगा तो मेरा तो पीहर ही उठ जायेगा। कहीं आने-जाने का रास्ता ही बंद हो जायेगा। कौन फिर मुझे बहन कहकर पुकारेगा। किसकी कलाई पर मैं राखी बाधूँगी? इन्हीं सब बातों ने मुझे अत्यंत व्यथित, पीड़ित बना रखा है।”

यह सब सुनकर अचानक ही धन्ना जी कह उठते हैं—

धन्ना कहे तू भोली बावली, कायर दीसे छे थारो वीर।
संजम लेणो जद मन में धारियो, तो फिर किम करणी ढील॥

“तुम अत्यंत भोली हो। इस दुनिया के ये नाते-रिश्ते सब झूठे हैं। यह शरीर नश्वर है। व्यक्ति आज है, कल का कोई पता नहीं। तुम्हारा भाई भी मुझे तो कायर ही लगता है। जब उसे दीक्षा ही लेनी है तो एक-एक नारी को क्या छोड़ना? शूरवीरों की तरह शुभ विचार आते ही तत्क्षण सब कुछ त्यागकर आगे बढ़ जाना चाहिए। तुम उस कायर व्यक्ति के लिए अपने कीमती आँसू व्यर्थ बरबाद कर रही हो। तुम्हें इतना व्यथित नहीं बनना चाहिए।”

□ कहना सरल है, करना कठिन है

सुभद्रा को धन्ना जी की यह बात सुहाई नहीं। जो दीक्षा लेने जा रहा है, एक-एक पत्नी नित्य छोड़ रहा है, उसे कायर कहना, उसके मन को बहुत बुरा लगा। मन में सोचा—‘कह तो ऐसे रहे हैं, जैसे स्वयं शूरवीर हों और आज ही सब कुछ छोड़ दीक्षा लेने जा रहे हों।’

वैसे भी स्त्रियों को पीहर-पक्ष वालों की कोई बुराई करे, यह अच्छा नहीं लगता। आपमें से अनेक व्यक्तियों को इसका अच्छा अनुभव होगा। नहीं हो अनुभव तो कभी पत्नी के समक्ष उसके पीहर की निन्दा करके देखिए। वह निश्चित ही आपको एक की चार बातें सुनायेगी,

आप ईंट मारेंगे तो वह पत्थर से हमला करेगी, हो सकता है उस दिन आपको फिर भूखा ही सोना पड़े। परिणाम यह होगा कि फिर कभी दुबारा आप ऐसी हिम्मत नहीं करेंगे। हमारे कहने से तो आप उपवास, एकासन भले ही न करें, पर घर वाली चाहेगी तो आपको उपवास भी करा देगी। उनके दिल-दिमाग में जब तक शांति नहीं, भोपा जी वश में नहीं, तब तक भोजन अरोगणो आपरे हाथ री बात नहीं।

□ घर-बार छोड़कर दीक्षा लें तो समझूँ सूरमा हो

सुभद्रा ने भी अपने भाई के लिए अपने पति के मुख से जब सुना कि वे कायर हैं तो वह बोल उठी—

सुभद्रा नारी कहे यूँ कंत ने, मुख सूँ बणावो फोगट बात।
इण सुख ने छांडी बाजो सूरमा, जद जाणूँ ला थारी बात॥

“पतिदेव ! मुख से कोरी-मोरी व्यर्थ की बातें बनाने में क्या लगता है। जबानी जमा-खर्च में क्या तो लेना और क्या देना? व्यक्ति कहता तो बहुत कुछ है, पर जब करने का अवसर आता है तब मालूम पड़ता है कि कितना मुश्किल, कितना दुष्कर है। आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे यह त्याग आपके लिए सहज बात हो। यह घर, यह परिवार, यह सुख-समृद्धि छोड़कर, शूरवीर बनकर दीक्षा लेना सहज नहीं है। कर सकें यदि ऐसा तो मैं समझूँ कि आपने जो बात कही उसमें कुछ तथ्य है।”

□ कामण रहीजो म्हांसू दूर

धन्ना के लिए तो इतना ही काफी था इतना सुनने के बाद भी अन्तर् जागृत न हो, आत्मा उत्थित न हो तो उस पुरुष के पुरुषत्व को धिक्कार है। स्नान करते-करते गीले वस्त्रों में ही उठकर खड़े हो गये और बोले—“सुभद्रे! तूने ठीक समय पर मुझे सचेत कर दिया। आज यह सिद्ध करने का समय आ गया है कि मेरी माता सिंहनी थी और उसका जाया, उसके स्तनों के दूध पर बचपन में पला यह धन्ना भी सिंह की तरह शूरवीर है। आज से तुम आठों पत्नियाँ मेरे लिए बहन समान हो। यह घर, यह परिवार, यह ऋद्धि-सिद्धि सब कुछ इसी क्षण से मैं त्यागता हूँ।” बस, अभी, इसी समय जाकर दीक्षा ग्रहण करना ही मेरा दृढ़ संकल्प है—

तत्क्षण धन्ना जी उठ बोलिया, कामण रही जो म्हांसू दूर।
संजम लेवालां इणहीज अवसरे, जद बाजांला जग में सूर॥

□ कांची री सांची न कीजे साहिबा

सुनी धन्ना की बात तो होश उड़ गये सुभद्रा के और साथ ही अन्य सात पत्नियों के भी। बात हँसी में कही थी, पर वह हँसी ही गले की फाँसी बन गई। सुभद्रा ने उसी समय सँभलकर हाथ जोड़ते हुए पति को पुनः मनाना चाहा—

बेकर जोड़ी ने सुन्दर वीनवे, हांसी रे वश कड़वा बोल।
कांची री सांची न कीजे साहिबा, हिवड़े विमासी बाहर खोल ॥
संजम लेणो तो साहब सोहिलो, ममता मारी ने समता धार।
बावीस परीषह सहणां दोहिला, संजम खांडे री धार ॥
पांव उबराणा पिउजी चालणो, दोरो छे पाद-विहार।
घर-घर फिरणो साहब गोचरी, नीरस मिलसी आहार ॥

□ बात हँसी की थी, पर अन्तर् में उतर गई

बंधुओं ! बात कभी घात करती है तो उसका इलाज नहीं लगता। इसीलिए तो कहावत प्रसिद्ध हुई कि “तलवारा रा घाव भरीज जावै, पिण कड़वा बोल रा घाव नीं भरीजै।” बात हँसी-हँसी में कही गई थी, पर थी कड़वी। धन्ना सरल प्रकृति के थे और थे भव्य जीव, अतः ठेठ अन्तर् में उतर गई। सुनते तो आप भी बहुत कुछ हैं। इससे भी अधिक कड़वे बोल कई बार कहे व सुने जाते हैं, पर वे अन्तर् को जागृत नहीं बनाते अपितु बैराणुबंध बढ़ा लेते हैं।

□ पाप तणां फल कैसा ?

छोड़ रहे हैं उधर एक-एक दिन में एक-एक नारी और इधर एक ही क्षण में सारे सम्बन्ध तोड़ दिए, सारी ऋद्धि छोड़ दी। कैसी थी उनकी समृद्धि ? उनके समक्ष आप लोगों में धनी से धनी व्यक्ति की समृद्धि भी ना कुछ है, पैर के नाखून जितनी भी नहीं है। आप जिसे अपनी समृद्धि मानते हैं, उसके लिए एक कवि ने लिखा है—

तारां झांकण घर मिल्यो, ईधन आक तणांह।
काणी बेर (पत्नी) और रीसणा, ए फल पाप तणांह ॥

ऐसा घर और ऐसी घरवाली फिर भी वे कहते क्या हैं ? वे कहते हैं—“अरे बाब जी ! मुझे क्या यूँ ही बेघर समझ रखा है। मेरे पीछे भी घर है, घर वाली है।” जिनके मुँह से क्षण-प्रतिक्षण लार टपकती रहती है, नाक से हर समय श्लेष्मा बहता रहता है, कब्र में पाँव हैं, उम्र ८० और

९० को पार कर गई है, पर उनसे भी घर नहीं छूटता, घरवाली नहीं छूटती। बंधुओं! चिन्तन का विषय है। जितना त्याग करोगे, उतना ही वापस सुफल मिलेगा। इस भव में दान नहीं किया, शील नहीं पाला, तप-त्याग नहीं किया, शुभ भावना नहीं भाई तो बँध रहे हैं जो अशुभ कर्म, उनका अशुभ फल भी भोगना ही पड़ेगा।

□ धन्ना जी की आठ पत्नियों का उन्हें समझाना

धन्ना जी को इस तरह सब कुछ त्यागकर संयम लेने के लिए तत्पर हो जाने पर सुभद्रा सहित धन्ना की सभी पत्नियाँ उन्हें श्रमण-जीवन की कठिनाइयों का वर्णन कर डराना चाहती हैं, विचलित करना चाहती हैं। एक कहती है कि “संयम लेना तो सरल है, पर संयम का पालन अत्यंत कठिन है।”

दूसरी कहती है—“ममत्व को छोड़कर समत्व धारण कर रहे हो, पर जब शीत, उष्ण आदि भयंकर परीषह आएँगे तो उन्हें सहन करना मुश्किल हो जायेगा। कभी प्रासुक आहार मिलेगा तो पानी नहीं, कभी श्रमण के ग्रहण करने योग्य पानी मिल जायेगा तो निर्दोष आहार नहीं मिलेगा।”

तीसरी ने पाद-विहार का ध्यान दिलाते हुए कहा कि “श्रमण बनकर नंगे पाँव पैदल-पैदल गाँव-नगरों में भ्रमण करना पड़ेगा। आप तो कभी धूप में बिना जूते-पगरखी पहने बाहर निकले ही नहीं, कैसे चल पाएँगे?”

□ “कायर उतरो नी नीचे आव” — धन्ना का कथन, शालिभद्र के लिए

इसी समय उनमें से एक ने भिक्षाचर्या की बात बताई कि “झोली में काष्ठ-पात्र लेकर घर-घर घूमना पड़ेगा। यहाँ तो आप षड्रस बत्तीस प्रकार के व्यंजन अरोगते हैं, पर वहाँ तो सरस आहार का काम ही क्या? जो मिलेगा लूखा-सूखा, वही समभाव से खाना पड़ेगा।”

उत्तर-पडुत्तर हुआ अति घणा, आया साला के भवन उछाव।

दोनों मिल साथे संजम आदरां, कायर उतरो नी नीचे आव॥

धन्ना और उनकी पत्नियों में संयम लेने व न लेने की बात पर अनेक बातें हुई, उत्तर-प्रत्युत्तर हुए, सावल-जवाब हुए। धन्ना दृढ़ संकल्पी थे, उनका वैराग्य किरमची रंग का पक्का वैराग्य था, अतः पत्नियों का आग्रह, संयम-पथ के भयावह कष्टों का वर्णन आदि उन्हें विचलित नहीं कर सका। उन्होंने एक ही बात कहकर सबका मुँह बंद कर दिया कि संयम-पालन में यहाँ भले ही दुःख हैं, पर संयम का फल है जन्म-मरण का अंत। यहाँ दुःख होगा, पर फल होगा अनंत सुख।

□ धन्ना व शालिभद्र की दीक्षा

अंत में धन्ना चल दिए घर त्यागकर, पर वे सीधे दीक्षा लेने नहीं गये। पहले वे अपनी ससुराल गये। नीचे, घर के बाहर ही खड़े रहे और जोर से पुकारा, धाकल की—“अरे ओ कायर! क्या एक-एक नारी छोड़ता है? नीचे उतर और चल मेरे साथ। तुम और मैं दोनों मिलकर एक साथ दीक्षा ग्रहण करने चलते हैं।”

सुना शालिभद्र ने। चौंककर झरोखे से झाँक नीचे की ओर निहारा तो नीचे गीली धोती पहने बहनोई खड़े हैं। अच्छा अवसर था। लाभ उठा लिया उन्होंने। आ गये नीचे। शेष पत्नियाँ उन्हें रोकती रह गईं, पर अब वे कैसे रुकते! भेड़ों के बीच पलने वाला सिंह-शावक जैसे ही सिंह की आवाज सुनता है, उसके भीतर का सिंहत्व जाग उठता है। शालिभद्र जी चल दिये धन्ना जी के साथ।

साला बड़नोई संजम आदर्यो, वीर जिनन्द जी के पास।

शालिभद्र जी सर्वार्थसिद्ध गया, धन्ना जी शिवपुर वास॥

साले जी शालिभद्र और बड़नोई धन्ना, दोनों ने पूरे महोत्सव आयोजन के साथ प्रभु वीर के पास दीक्षा ग्रहण की। मुनिद्वय ने श्रमण बनकर घोर तपाराधन किया। संयम की कठोर साधना की। प्रवचनों द्वारा धर्म-प्रचार किया।

□ मासक्षमण का पारणा माता के हाथों से

उग्र तप करते-करते दोनों का शरीर क्षीण हो गया। अति कृशकाय बन गये दोनों। एक बार प्रभु महावीर बारह वर्ष बाद जब पुनः राजगृही पधारे तब दोनों मुनियों के मासक्षमण तप था। पारणे के दिन पारणा करने हेतु प्रभु से गोचरी की आज्ञा माँगने पर प्रभु ने आज्ञा देते हुए कहा—“मुनि शालिभद्र! आज तुम्हारे मासिक तप का पारणा तुम्हारी माँ के हाथ से दी हुई भिक्षा से होगा।”

प्रभु ने कह दिया तो फिर दूसरे-तीसरे घर क्यों जाना? मुनि शालिभद्र सीधे अपने ही संसार अवस्था के घर, अर्थात् माता भद्रा के भवन गये। धन्ना मुनि भी उनके साथ थे। जब वे वहाँ पहुँचे तो माता उन्हें देखकर भी पहचान नहीं पाई—न पुत्र को, न दामाद को। वह तो तैयारी कर रही थी। प्रभु के पास जाकर मुनि बने अपने पुत्र व दामाद के दर्शन की। बत्तीस ही पुत्र-वधुओं को उसने तैयार होने के लिए कह रखा था, अतः वे भी तैयार हो रही थीं। घर में निर्दोष भिक्षा की उपलब्धि भी नहीं हो पाई मुनियों को। कृशकाय मुनिद्वय पहचाने भी नहीं जा सके। वे वहाँ से खाली भिक्षापात्र लिए बाहर निकल आये।

□ प्रभु ने तो कहा था ?

मुनि शालिभद्र विचार में पड़े थे। धन्ना मुनि से बोले—“प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, उनकी वाणी असत्य नहीं होती फिर आज माँ के हाथ से भिक्षा क्यों नहीं मिली ?”

मुनि धन्ना ने कहा—“इसे तो वे ही बता सकते हैं, चलकर उन्हीं को पूछेंगे। अवश्य कोई रहस्य होगा।”

मुनि ज्यों ही कुछ आगे बढ़े, उन्हें राह में एक वृद्धा मिली। मुनियों को देखते ही वृद्धा का मन श्रद्धा-भक्तिभाव से भर गया, आँखों में स्नेहातिरेक से अश्रु झरने लगे। उसके सिर पर मिट्टी की हँडिया थी, उस हँडिया में गोरस था। मुनिद्वय से भक्तिभावपूर्वक करबद्ध निवेदन किया—“हे महामुनियों! मेरी इस हँडिया में निर्दोष, मुनिजन-योग्य आहार है। आज तो मुझे भी सौभाग्य प्रदान कीजिए। मेरे हाथों से आहार ग्रहण कर मुझे लाभान्वित करिये।”

दाता की भावना शुद्ध, वस्तु निर्दोष, अतः मुनियों ने पात्र खोलकर रख दिये। वृद्धा ने भी अत्यंत हर्ष से उन्हें आहारदान दिया।

जहाँ ठहरे, वहाँ आये। प्रभु को आहार दिखाया। कहा प्रभु से कि “माता ने तो आहार नहीं दिया आज !”

□ गोरस बहराया तुम्हारे पूर्वभव की माता ने

प्रभु ने कहा—“मुनि शालिभद्र! वह तुम्हारे पूर्वभव की माता थी।” इतना कहकर प्रभु ने उन्हें उनके पूर्वभव का सारा वृत्तान्त सुनाया।

□ पादपोषगमन संथारा

पूर्वभव का वृत्तान्त सुन मुनि शालिभद्र ने विचार किया कि अब मेरा शरीर क्षीण हो गया है इस शरीर का कोई भरोसा नहीं, अतः समय रहते मुझे आत्म-कल्याणार्थ अन्तिम करणीय कर लेना चाहिए। शालिभद्र मुनि के साथ-साथ धन्ना मुनि ने भी तब प्रभु के सम्मुख संलेखना-संथारा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। प्रभु का आदेश पाकर मुनिद्वय वैभारगिरि पर्वत पर आये और आलोचना-प्रतिक्रमण कर पादपोषगमन संथारा धारण कर लिया।

□ माता व पत्नियों का दर्शनार्थ जाना

इधर सेठानी भद्रा, उनकी बत्तीस पुत्र-वधुएँ तथा दामाद धन्ना जी की आठ पत्नियाँ प्रभु-दर्शनार्थ गईं। प्रभु को वन्दन कर सेठानी भद्रा ने दोनों मुनियों को देखने की इच्छा प्रकट की। इस पर प्रभु महावीर ने कहा—“आज मुनिद्वय भिक्षा के लिए तुम्हारे घर गए थे। यहाँ

आने की तैयारी में मगन तुम उनको पहचान नहीं सकीं। अब वे दोनों महासत्वशाली मुनि मेरी आज्ञा लेकर अनशन द्वारा समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करने की कामना से वैभारगिरि पर्वत पर चले गये हैं।”

प्रभु से यह सब सुनकर वे सभी स्त्रियाँ पश्चात्ताप के भाव से वैभारगिरि पर्वत पर पहुँचीं। दोनों मुनि कायोत्सर्ग में लीन थे। सेठानी भद्रा ने, उनकी बत्तीस पुत्र-वधुओं ने तथा उनकी आठ दामाद-पत्नियों ने बारी-बारी से अनेक प्रकार के मोह-राग भरे, आसक्तियुक्त, स्नेहपूरित वचन कहे और एक बार नयन खोलकर निहारने के लिए कहा।

□ शालिभद्र महर्द्धिक देव बने, धन्ना जी मोक्ष गये

मुनि धन्ना जी तो निर्लेप, निरासक्त, निर्मोह बने कायोत्सर्ग में लीन रहे, अतः समाधिमरण के पश्चात् मोक्ष सिधारे। मुनि शालिभद्र ने उन शब्दों से द्रवित बन एक बार आँख खोली और पुनः उसी पादपोपगमन स्थिति में पहुँच गये। समाधिमरण के पश्चात् वे सर्वार्थसिद्ध विमान में वैमानिक देव बने। एक भव करके वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

□ धर्म में अनुत्तर पुरुषार्थ आप भी करें

अनुत्तरं दानमनुत्तरं तपो, अनुत्तरं मान मनुत्तरं यशः।

श्रीशालिभद्रस्य गुणा अनुत्तरा, अनुत्तरं धैर्यमनुत्तरं षटम्॥

“श्री शालिभद्र जी के दान, तप, मान, यश, गुण, धैर्य आदि सभी अनुत्तर अर्थात् अद्वितीय, उत्कृष्ट थे। इसी के अनुरूप उन्होंने अनुत्तर पद (सर्वार्थसिद्ध) भी प्राप्त किया।” उनकी कामना थी स्वयं नाथ बनूँ, मेरा कोई नाथ न रहे। उनकी वह मनोकामना पूर्ण हुई।

आप सभी आत्म-कल्याणार्थी हैं। इन अनुत्तर महापुरुषों के अद्वितीय आदर्शमय जीवन से आपको भी प्रेरणा ग्रहण कर अपने चरम लक्ष्य के प्रति पुरुषार्थ करना है और अपने उस पुरुषार्थ में शालिभद्र जी व धन्ना जी की तरह शूरवीर बनकर अनंत सुख को प्राप्त करना है।

आनन्द ही आनन्द !



धन धन जम्बू स्वाम

अविय हु भारिय कम्मा, नियमा उक्कस्स निरयठितिगामी ।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति ॥

आत्म-बन्धुओं!

वीतरागी जिनेन्द्र प्रभु सभी सांसारिक प्राणियों के लिए अनंत-अनंत उपकारी हैं, जिन्होंने इस संसार के सर्व दुःखों से छुटकारे का उपाय बताया। आज विश्व का प्रत्येक प्राणी दुःखी है, उसके दुःख का कारण उसके स्वयं के कर्म हैं, उसकी पाप-प्रवृत्तियाँ हैं। चाहता तो वह सुख है, पर यथार्थ सुख को पहचानता ही नहीं, अतः सुख के भ्रम में दुःखों को गले लगा लेता है।

□ तीन करण और सावद्य प्रवृत्ति

व्यक्ति पापपूर्ण सावद्य प्रवृत्ति स्वयं तो करता ही है, दूसरों से भी करवाने में हिचकिचाता नहीं और करने वालों का हँसी-खुशी के साथ अनुमोदन भी कर देता है। इस तरह उसके अशुभ कर्मबन्धन व बँधे हुए अशुभ कर्मों का दुःख रूपी परिणाम भोगने के सारे रास्ते खुले रहते हैं।

कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति स्वयं नहीं करता या कर नहीं पाता, पर करवाता है, अनुमोदन भी करता है। कभी न करता है, न करवाता है, पर अनुमोदन तो कर ही देता है। बन्धुओं! अशुभ कर्मबन्धन तो इन तीनों करण में होता ही है।

कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि मैं तो करता नहीं, दूसरों से करवाता हूँ, अतः पाप उन्हीं को लगेगा, मुझे तो मामूली दोष लगेगा, लेकिन चिन्तन की गहराई में उतरें तो ज्ञात होगा कि करने से भी अधिक करवाने में और करवाने से भी अधिक अनुमोदन में व्यक्ति दुःख का भोगी बन सकता है।

□ दूसरों से करवाना

स्वयं करने की अपेक्षा जब वह करने के लिए दूसरों को कहता है तो १०, २०, ५०, १००, ५०० या १,००० या उससे भी अधिक व्यक्तियों को आदेश देता है कि ऐसा करो, वैसा करो। षट्काय जीवों की हिंसा का प्रश्न है तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सम्बन्धी पाप अकेला एक व्यक्ति कितना करेगा, अपनी सामर्थ्य के अनुरूप पर जब करवायेगा तो अनेक व्यक्तियों से करवायेगा। व्यक्ति का एक समूह, एक विशाल झुण्ड करेगा उस आदेश का पालन तो क्रिया अधिक होगी और उसमें आपकी सहभागिता स्वयं करने से अधिक बन सकती है।

□ अनुमोदन

एक व्यक्ति न स्वयं करता है, न दूसरों को करने के लिए कहता है, पर किसी को करते देखकर प्रसन्न होता है, खुशी प्रकट करता है, कह भी देता है—“ओह! कितना अच्छा किया! आनन्द आ गया!”—इस अनुमोदन में विश्वभर में जहाँ-जहाँ इस तरह की पाप-प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उसमें उसकी विशेष भागीदारी बनेगी, अतः उसे विशेष दुःख वहन करने पड़ेंगे।

□ क्यों होती है विशेष भागीदारी?

प्रश्न उठेगा कि यह विशेष भागीदारी क्या है? क्यों बन जाती है विशेष भागीदारी?

बन्धुओं! कोई व्यक्ति किसी अमुक पाप-प्रवृत्ति से प्रत्याख्यान, संकल्प, सौगन्ध, नियम आदि ग्रहण कर अपने को निवृत्त नहीं करता तो यह उसकी नासमझी है, लापरवाही है अतः उस प्रकार की समस्त प्रवृत्तियों में उसकी साधारण भागीदारी होगी, पर एक दूसरा व्यक्ति जो जानता है कि इन प्रवृत्तियों में पाप लगता है, ये प्रवृत्तियाँ पाप की कारण हैं फिर भी वैसी प्रवृत्तियों को होते देख अन्तर् में प्रसन्न होता है, वचनों से प्रसन्नता प्रकट करता है तो जान-बूझकर, सोच-समझकर किया जाने वाला यह अनुमोदन विशेष पाप का कारण, विशेष भागीदारी का कारण बन जाता है।

□ मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि में यही अन्तर है

जान-बूझकर पाप-प्रवृत्तियाँ करने वाले, कराने वाले, करके व करवा के प्रसन्न बनने वाले, अनुमोदना करने वाले, मिथ्या मान्यता वाले जीव होते हैं। उनकी दृष्टि विपरीत होती है, वे यथार्थ ज्ञान से विमुख हो इन प्रवृत्तियों में रमण करते हैं।

जिनकी दृष्टि सम्यक् होती है, पाप-प्रवृत्तियाँ उन्हें भी करनी पड़ती हैं, पर वे जीव उन पाप प्रवृत्तियों को करते हुए उदासीन रहते हैं, निर्लिप्त रहते हैं, सोचते हैं मन में कि इनके किये बिना काम चल नहीं सकता।

पुरानी पीढ़ी की वृद्ध महिलाएँ जब आचार डालती थीं, राबोड़ी, बड़ियाँ आदि बनाती थीं तो कहती थीं—“साधु-साध्वी ने टाल, बाकी खावण वाला माते भार।” तात्पर्य यह कि उनके दिलों में पाप का भय रहता था। करना तो पड़ता है, पर यह सोचकर कि पाप तो लगेगा, लेकिन विवशता है, घर-संसार में हैं तो करना तो पड़ेगा। यह सोच ही पाप के भार को हल्का बना देती है।

□ जानते हुए प्रत्याख्यान न करना ही 'स्वविवेकाभाव'

एक व्यक्ति जानता है कि जल की एक बूँद में असंख्य जीवों की विराधना होती है फिर भी वह जल की मर्यादा नहीं करता। खोलता है टोंटी और बैठ जाता है पानी की धार के नीचे, फव्वारा चलाता है और आनंद का अनुभव करता है या फिर बावड़ी, तालाब में जाता है, डुबकियाँ लगा-लगाकर स्नान करता है। कुआँ चल रहा है तो वहाँ जाता है और कुण्ड में डुबकियाँ लगाता है। अभाव है यहाँ स्व-विवेक का।

मिथ्यात्वी-जीव अनंतकाय-वनस्पति जमीकंद, गाजर, मूली, शकरकंद, आलू, रतालू आदि का छेदन-भेदन करता है, उन पर नींबू, नमक, मिर्च लगाता है, कुछ को छीलकर उबालता है, तेल में तलता है, चबा-चबाकर, स्वाद ले-लेकर खाता है और इस तरह अनंत-अनंत जीवों के साथ वैराणुबंध कर लेता है, शत्रुता को उत्पन्न कर लेता है जो पूर्णतः, सारा का सारा पुनः भोगना पड़ता है। जानते हैं जो इस बात को, पर मानते नहीं तो वे सम्यक्त्वी नहीं, स्वविवेक-बुद्धि उनमें नहीं।

जहाँ स्व-विवेक नहीं, वहाँ सीखा हुआ समस्त ज्ञान भी अज्ञान रूप है और अज्ञान अँधेरा है। अँधेरे से तो लोग भय खाते हैं, पर अज्ञान और मिथ्यात्व से भय नहीं खाते—यही विचित्र बात है।

□ समत्तदंसी न करेइ पावं

विवेक जिनमें है वे सम्यक्त्वी पाप से भय खाते हैं। अँधेरे में भटकते नहीं, कभी अँधेरे में कुछ लेने जाना भी हो तो भय रहता है उन्हें कि कोई छोटे-बड़े जीव की विराधना नहीं हो जाये। किसी जीव को पीड़ा न हो। इच्छित वस्तु हाथ लगते ही पुनः

अन्धकार से बाहर निकल आते हैं। सम्यक्त्वी व्यक्ति अनासक्त होता है। ऐसा एक अनासक्त भोजन की थाली पर भोजन के लिए बैठा। नमक कम है, स्वाद नदारद है, पर वह नमक ऊपर से नहीं लेगा, समभाव से जैसा मिला वैसा ग्रहण कर लेगा। नमक में भी पृथ्वीकाय जीव होते हैं अतः सोचेगा कि क्यों इनकी विराधना कर पाप का भागी बनूँ? रही स्वाद की बात तो स्वाद का क्या है? भरना तो पेट ही है। समभाव में रहेंगे तो कर्मनिर्जरा होगी।

सम्यक्त्वी अन्यान्य से काम यदि करवाता है, तब भी मन में ग्लानि करते हुए कि हाय मुझे यह सब करवाना पड़ रहा है। मैं तो पाप-पंक में डूब ही रहा हूँ, इनको भी डुबा रहा हूँ। काम हो जाता है तो उसे शान्ति मिलती है कि चलो काम पूरा हुआ, निवृत्त बन गया मैं इससे, उसकी विवेक ज्योति जागृत रहने के कारण पापों के प्रति निंदा, गर्हा करता है, उससे पापों का प्रक्षालन हो जाता है, निकाचित कर्मों का बंध नहीं होता, इसी अपेक्षा से कहा गया है—‘समत्तदंसी न करेइ पावं।’ इसी का नाम है—विवेक बुद्धि, सम्यक्त्व-साधना, समभाव!

□ दृष्टि में यदि परिवर्तन हो जाए !

मिथ्यात्वी पाप-बुद्धि होता है, अविवेकी होता है, जबकि सम्यक्त्वी धर्म-बुद्धि, आध्यात्मिक-बुद्धि, विवेक-बुद्धि वाला होगा। पाप-बुद्धि व्यक्ति संसारी प्रवृत्तियों में पूर्ण आसक्त रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी-कभी तो तीव्र पापकर्म करके नरक गति में जाने योग्य कर्मबन्ध कर लेता है, पर वही जीव यदि जीवन में परिवर्तन ले आये तो अपनी विवेक-बुद्धि से हेय, ज्ञेय, उपादेय का निर्णय कर लेता है। वीतराग वाणी श्रवण का संयोग मिलते ही उस वाणी पर श्रद्धा कर उसे धारण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति उसी भव में मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

□ धन-धन जम्बू स्वाम !

जीवन का, जीव का लक्ष्य है पापों से बचना, दुःखों से छुटकारा पाना, जन्म-मरण से मुक्त होना। स्वविवेक से जीवन में जिन्होंने प्रवृत्तियों को पापस्वरूप मान, उनका त्याग किया और निवृत्तिरूपी श्रमण-साधना का पथ स्वीकार कर ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूपी रत्नत्रयी की जिन महापुरुषों ने आराधना कर मोक्ष को प्राप्त किया, उन महापुरुषों का वर्णन चल रहा है—“बड़ी साधु वन्दना” में। ऐसे ही एक महापुरुष थे—“वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार।” आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन्हें अपने भावभीने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए लिखा है—

श्री सुधर्मा स्वामी ना शिष्य, धन-धन जम्बू स्वाम।
 तजी आठ अंतेउरी, मात-पिता धन-धाम॥१२॥
 प्रभवादिक तारी, पहुंच्या शिवपुर-ठाम।
 सूत्र प्रवर्तावी, जग में राख्यूं नाम॥१३॥

□ उपलब्ध जिनवाणी का श्रेय जम्बू स्वामी को

वर्तमान में जो आगम, जो सूत्र उपलब्ध हैं, उनके प्रवर्तक आर्य जम्बू स्वामी ही हैं। कितना उपकार है हम पर उनका? आज जो जिनवचनमृतरूपी वाणी आप सुन रहे हैं और हम सुना रहे हैं, वह सब उन्हीं की कृपा का फल है। नहीं होते ये आगम तो हम साधु-साध्वी और आप श्रावक-श्राविका यथार्थ तत्त्व श्रद्धान् को नहीं जान पाते, आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान को नहीं जान पाते, सत्य-धर्म के मर्म को नहीं पहचान पाते। रोम-रोम उपकृत है हमारा उनके उपकारों से।

□ धन और धर्म

बन्धुओं! पीढ़ी-दर-पीढ़ी हर पिता अपने पुत्रों, अपनी सन्तानों के लिए धनराशि छोड़ जाता है। परदादा ने दादा के लिए, दादा ने पिता के लिए, पिता ने पुत्र के लिए सम्पत्ति का अर्जन कर उसके भविष्य को सँवारने की कोशिश की है। युग-युगों से चल रही है यह परिपाटी। मिलती है किसी को पूर्वजों की सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, स्वर्ण-रजत आभूषण तो क्या करते हैं वे? वे कहते हैं—ये सब पूर्वजों की पुण्यायी का फल है।

बन्धुओं! उनके द्वारा दी गई ये चीजें, जिनको आप सुख का साधन और वैभव का प्रतीक मानते हैं, वस्तुतः आत्मा के लिए हितकारी नहीं हैं। शरीर के लिए भी वास्तव में न सुखकारी हैं, न हितकारी, क्योंकि अन्त में तो आपको उन्हें छोड़ना पड़ेगा और कहीं बीच में ही ये दगा दे जाएँ तो स्थिति कितनी बुरी होगी? लक्ष्मी तो है ही चंचला। फिर क्यों ठहरेगी किसी एक के पास? नाम भी जिसका है—धन। ध और न—ये दो अक्षर। 'ध' अर्थात् धारण करोगे तो 'न' अर्थात् नरक के अधिकारी बनोगे।

धन से विपरीत है धर्म का काम। ध-र-म। तीन अक्षर। 'ध' अर्थात् धारण करके, 'र' अर्थात् रम जाओगे तो 'म' अर्थात् मुक्ति पाओगे, मोक्ष मिल जायेगा। मोक्ष में जाने के लिए जिस धन, सम्पत्ति, पथ, साधना की आवश्यकता है उसे आर्य जम्बू स्वामी ने हमारे लिए पूर्वजों की धन-सम्पत्ति की तरह रख छोड़ा है, जिससे हमारा भविष्य सुधरे, हम अपना आत्म-सुधार करें, आत्म-शुद्धि की साधना को स्वीकार करें।

आर्य जम्बू ने इस सम्पदा (आगमज्ञान) को आर्य सुधर्मा स्वामी से प्राप्त किया, धारण किया फिर अपनी शिष्य-परम्परा को विरासत में दे दिया।

□ जम्बू-अवतरण [भूमिका]

‘कौन थे ये जम्बू जी?’ इस जिज्ञासा का प्रथम समाधान भगवान महावीर और श्रेणिक के प्रश्नोत्तर में मिलता है। एक बार जब श्रेणिक प्रभु दर्शनार्थ गये तो वहाँ अनेक देव भी प्रभु का दर्शन-वन्दन करने आये। उन देवों में एक देव अत्यन्त कांतिमान और विशेष तेजस्वी था। श्रेणिक ने उसके अनुपम तेज को निहारा तो चकित रह गया। उसके जाने के पश्चात् प्रभु से उसने पूछा—“भगवन्! इन देवों में एक अत्यधिक तेजस्वी और सर्वाधिक ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि वाला देव था, वह कौन था?”

प्रभु ने कहा—“श्रेणिक! वह पंचम स्वर्ग का देव विद्युन्माली था।”

श्रेणिक ने फिर पूछा—“यह अभी कितने काल तक और इस देव-ऋद्धि का भोग करेगा?”

भगवान महावीर ने कहा—“केवल सात दिवस।”

श्रेणिक ने जिज्ञासावश पूछ लिया—“भगवन्! देवभव का आयुष्य पूर्ण कर यह देव किस भाग्यशाली के घर जन्म लेगा?”

□ जम्बू जी का माहात्म्य : दस वस्तुएँ विलोपित

प्रभु महावीर ने बताया—“मगधेश! यह देव अपना आयुष्य पूर्ण होने पर देवलोक से च्यवकर इसी राजगृही नगरी में ऋषभदत्त नामक श्रेष्ठि के यहाँ, उनकी पत्नी धारिणी की कुक्षि में गर्भस्थ हो जन्म लेगा। यह जम्बू के नाम से प्रसिद्ध होगा, अखण्ड ब्रह्मचारी होगा, इस भरत क्षेत्र का यह अन्तिम केवली होगा। इसके मोक्षगमन के पश्चात् इस भरत क्षेत्र से दस वस्तुओं का लोप हो जायेगा।”

महावीर प्रभु ने राजा श्रेणिक से जिन दस वस्तुओं के लुप्त होने की बात कही, उनके नाम हैं—(१) परमावधिज्ञान, (२) मनःपर्यवज्ञान, (३) पुलाकलब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणी, (६) उपशम श्रेणी, (७) जिनकल्प, (८) परिहारविशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म संपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र, (९) केवलज्ञान, और (१०) मुक्ति-गमन।

□ जम्बूकुमार का पूर्वभव [भवदेव]

“विद्युन्माली देव जम्बूकुमार के रूप में अन्तिम केवली होंगे तथा इसी राजगृही में जन्म लेंगे”— यह सुनकर श्रेणिक की जिज्ञासा और बढ़ गई। प्रभु से उन्होंने विद्युन्माली देव का पूर्वभव का वृत्तान्त जानना चाहा। तब प्रभु ने भरत क्षेत्र के ‘पुर’ नामक ग्राम में बाह्यण के घर पैदा हुए भवदेव की जीवन-कथा सुनाई।

□ दीक्षा व ज्ञान-साधना

भवदेव और भावदेव दो भ्राता थे। भवदेव बड़े थे। भवदेव का परिवार निर्धन था और भिक्षा माँगकर काम चलाता था। एक बार भवदेव को आचार्य सुस्थित के दर्शन-वन्दन का, धर्म-श्रवण का सुअवसर मिला। उसने आचार्यश्री से निवेदन किया कि वे उसे भी धर्म के पथ पर लगाएँ। आचार्य सुस्थित ने उसकी युवावस्था देखकर कह दिया—“क्या तुम इस युवावस्था में अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकोगे?” इस प्रश्न के साथ आचार्यश्री ने संयम-पथ के कष्टों, परीषहों का विवरण देते हुए उसकी मानसिक दशा को जाँचने का प्रयत्न किया।

भवदेव के उत्तर से आचार्यश्री ने जान लिया कि इसकी भावना दृढ़ है और संसार के प्रति इसकी अरुचि भी परिपक्व है। उन्होंने उसे श्रमणधर्म में दीक्षित करा दिया। ज्ञान, संयम और तपःसाधना के अनेक सोपानों को पार करते हुए मुनि भवदेव शास्त्रज्ञ बन गये, उनके भीतर आत्म-ज्योति जगमगाने लगी, उन्हें परमार्थ का ज्ञान हो गया।

□ इष्टं धर्मेण योजयेत्

मुनि भवदेव की दीक्षा के बहुत समय पश्चात् एक बार आचार्य सुस्थित पुनः ‘पुर’ ग्राम आये। मुनि भवदेव ने विचार किया—‘मैंने तो आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होकर इस जीवन, इस जन्म को सुधार लिया, पर मेरे परिवार वालों का क्या हाल है? मुझे चाहिए कि मैं उन्हें भी इस पथ पर लाने का प्रयत्न करूँ।’

गुरु सुस्थित आचार्य से भवदेव मुनि ने अपने मन की बात कही। “इष्टं धर्मेण योजयेत्” की भावना, एक अच्छी भावना थी। गुरु जानते थे कि मुनि भवदेव अपनी साधना में अडिग हैं, खरा सोना हैं, अतः उसमें खोट नहीं मिल सकेगी, वे अपनी साधना को किसी भी परिस्थिति में न तो शिथिल बनने देंगे, न भंग होने देंगे। आचार्य सुस्थित ने आज्ञा दे दी।

आज्ञा पाकर भवदेव मुनि चले उस गाँव की ओर जहाँ उनका सांसारिक परिवार रहता था। पहुँचे उस घर में। कितने ही वर्षों बाद आये थे। जब गये तब निर्धनता थी, लेकिन इस

समय घर में सम्पन्नता थी, श्री-समृद्धि थी। साधना तो भवदेव ने की, संयम भवदेव ने पाला, तपाराधन भवदेव मुनि ने किया, पर लग रहा था जैसे एक व्यक्ति की साधना-संयम-तप ने पूरे परिवार को वैभवमय बना दिया था। आत्मोद्धारि व्यक्ति भवदेव मुनि का पुण्य-प्रताप यहाँ तक प्रभावी बन गया, जैसे कि उद्यान में लगा हुआ एक गुलाब, अपनी सुगन्ध से निकटवर्ती व्यक्ति को प्रसन्न बना देता है।

□ भावदेव का विवाहोत्सव : मुनि भवदेव लौट चले

मुनि भवदेव जब पहुँचे तो भावदेव की शादी को थोड़े दिन ही हुए थे। घर-परिवार में आनन्द, हर्ष, खुशियाँ बिखर रही थीं। मुनि के वेश में भवदेव वहाँ आये तो प्रसन्नता सभी की और भी बढ़ गई। सभी ने उन्हें वन्दन-नमन किया। छोटा भाई भावदेव तो भाव विह्वल हो गया। भावदेव के शरीर पर अभी शादी के वस्त्र ही थे। अभी भी वह दूल्हा ही लग रहा था।

मुनि भवदेव अपने इष्ट-जन को, परिवार के लोगों को धर्म से जोड़ने आये थे, पर यहाँ तो राग-रंग जमा था, शादी का उत्सव था, माहौल में प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, उमंग वासना के अनेकानेक इन्द्रधनुषी रंगों का पुट था। अवसर उपयुक्त नहीं लगा उन्हें। फिर कभी आने का मानस बनाकर वे वहाँ से लौट चले।

□ दूल्हा भावदेव मुनि के पीछे-पीछे

भावदेव ने सोचा—‘भैया हम सबकी सार-सँभाल करने आये और सभी को प्रसन्न, आमोद-मग्न देख, परिवार को समृद्ध-सानंद देख लौट रहे हैं। मुझे चाहिए मैं इनको कुछ दूर पहुँचाने जाऊँ।’

भावदेव घर से बाहर निकलकर कुछ तेज कदम चल भवदेव मुनि के पीछे पहुँच गया। चलते रहे दोनों, आगे-आगे मुनि, पीछे-पीछे भावदेव। मन में सोचा—‘मुझे जब वापस जाने का कहेंगे, तब चला जाऊँगा।’

मुनि भवदेव ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। उन्हें ज्ञात था कि पीछे भावदेव है, पर उसे वापस जाने के लिए नहीं कहा। उनकी आन्तरिक भावना यह थी कि इसका जीवन सुधार हो, आत्म-कल्याण के पथ पर चले यह।

□ मेरा छोटा भाई है, दीक्षा लेने आया है

पहुँचे गुरुदेव आचार्य सुस्थित के पास। दूल्हे के वेश में एक नवयुवक को मुनि भवदेव के पीछे देखकर पूछा—“कौन है यह?”

मुनि भवदेव ने कहा—“सांसारिक सम्बन्ध में मेरा छोटा भाई है। दीक्षा लेने आया है। इसे दीक्षा दीजिए।”

आचार्य सुस्थित ने देखा भवदेव के चेहरे की ओर। कोई और होता तो सोचता, बल्कि कह ही देता कि “मैं तो पहुँचाने आया था पर महाराज! यह क्या? आप तो मुझे ही मूँड़ने लगे हैं!” भवदेव ने यह नहीं सोचा, यह नहीं कहा। वह भाई था भवदेव का। भाई भी आज के भाइयों की तरह नहीं, आदर्श भाई था वह। भाई के विश्वास को वह कैसे तोड़ देता? आचार्यश्री ने पूछा—“क्या विचार है? मुनि भवदेव जो कह रहे हैं, वही बात है न?”

□ तोड़ न सका, बड़े भैया के विश्वास को

भवदेव ने कहा—“जी हाँ, गुरुदेव ! बड़े भैया जो भी कह रहे हैं, उचित ही कह रहे हैं।”

हो जाती है दीक्षा। भवदेव मुनि सिखाते हैं भवदेव मुनि को श्रमणाचार, श्रमणचर्या! सीखते हैं भवदेव मुनि। महाव्रतों के पालन के साथ आगमादि का अध्ययन भी करते हैं।

□ मुनि भवदेव का संथारा, समाधिमरण

भवदेव मुनि तपश्चरण तो पहले भी करते ही थे, पर धीरे-धीरे उग्र तप करने लगते हैं। उनका शरीर क्षीण होने लगता है। सोचते हैं भवदेव—‘अब इस देह से साधनार्थ जितना कसबल लेना था, ले लिया। क्यों न मरण से पूर्व अन्तिम कार्य, अन्तिम साधना कर ली जाए?’ गुरु आज्ञा लेकर भवदेव मुनि संलेखना-संथारा कर समाधिपूर्वक देह त्याग सौधर्म देवलोक में इन्द्र के समानिक देव बने।

□ मुनि भावदेव शिथिल हुए

आचार्य सुस्थित ने भावदेव को दीक्षा दे दी। उधर उनकी नव-परिणीता नागिला एवं उनके स्वजन उनकी राह ताकते रहे। भवदेव मुनि के समाधिमरण प्राप्त हो जाने पर भावदेव मुनि स्वतन्त्र हो गये, अंकुश हट गया, विवशता चली गई, लज्जा-संकोच अब क्यों व किसकी? दीक्षा तो ली उन्होंने पर भाई के कहने से। भाई ही नहीं रहे तो मन शिथिल बनने लगा। नव-परिणीता की याद सताने लगी। मन में विचार आया—‘मेरे बिना सारा परिवार कितना दुःखी हुआ होगा? अब भी सभी दुःखी होंगे। जिससे मैंने शादी की और तुरन्त उसे छोड़कर भाई की बात रखने के लिए श्रमण बन गया। क्या हुआ होगा उसका? रो-रोकर, झूर-झूरकर उसने तो देह ही सुखा दी होगी! अब तो जाऊँ, उसे एक बार धैर्य बँधाऊँ, उसके हृदय को शान्ति प्रदान करूँ!’

मुनि तो ऐसे प्रेम-विकल बने कि बिना गुरु-आज्ञा लिए ही अपने ग्राम की ओर गमन कर गये। विहार-विचरण करते हुए पहुँच गये अपने गाँव। बाहर एक उद्यान में ठहर गये भावदेव मुनि। ग्राम के लोगों को ज्ञात हुआ कि मुनि पधारे हैं तो वे दर्शन-वन्दन करने आये, धर्म-श्रवण करने आये।

□ भावदेव की सहधर्मिणी नागिला, बनी बारह व्रतधारी श्राविका

नागिला पति के जाने के पश्चात् कई दिनों तक उदास रही थी फिर किन्हीं साधु-साध्वी जी का उपदेश श्रवण कर उसने श्राविका के बारह व्रत धारण किए थे और श्राविकाधर्म का पूर्ण निष्ठा व लगन से पालन करने लगी थी। आज मुनि-आगमन की बात सुन वह भी गई दर्शन-वन्दन के लिये। देखा मुनि को तो पहचान गई कि पतिदेव ही हैं, पर पतिदेव, अर्थात् मुनि भावदेव अपनी पत्नी नागिला को नहीं पहचान सके। देखा नागिला ने मुनि के चेहरे को तो लगा कि आँखों में चंचलता है, मुख पर उदासी-सी है, मन जैसे कहीं भटक रहा हो ऐसे हावभाव हैं। लगा उसे कि कोई बात है, कहीं।

□ नागिला को ला सकती हो यहाँ?

तभी सन्त ने पूछा—“क्या तुम यहीं की हो?”

नागिला ने कहा—“गुरुदेव! यहीं की हूँ।”

मुनि ने पूछा—“नागिला को जानती हो?”

नागिला बोली—“जानती हूँ, अच्छी तरह जानती हूँ, मेरी सहेली ही तो है।”

मुनि ने साहस कर कहा—“क्या उसे यहाँ ला सकती हो?”

नागिला ने पूछा—“क्यों महाराज? काम है उससे कुछ?”

मुनि बोले—“नहीं, काम तो क्या, पर हाँ यों ही एक साधारण-सा काम है।”

नागिला बोली—“कुछ संकेत करें तो उसे समझाकर लाऊँ।”

भावदेव मुनि ने कहा—“वह मेरी पत्नी है। मैंने शादी के तुरन्त बाद उसे छोड़ दिया था, भाई के पीछे गया और दीक्षा ले ली थी। मुझे देखना है कि अब वह कैसी है? उसका रूप कैसा है? उसकी सुन्दरता कैसी है?”

□ मैं ही हूँ आपकी सहधर्मिणी नागिला

इस पर नागिला ने समझ लिया कि मन विकृत है फिर भी उसने सँभलकर कहा—“मैं उसे ला तो सकती हूँ, पर आपको एक वचन देना होगा?”

मुनि भावदेव ने पूछा—“क्या वचन?”

नागिला ने कहा—“आप ऐसा कोई कदम नहीं उठाएँगे जिससे आपकी श्रमणानुरूप गरिमा को किसी प्रकार का खतरा पहुँचे या मेरी सहेली की सामाजिक, धार्मिक प्रतिष्ठा को ठेस लगे।”

मुनि भावदेव ने स्वीकार किया कि वे ऐसा कोई गलत व्यवहार नहीं करेंगे, जो किसी भी प्रकार के अपवाद का कारण बने।

इस पर नागिला ने अपने आपको प्रकट करते हुए कहा कि मैं ही आपकी संसार-पक्ष की पत्नी हूँ नागिला!

मुनि ने उसे गौर से देखा और हँस दिए। बोले—“क्यों झूठ बोलती हो? वह तो देवलोक की अप्सरा जैसी सुन्दर थी। उसका शरीर-सौष्टव कुछ ऐसा था कि लोग देखते रह जायें। उसे देखकर लगता था जैसे आसमान को चीरकर कोई दमकती-दामिनी धरती पर उतर आई हो। तुम तो उसके समक्ष कुछ नहीं हो। टूँठ की तरह सूखा तुम्हारा शरीर है और भूतनी की तरह तुम विद्रूप लग रही हो। जाओ, अपनी सहेली को यहाँ ले आओ।”

“मुनिवर ! मैं ही नागिला हूँ। मैं ही आपके साथ अग्नि के फेरे लेकर आपके पीछे-पीछे आपके घर आई थी। आप चले गये तब मैं भला रूप-लावण्य का, शरीर-सौष्टव का क्या करती? मेरा तो सर्वस्व आप ही के श्रीचरणों में निछावर करने के लिए था। आप चले गये, श्रमण बन गये, बड़े भाई के अनुगामी हो गये। मैंने रूप-शृंगार छोड़ दिया, बारह व्रत धारण कर लिये, जीवनभर आयम्बिल तप का दृढ़ संकल्प ग्रहण कर लिया।”—नागिला ने यह कहकर मुनिवर पर एक नजर डाली और चुप्पी साध ली।

□ क्यों न हम कहीं दूर चलकर नया जीवन प्रारम्भ करें?

भावदेव मुनि ने तब कहा—“मेरी अनुपस्थिति में तुमने अपनी यह दशा बना ली, इधर तुम्हारे बिना मेरी भी स्थिति कुछ ठीक नहीं है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम यहाँ से किसी अन्य स्थान पर दूर—बहुत दूर जाकर अपना नया जीवन प्रारम्भ करें।”

□ अमृत त्याग विषयान क्यों?

सुनकर नागिला एक बार तो आवेश में आ गई, पर फिर कुछ विचार कर शान्त स्वर में बोली—“अब आप मुनि हैं, पंच महाव्रतधारी हैं। आपने अभी-अभी मुझे वचन दिया था कि

‘किसी भी प्रकार का अपवाद हो, ऐसी कोई बात नहीं होगी।’ श्रमण बनने के पश्चात् तो स्त्री का चिन्तन भी लज्जा का विषय है। आपने विषयों के विष का त्याग कर ‘संयम’ का अमृत पिया है। अब पुनः विष क्यों पीना चाहते हैं?”

□ **भावदेव व नागिला कोई और थे ! हम अन्य हैं !**

“हे मुनिवर ! आपकी पत्नी नागिला तो कब की मर चुकी है। यह जो आपके सामने बैठी है, वह पूर्ण दृढधर्मी श्राविका नागिला है। मेरे पति भावदेव भी पति के रूप में अपना अन्त कर चुके हैं। वे अर्थात् आप अब भावदेव मुनि हैं।”

“मुनिवर ! यह आचरण जो आप करना चाहते हैं वह आपकी साधना को नष्ट कर देगा, आपका भविष्य बिगाड़ देगा, आपका आगामी जन्म नरक में जाने योग्य बन जायेगा। आपका नाम, आपका परिवार, आपका पूरा वंश इस आचरण से कलंकित हो जायेगा। क्यों भोगों में फिसल चारित्ररूपी चिंतामणि रत्न को कीचड़ में फेंक देना चाहते हैं? बिगाड़ जायेगा यह लोक और साथ ही परलोक भी और तब भटकना पड़ेगा भवसागर में भव-भवान्तर तक।”

□ **पतनोन्मुख मुनि सचेत बने !**

मोहान्ध बने मुनि भावदेव अपनी सांसारिक पत्नी दृढधर्मी श्राविका के ये वचन सुनकर पुनः सचेत बन गया। कुछ समय के लिए आत्मा के आध्यात्मिक गुणों पर आया हुआ आवरण अब हट गया। वे नागिला से बोले—“मैं अपने कृत्य पर स्वयं ही लज्जित हूँ। तुम धन्य हो, तुमने मुझे डूबते हुए को बचा लिया, धर्म से गिरते हुए को पुनः श्रमणधर्म में स्थिर कर दिया। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे अपने कृत्य पर अत्यन्त पश्चात्ताप है। मैं अपने गुरुवर के चरणों में जाकर प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्म-शुद्धि करूँगा।”

नागिला ने भी कहा—“आप धन्य हैं जो समय पर सँभल गये। मैं आपके संयमी रूप को वन्दन करती हूँ।”

□ **प्रायश्चित्त-विशुद्धि**

चले गये मुनि भावदेव आचार्य सुस्थित के पास। अपनी पाप-कथा का वृत्तान्त सुना, प्रायश्चित्त माँगा। प्रायश्चित्त ग्रहण कर संयम साधना में पुनः लीन बन गये। उग्र तप किया उन्होंने और जीवन के अन्तिम काल में समाधिमरण प्राप्त कर सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव बने।

नागिला ने भी दृढ़तापूर्वक श्राविकाधर्म एवं शीलव्रत का पालन कर कर्मों की प्रबल निर्जरा की। मरणधर्म प्राप्त कर वह भी देवलोक में उत्पन्न हुई।

□ देवभव के बाद बन गए शिवकुमार

भावदेव ने काय स्थिति—भव स्थिति—पर्यन्त देवलोक के सुखों को भोगा। वहाँ से च्यवकर उसका जीव महाविदेह क्षेत्र की वीतशोका नगरी में राजा पद्मरथ के पुत्र शिवकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। शिव का अर्थ है कल्याण। गर्भ में आये तो राज्य में अनेक कल्याणकारी कार्य स्वतः पूर्ण हुए। जो अधूरे पड़े थे वे भी पूर्ण हो गये। पुण्य पुण्य को खींचता है। गर्भ में पुण्यवान जीव आया तो चारों तरफ पुण्य के पुद्गलों ने अपना कार्य किया। पूर्वभव में संयम लिया था, अतः इस भव में भी विद्याध्ययन कर सभी कलाओं में जब दक्ष बने तो संयम ने संयम को आकर्षित किया। मुनिराज पधारे वहाँ, उनका उपदेश सुन शिवकुमार को संसार से विरक्ति हो गई। माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा माँगी। आज्ञा नहीं मिली। पिता ने विभिन्न तरीकों से समझाकर दीक्षा से विमुख बनाना और संसार की तरफ झुकाना चाहा पर शिवकुमार ने उन्हें ऐसे प्रत्युत्तर दिए कि वे निरुत्तर हो गये, पर माता ने पुत्र के माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य की याद दिलाकर दीक्षा की आज्ञा से स्पष्ट इनकार ही नहीं किया अपितु पूर्णतः मना ही कर दिया कि तुम दीक्षा नहीं लोगे, यही हमारी आज्ञा है।

राजकुमार ने जब देखा कि आज्ञा नहीं मिल रही है, दीक्षा की संभावना नहीं दिखाई दे रही है तो उन्होंने अन्न-जल का त्याग कर दिया और साथ ही मौन धारण कर लिया। वे एक सुनसान कमरे में अकेले बैठ गये।

इस पर राजा पद्मरथ ने उस समय के सुज्ञानी श्रावक दृढ़वर्मा को बुलाया और राजकुमार को समझाने के लिए कहा। दृढ़वर्मा एकान्त कमरे में मौन बैठे शिवकुमार के पास गये। उनके युक्तियुक्त तर्कों व उचित समझाइश से राजकुमार ने अपना अन्न-जल त्याग व मौन का हठ तो छोड़ दिया, पर सभी के समक्ष संकल्प लिया कि जब तक माता-पिता दीक्षानुमति नहीं देते तब तक मैं घर में रहकर ही जीवन-पर्यन्त बेले-बेले पारणा करूँगा और पारणे में आयम्बिल तप करूँगा।

बारह वर्ष तक अपने इस संकल्प का निर्वहन करते हुए शिवकुमार ने एक महाश्रमण की तरह अपना जीवन व्यतीत किया, उग्र तपश्चरण किया और आयु पूर्ण होने पर ब्रह्मदेवलोक में महर्द्धिक और महातेजस्वी विद्युन्माली देव बने।

[कहीं-कहीं दृढ़वर्मा श्रावक की जगह जिनदास नामक श्रावक को भेजने का उल्लेख है। जिनदास ने कहा—“जं सेयं तं समायरे।”—जो श्रेयस्कर हो उसका समाचरण करें। माता-पिता को नाराज न करके गृहस्थ में रहकर भी आत्म-कल्याण किया जा सकता है। गृहस्थ होकर भी विरक्त रहा जा सकता है। शिवकुमार ने यही किया। वे गृहस्थी में भी विरक्त रहे। अन्तिम समय में संथारा—समाधिपूर्वक पण्डितमरण पाकर विद्युन्माली देव बने।]

□ भावदेव का जीव ही जम्बूकुमार ! (जन्म, शिक्षा, विवाह)

बन्धुओं! यही विद्युन्माली देव स्वर्ग से आयु पूर्ण कर राजगृही नगरी के इक्य सेठ ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। माता धारिणी ने उसके गर्भावस्था में आने पर जम्बू का फला-फूला हुआ घेर-घुमेर एक विशाल वृक्ष देखा। स्वप्न-फल पूछने पर नैमित्तिकों ने बताया कि एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।

गर्भ का समय पूर्ण होने पर धारिणी ने एक सुन्दर, स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। स्वप्न में जम्बू का वृक्ष देखने के कारण उसका नाम रखा—जम्बूकुमार!

बालक गर्भ से ही शुभ संस्कार साथ लेकर आया था। विद्याध्ययन का समय आने पर उसे कलाचार्य के पास भेजा गया। वहाँ विद्याध्ययन कर वह सभी शास्त्रों-विद्याओं में निपुण बन गया।

विद्याध्ययन पूर्ण होने पर विवाह योग्य कन्याओं के रिश्ते आने लगे। आठ कन्याओं के माता-पिता ऐसे थे, जो सभी सेठ ऋषभदत्त के परिचित थे। किसको हँ कहें और किसको ना कहें? सभी मित्र थे। उस समय बहुविवाह का प्रचलन था। यद्यपि ऋषभदत्त जम्बू का विवाह एक ही कन्या से करना चाहते थे, पर उन सभी का आग्रह ऐसा कि उन्हें झुकना पड़ा। उन्होंने सभी को स्वीकृति दे दी।

□ प्रभु महावीर के पंचम गणधर व प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा का आगमन

शुभ संयोग से उन्हीं दिनों आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य-परिवार के साथ राजगृही नगरी पधारे और नगरी के बाहर एक उद्यान में विराजमान हुए। कौन थे आर्य सुधर्मा स्वामी? जानते हैं आपमें से अनेक। वे भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में से पाँचवें गणधर थे और प्रभु के शासनकाल के प्रथम पट्टधर हुए। वाणी रूप में श्रुतशास्त्र उन्हीं की देन है, अतः ऐसा उल्लेख है कि आर्य सुधर्मा कहा करते थे—“जैसा प्रभु ने मुझे दिया वही मैं आपको दे रहा हूँ।” उनके उपदेशों को सुनकर आगमों का अध्ययन-मनन कर अनेक आत्माएँ जागृत बनीं। जम्बूकुमार भी उन्हीं में एक थे, शायद सबसे पहले।

□ जम्बूकुमार को वैराग्य

सुना उनका उपदेश। संस्कार तो साथ थे, वैराग्य उत्पन्न हो गया। आए घर। कहा माता-पिता से कि—“मैं तो दीक्षा लूँगा। आर्य सुधर्मा के पास दीक्षित बनूँगा। संसार का त्याग कर संयम के पथ पर चलूँगा।”

□ अनुमति नहीं, आदेश मिला—“पहले शादी, फिर दीक्षा”

माता ऐसे कैसे उन्हें दीक्षा की आज्ञा दे देतीं। पिता तो विवाह के लिए आठ-आठ कन्याओं के पिताओं को स्वीकृति दे चुके थे। माता उमंग में थी कि मेरे आठ पुत्र-वधुएँ आएँगी। माता ने स्पष्ट मना कर दिया कि “नहीं! पहले शादी, फिर दीक्षा। इकलौता पुत्र है तू हमारा। कितना चाहते हैं हम तुम्हें? दीक्षा ले लोगे तो हमारा क्या हाल होगा? तुम्हारे पिता तो फिर शायद ही जी सकें।”

□ काल का क्या भरोसा?

माता की बात सुनकर जम्बू जी कहते हैं—“हे मातेश्वरी! आप मुझे दीक्षा के लिए मना मत करिये, क्योंकि काल का कोई भरोसा नहीं, मृत्यु कभी भी आकर कंठ पकड़ सकती है। आप यदि बता दें मौत आने का समय, विश्वास हो यदि आपको कि अभी मौत आने वाली नहीं है तो बात अलग है या फिर ऐसी शक्ति हो कि आप मुझे आने वाली मौत से बचा सकें तो मैं दीक्षा बाद में ले लूँगा।”

इस पर पिता ऋषभदत्त बोले—“पुत्र! तुम्हारा प्रव्रज्या लेने का निश्चय हमारे लिए अत्यन्त पीड़ाकारी है। हमें यह आशा नहीं थी कि तुम बड़े होकर इस तरह हमें दुःखी बनाओगे। तुम्हारा वियोग हमारे लिए तो मरण-तुल्य ही होगा।”

□ मोह ही रुलाता है

जम्बू जी ने पिता को प्रत्युत्तर देते हुए कहा—“पितृवर! वियोगजन्य कष्ट या पीड़ा और संयोगजन्य हर्ष व आनन्द मोहरूप है। रुलाता है तो मोह, हँसाता है तो मोह। वस्तुतः दुनिया में किसी प्राणी या पदार्थ से संयोग और वियोग पूर्वजनित कर्मबंध के कारण ही होता है। यह जान लेने पर दुःख या सुख की अनुभूति कम हो जाती है। संसारजन्य मोह-माया के कारण होने वाले दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए ही तो मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ।”

□ पितृ-प्रतिष्ठा के लिए एक बार शादी तो कर लो!

यह सुनकर माता बोली—“तुम्हारा कथन तो ठीक है, पर इस आयु में दीक्षा का विचार छोड़ दो। अपनी पिता की प्रतिष्ठा का ख्याल करो। इन्होंने आठ-आठ कन्याओं के पिताओं

को वचन दे रखा है। क्या कहेंगे ये उनको? क्या तुम चाहते हो कि ये समाज में मुँह दिखाने लायक भी न रहें? क्या ऐसा अपमान सहने के लिए ही हमने तुम्हें अपनी सन्तान के रूप में प्राप्त किया है? क्या कर्तव्य है हमारे प्रति तुम्हारा? यदि तुम अधिक दिनों तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते तो कम-से-कम उन आठ कन्याओं को सुहागवती तो बनाकर जाओ।”

तभी जम्बू जी के पिता भी बोल पड़े—“हाँ, हाँ! एक बार विवाह तो कर लो फिर हम नहीं रोकेँगे।”

तब जम्बू जी ने विचारकर कहा—“जैसी आप दोनों की आज्ञा, लेकिन विवाह के पश्चात् आप दोनों मेरी दीक्षा में बाधक नहीं बनेँगे और सहर्ष दीक्षानुमति प्रदान कर देंगे।”

□ शादी करेगा तो नारी के मोहपाश में बँध जायेगा

सुनकर माता तो प्रसन्न हो गई, पिता भी प्रसन्न थे। सबका अपना अलग-अलग चिन्तन था। माता सोच रही थी—‘एक बार विवाह तो करे फिर आज्ञा देने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। एक नारी ही अपने मोह-पाश में, रागोद्वेग में कामकेलि में मानव को जकड़ लेती है कुछ इस तरह कि वह उस बन्धन से निकल नहीं पाता तो यहाँ तो आठ-आठ रानियाँ हैं। ऐसा कामण करेंगी कि बच्चू सारा वैराग्यभाव भूल जायेगा।’

□ प्रबल है यह मोह का जाल

बन्धुओं ! बात भी यही है। मोह और आसक्ति का बन्धन होता ही ऐसा है। इसे तोड़ना सरल कार्य नहीं। बहुत कम विरले पुरुष होते हैं जो इसे तोड़ सकें, छोड़ सकें।

व्यक्ति जब बाल-अवस्था में होता है तो वह माता-पिता के अधीन होता है, वे उसको अतिप्रिय लगते हैं, उनके प्रति इतना लगाव कि बस वे ही उसके सर्वस्व होते हैं। युवावस्था आती है, शादी होती है, पराए घर की पराई कन्या नये सम्बन्ध बनाने को प्रवेश करती है जब, तो युवक का स्नेह, राग, आसक्ति माता-पिता के प्रति कम और पत्नी के प्रति अधिक हो जाती है। एक से दो बनते हैं तो तीसरा आता है, उत्पन्न होता है। पुत्र हो या पुत्री, जब भी सन्तान होती है, माता-पिता बन जाते हैं पति-पत्नी, तो उनका प्रेम एक-दूसरे के प्रति अपेक्षाकृत कम हो जाता है और सन्तान के प्रति आसक्ति, लगाव अधिक हो जाती है। सन्तान बड़ी होने लगती है, उनकी शादियाँ होती हैं। पोते-पोती, दोहिते-दोहितियाँ हो जाते हैं, उस समय मूल से ब्याज ज्यादा प्यारा लगने लगता है। यही संसार-चक्र है।

□ वधु-पक्ष को दीक्षा की जानकारी मिली

जम्बू जी के माता-पिता ने भी यही सोचा पर पिता ऋषभदत्त का चिन्तन इससे कुछ आगे भी बढ़ा। सोचा उन्होंने कि यदि विवाह के बाद भी इसने दीक्षा लेने का विचार नहीं त्याग तो? उन्हें लगा कि लड़कियों के पिताओं को इसकी जानकारी करा देनी चाहिए।

पहुँचे ऋषभदत्त सम्बन्धियों के घर। सभी को स्थिति का ज्ञान कराया। सुनी दीक्षा की बात तो वे सभी विचार में पड़ गये। जब उन्हें दीक्षा ही लेनी है तो विवाह रचाने का क्या औचित्य है? अतः वे ऋषभदत्त से स्पष्ट मना कर देना चाहते थे, पर उनकी हिम्मत नहीं पड़ी मुँह पर इस तरह इनकार करने की और न जान-बूझकर कन्याओं को इस तरह कुएँ में भी नहीं धकेला जा सकता था।

सोच-विचारकर वे बोले—“ऐसी स्थिति में विवाह उचित नहीं लगता फिर भी अपनी-अपनी कन्या से परामर्श करेंगे। जैसा भी उनका विचार होगा, उसी के अनुसार शीघ्र आपको सूचना करा दी जायेगी।”

□ आठों वधुओं का एक नया संकल्प !

कन्याओं के पास समाचार पहुँचा। युवा कन्याएँ असमंजस में पड़ गईं कि वे ऐसी स्थिति में क्या करें और क्या न करें? शादी करती हैं तो भी परिणाम पतिविहीन बन एकाकी दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करना और न करें तो सर्वत्र बात फैल चुकी है, हमारा कन्यादान न सही पर वाग्दान तो हो ही चुका है। न घर की रहीं, न घाट की।

एक समझदार कन्या ने कहा—“बहनों ! है तो हमारे साथ यह अन्याय ही। उनको चाहिए था कि वे हमारे वाग्दान से पूर्व बाल-ब्रह्मचारी अवस्था में दीक्षा ले लेते। विवाह करेंगे और दूसरे ही दिन हमें त्यागकर दीक्षा लेंगे—यह बात गले नहीं उतरती। कुछ रहस्य है इसमें।”

दूसरी कन्या बोली—“रहस्य भला और क्या हो सकता है? लगता है उनका दीक्षा का विचार परिपक्व नहीं है।”

तीसरी कन्या ने कहा—“और यदि वे दृढ़ रहे तो?”

एक अन्य कन्या बोली—“दृढ़ हों या न हों, पर हम उन्हें आकर्षित करने के लिए पर्याप्त हैं। जब एक ही नारी पुरुष को अपने आसक्ति-चक्र में फँसाकर भटका सकती है तो हम तो आठ-आठ हैं। क्या हम सभी मिलकर अपने सौन्दर्य से, अपने वाग्जाल से, अपने हावभाव से उन्हें अपने प्रेम-पाश में नहीं बाँध सकतीं?”

एक और कन्या कहने लगी—“अब जो भी होगा सो देखा जायेगा। हमने तो हृदय से उनका वरण कर लिया है। स्त्रीधर्म का तो यही विधान है कि हमें उन्हीं के साथ रहना है।”

पाँच कन्याएँ अपने विचार व्यक्त कर चुकीं तो शेष तीन कन्याओं ने अपना मंतव्य प्रकट करते हुए बता दिया कि “वे तो उनसे विवाह करने का ही विचार रखती हैं। विवाह के पश्चात् वे हमारी ओर यदि आकृष्ट नहीं हो पाये तो हम राजीमती की तरह ही अपने भरतार के पीछे-पीछे चली चलेगी और दीक्षा लेकर श्रमणीधर्म का पालन करेगी।”

□ जम्बूकुमार विवाहित बने

निर्णय विवाह के पक्ष में हुआ। सन्देश भिजवा दिया गया। शादी की शानदार तैयारियाँ होने लगीं। जम्बू जी के माता-पिता तो प्रसन्नता से फूले नहीं समा रहे थे। एक शुभ मूर्हत्त में बड़े उल्लास और ठाट-बाट से यह विवाह सम्पन्न हो गया। आठ कुलीन ललनाएँ सेठ ऋषभदत्त की पुत्र-वधुएँ बनकर उनके घर आ गईं।

बन्धुओं ! ऊपर से राग-रंग, ठाट-बाट, प्रसन्नता की तरंगों पर अन्दर में हलचल थी, उद्विग्नता थी, असमंजस की स्थिति अभी बनी हुई थी कि देखें, काली अँधियारी रात बीतते-बीतते क्या उपहार देती है? सभी के मन, सभी के विचार अनिश्चितता के झूले में झूल रहे थे। रह-रहकर आशंका उठ खड़ी होती और प्रत्येक व्यक्ति को चिन्ता के गर्त में डुबाकर चल देती।

□ एक तरफ भोगों की उत्ताल तरंग-दूसरी ओर जोग की उमंग

पुत्र-वधुओं के साथ दत्त-दायजा भी आया था। कुल दहेज निन्यानवें करोड़ सोनैया था, जो घर के भीतर आँगन में रखवा तो दिया था पर था अभी खुले में। सुरक्षित रखवाना था उसे।

विवाह-प्रथा के अनुसार विवाह की प्रथम रात्रि, वर और वधू के प्रथम मिलन की रात्रि! भोगियों के लिए यह रात्रि भोग के लिए होती है। कोई इसे सुहाग-रात्रि कहता है, कोई मधुर-मिलन की रात्रि। अँग्रेजी में इसे ‘गोल्डन नाइट’ (Golden-night) कहा करते हैं। बन्धुओं ! ये सारे शब्द काम-वासना के द्योतक हैं, विकारों के परिचायक हैं। सेठ ऋषभदत्त के विशाल भवन के एक बहुत ही सुन्दर सजे-सजाए कक्ष में नव-परिणीता आठ कमनीय, कोमलांगी कुमारियाँ अपने-अपने मन में उन्हीं विकारों के, प्रेमालाप के, शरीर-सुख के सपनों को सँजोए हुए हैं। आते हैं तभी उस रंग महत्त्व में देवोपम शरीर-सौष्टव के स्वामी युवा जम्बूकुमार। शरीर पर उनके भी वेश दूल्हे का पर मन की भावनाओं में भोग की जगह

जोग समाया हुआ। विरागी के लिए भी यह मिलन की रात पर शरीर से शरीर का मिलन नहीं, बल्कि आत्मा से परमात्मा के मिलन की मधुर रात। जम्बू जी तो थे ही विरागी, विरागी क्या परम योगी, भाव योगी!

□ अनोखा खेल ! कौन हारे—कौन जीते?

आठ नव-परिणीताओं का विश्वास कि हम जम्बू जी को आकर्षित कर लेंगी, संसार में रहने के लिए, घर-परिवार में जीवन बिताने के लिए मना लेंगी। यह तो खेल है और हमें इसमें विजय प्राप्त करनी है। हम अवश्य इन्हें अपने पाले में ले लेंगी।

उधर उस मनयोगी को अपने आत्मबल पर अटूट भरोसा कि वह दृढ़ रहेगा। कोई शक्ति, कोई लालच, कोई आकर्षण उसे अपने पथ से नहीं हटा सकता।

खेल का मैदान जैसा बन गया वह मिलन-कक्ष। एक ओर आठ खिलाड़ियों की टीम और दूसरी ओर अकेला एक खिलाड़ी।

संसार के प्रत्येक व्यक्ति का यही हाल है, एक तरफ आठ कर्म खिलाड़ी और दूसरी ओर अकेला जीव। संसार है खेल का मैदान। अन्य-अन्य खेलों में जीतने वाला मैदान में डटा रहता है, हारने वाला मैदान छोड़ता है, पर इस खेल में जीव यदि कर्म-खिलाड़ियों पर विजय प्राप्त कर ले तो उसे संसार को सदा-सदा के लिए छोड़ना पड़ता है।

जम्बू जी को भी लड़ना था आठ कर्मों से, पर वह बाद की बात थी। अभी तो आठ सुन्दरियों के काम-वासना-भाव को पराजित करना था। बन्धुओं! इस अवसरिणी में जम्बू जी ही वे अन्तिम व्यक्ति हैं, जिन्होंने पहली रात में आठ सुन्दरियों के भोग-निमन्त्रण पर विजय प्राप्त की।

विवाह की रात्रि में आठ सुन्दरियों को जीतने वाले इस अजेय पुरुष ने जब साधना के क्षेत्र में चरण रखे तो वहाँ भी आठ कर्मों को पराजित कर अपनी विजय को बरकरार रखा। इस अवसरिणी काल में अष्ट कर्मों पर विजय करने वाले भी वही अन्तिम व्यक्ति हुए।

□ खेल कौन शुरू करे ?

मौन थे जम्बूकुमार और वे आठ रमणियाँ भी सलज्ज थीं, अतः मौन थीं। कुछ देर सभी अपने-अपने स्थान पर, जिस स्थिति में थे, उसी स्थिति में रहे। जम्बू जी ने सोचा—‘नारी का आभूषण होती है ‘लज्जा’, अतः इस मौन को मुझे ही तोड़ना चाहिए। दोनों तरफ चुप्पी ही रही तो मैं इन्हें संयम के महत्त्व और आत्म-सुख की बात कैसे कह पाऊँगा?’

□ जम्बू जी ने पाला बदला, बोले—“सूर्योदय होते ही दीक्षा लूँ !”

अपनी आठ पत्नियों की तरफ देखकर वे बोले—“अभी तो बहुत रात है। मुझे तो सूर्योदय की प्रतीक्षा है। सोचता हूँ कितनी जल्दी यह रात बीते और मैं दीक्षित बनूँ।”

□ समुद्रश्री ने याद दिलाई—पत्नी के प्रति पति के कर्त्तव्य की !

उनकी यह बात सुनकर एकबारगी तो आठों ही सुकुमारियाँ सन्न रह गईं। मौन तोड़ा तो सीधे ही दीक्षा की बात कह दी। कुछ देर पश्चात् एक सुन्दरी ने सँभलते हुए कहा—“नाथ! यदि आपका यही अटल निश्चय है तो आपने हमारे साथ यह विवाह का खेल क्यों रचाया? अब विवाह किया है तो हमारे प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाइये। यह मानव देह, यह ऋद्धि-सिद्धि, ये भोग-साधन मिले हैं तो पहले इनका भोग-उपभोग करिये। हर पत्नी का सुख उसके पति की छाया में होता है। आपकी प्रेमभरी दृष्टि के लिए ही इस मधुर-मिलन की रात्रि का सृजन हुआ है, अतः दीक्षा का विचार अभी त्याग दीजिए। जीवन-सर्वस्व! आपकी इस चरण-दासी समुद्रश्री की बात मानकर प्राप्त जीवन का आनन्द लीजिए।”

□ कर्त्तव्य-पालन के लिए सजग जम्बू जी ने कहा—“संयम में आनन्द है।”

जम्बू जी ने समुद्रश्री की बातों को सुना और उसे समझाने के लिए कहना प्रारम्भ किया—“समुद्रश्री! तुम भूल कर रही हो। जीवन का सच्चा आनन्द भोगों में नहीं, संयम में है। संयम-साधना द्वारा ही शाश्वत मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है। आत्मा का सुख ही यथार्थ और अक्षय सुख है। अतः सभी को चाहिए कि सभी मुक्ति-प्राप्ति के लिए, अक्षय-सुख के लिए आत्म-साधना के पथ पर बढ़ें।”

□ यौवन का सदुपयोग भोगों में नहीं, आत्म-साधना में है !

इस पर पद्मश्री नामक युवती ने जम्बू जी से कहा—“देव ! यह युवावस्था किसलिए है?”

जम्बू जी बोले—“पूरा मानव-जीवन ही इसलिए मिला है कि उसका सदुपयोग हो।”

पद्मश्री ने कहा—“आप सही कहते हैं। यौवन का सदुपयोग गृहस्थधर्म पालन में है। मुझे आशा है आप इस यौवन का सदुपयोग कर गृहस्थ रह अपना कर्त्तव्य निभाएँगे।”

जम्बू जी ने कहा—“तुम भी भूल रही हो पद्मश्री। यौवन का सदुपयोग गृहस्थी में नहीं अपितु आत्म-साधना में है, भोगों के त्याग में है।”

पद्मश्री बोली—“नाथ! यह तो आपका दुराग्रह ही लगता है। क्या आप चाहते हैं कि मनुष्यत्व को प्राप्त कर देवत्व-प्राप्ति के प्रयास में जीवा नामक बन्दर को पुनः वानर रूप धारण कर जिस प्रकार पश्चात्ताप करना पड़ा, वैसा ही पश्चात्ताप आपको करना नहीं पड़े।”

[कथा—वानर के पश्चात्ताप की]

इस पर जम्बू मुस्करा दिये। पद्मश्री से पूछा उन्होंने कि वानर को क्या पश्चात्ताप करना पड़ा।

बन्धुओं ! मारवाड़ी में एक कहावत प्रसिद्ध है—“बात और भाटा ने ज्युं जमावणी चावे, ज्युं बिठावणी चावे; ज्युं ही जम जावे, बैठ जावे।” पद्मश्री ने भी अपनी बात को जमाने के लिए वानर की कथा कहनी प्रारम्भ की—

एक हरे-भरे सघन वन में एक वानर और एक वानरी रहते थे। जिस विशाल वृक्ष पर उनका बसेरा था, उसके निकट ही एक जल-कुण्ड था। एक बार देववाणी हुई कि इस समय यदि कोई पशु-पक्षी इस कुण्ड में स्नान करे तो वह मनुष्य बन जायेगा।

वानर ने उस वाणी को सुना भी, समझा भी। वानरी को कहा—“चलो हम मानव-मानवी बन जाते हैं।”

दोनों ने कुण्ड में स्नान किया। बाहर आये तो अपने को मानव-शरीर में पाकर दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए। तभी वानर के मन में मनुष्योचित सुन्दर वस्त्राभूषणों को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने वानरी से भी कहा कि “तुम भी दुबारा स्नान कर लो, हम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित बन जाएँगे।”

वानरी ने कहा—“ज्यादा लालच ठीक नहीं है। हम मनुष्य ही ठीक हैं।”

वानर ने वानरी की बात नहीं मानी और कूद गया कुण्ड में। बाहर आया तो हैरान, परेशान, दुःखी था वह, क्योंकि गहने और कपड़े बनने की जगह उसकी काया ने पुनः वानर रूप ले लिया था।

अब वह मानवी बनी अपनी वानरी से कहने लगा—“तुम भी पुनः कूदकर वानरी बन जाओ, जिससे हमारा बिछोह न हो, जोड़ा बना रहे।”

वानरी ने उसकी बात नहीं मानी। कहा—“तुमने लोभ किया, जिसका फल पाया। अब अपने किए को भोगो।”

मानवी तन तो पाया वानरी ने, पर वह पूर्णतः निर्वस्त्र थी, अतः एक झाड़ी के पीछे छुप गई। संयोगवश एक राजा उधर से निकला। अश्व पर सवार राजा ने उस औरत को देख पूछ लिया—“इस सुनसान जंगल में तुम अकेली औरत यहाँ कैसे?”

उस मानवी ने कहा—“पहले आप मुझे लज्जा ढकने के लिए कुछ वस्त्र दीजिए फिर मैं आपसे सारा प्रसंग कहूँगी।” राजा ने अपना दुशाला उस ओर फेंक दिया। तन ढककर वह झाड़ी से बाहर निकली। उसने सारा वृत्तान्त राजा से कहा। अकेली और सुन्दर युवा स्त्री की इस कथा को सुन राजा ने उसे अपनी रानी बनाकर महलों में रख लिया।

उधर वह वानर एक बार किसी मदारी द्वारा पकड़ा गया। मदारी उसे गाँव-गाँव घुमाकर उसके नाच-तमाशे लोगों को दिखा, अपना व वानर का पेट भरने लगा। तमाशा दिखाते हुए वह एक दिन राजा के महलों की तरफ चला गया और बाहर सड़क पर डमरू बजाकर भीड़ एकत्रित कर वानर को नचाने लगा। तभी वानर की नजर महल में खड़ी उस रानी पर पड़ी, जो कभी उसकी पत्नी थी। उसे देख वह उदास हो गया, नाचना भूल गया, आँखों में उसके आँसू छलक आये। मदारी ने उसे बहुत उकसाया पर वह खेल-तमाशा दिखाने को तैयार नहीं हुआ। अब गुस्साए मदारी ने उसे प्रताड़ित किया, उसके लातें जमाईं, उस पर डण्डे बरसाये। इस पर भी वह बन्दर जब खेल दिखाने को तैयार नहीं हुआ तो उसने खेल बन्द कर सामान समेट लिया।

रानी यह सब देख रही थी। वह उस वानर को पहचान गई। दयावश हो उसने मदारी को बुलाया, कीमत पूछी वानर की, कीमत चुकाई और वानर को छोड़ा लिया।

रानी ने अब उसे अपने पलँग के एक पाये से बाँध दिया।

कथा सुनाकर पद्मश्री ने कहा—“प्राणेश्वर! विवाहरूपी कुण्ड में कूदकर आपने हमें प्राप्त किया और अब दीक्षारूपी कुण्ड में कूदने की कामना कर इससे अधिक मोक्ष की कल्पना करके इन सुखों से वंचित होने पर कहीं आपको भी उस वानर की तरह पछताना न पड़े।”

पद्मसेना नामक एक युवा कन्या ने भी कहा—“हृदयेश्वर ! यह विचित्र हठ है आपका कि आप उपलब्ध ऋद्धि, वैभव, भोग-सामग्री आदि तो खोना चाहते हैं और जो नहीं है उसे उपलब्ध से अधिक मानकर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बन रहे हैं।”

जम्बूकुमार ने अपनी दूसरी व तीसरी पत्नी की बातें सुनीं और बोले—“वानर देवत्व प्राप्त करना चाहता था—भोगों के लिए, जबकि मैं तो भोगों का त्याग करना चाहता हूँ। संयम का

लक्ष्य भौतिक साधनों की प्राप्ति या वृद्धि नहीं है। संयम का उद्देश्य तो है आत्मा की शुद्धि, कर्मबन्धन से छुटकारा, जन्म-मरण से मुक्ति। मैं तो तुम सभी को यही कहूँगा कि बड़ा दुर्लभ है ये मनुष्य-भव। मिला है तो इसे व्यर्थ मत खोओ। गर्व मत करो कि हमें इतना वैभव, ऐसी काया-माया मिली है। विवेकशील बनकर जो कुछ मिला है, उसका आत्म-कल्याण के लिए उपयोग करो। खो दिया इसे व्यर्थ ही तो दुर्लभ बताया है मानव-भव, अतः दुबारा प्राप्त करना अति मुश्किल होगा और उस अंगारकारक के कष्टों की तरह तुम सभी को भी पुनः भव-भ्रमण के, जन्म-मरण के कष्ट उठाने पड़ेंगे।”

[कथा—अंगारकारक की]

उत्सुक बनी जम्बू जी की पत्नियों ने पूछा—“अंगारकारक ने क्या कष्ट उठाए, क्यों कष्ट उठाए?”

इस पर जम्बू जी ने अंगारक की कथा उन्हें सुनानी प्रारम्भ की—

एक राजा एक दिन अनेक समीर, उमराव, मन्त्री व सैनिकों के साथ दल-बल लेकर जंगल में शिकार खेलने गया। जंगल में बहुत दूर निकल जाने पर भी कोई शिकार नहीं मिला। अचानक एक हरिण को देख राजा ने अपना अश्व उसके पीछे दौड़ा दिया। आगे हरिण, पीछे अश्व और पीछे अन्य सैनिक आदि। शिकार की उत्कण्ठा में भान कुछ भी रहा नहीं। राजा का अश्व मार्ग से भटक गया। सारे साथी, सैनिक बिछुड़ गये। हरिण भी ओझल हो गया। राजा ने अश्व रोका, पीछे देखा, कोई नहीं था। सुनसान, बियावान जंगल। अचानक राजा को लगा कि उसे प्यास लगी है। एक बार प्यास की याद आने पर वह निरन्तर बढ़ती रही। पानी के लिए देखा इधर-उधर, कहीं पानी नहीं दिखाई दिया। राजा प्यास के मारे अत्यन्त बेचैन हो गया। व्याकुलता इतनी बढ़ी कि जैसे बिना पानी के कुछ ही देर में दम निकल जायेगा।

राजा ने सोचा—‘इतना बड़ा राज्य, इतने नौकर-चाकर और क्या हालत है मेरी? एक बूँद पानी के लिए तरस रहा हूँ यहाँ, पर पानी कहीं नजर नहीं आ रहा।’ जिह्वा तालू से चिपक गई, कण्ठ सूख गया। ऐसे समय में व्यक्ति को पता लगता है कि एक बूँद पानी की क्या कीमत होती है? आज तो आपको आसानी से पानी उपलब्ध है, अतः आप बेदरि से उसका दुरुपयोग करते हैं। भगवान महावीर ने पानी की एक बूँद में असंख्यात जीव बताए हैं, आपने इस बात को अनेकों बार सुना है, पर इस कान से सुना, उस कान से निकाल दिया। पानी कम दबाव से आयेगा, कम समय के लिए चलेंगे नल तो आन्दोलन होंगे, ज्ञापन दिए जाएँगे,

हाय-तोबा मचेगी। आँगे नल तो व्यर्थ का ढेर सारा पानी हर घर में बहता रहेगा। नालियाँ भरेगी, सड़कों पर कीचड़ होगा, चारों ओर पानी ही पानी, कीचड़ की कीचड़ फैल जायेगा। न तो तब कोई पानी के अभाव और उसके अमूल्य-धन होने पर ध्यान देगा और भगवान महावीर के अप्कायिक जीव होने व पाप लगने के सिद्धान्त पर। पानी के नहीं मिलने पर ही दुर्लभ होने पर ही व्यक्ति उसकी कीमत आँक सकता है, उसका दुरुपयोग कम कर सकता है।

आज प्यास की ऐसी व्याकुलता में राजा को पानी की कीमत अनुभव हुई। उसके चिन्तन में यह बात उभरी—‘यदि कुछ पानी इस समय मिल जाये तो पानी उपलब्ध कराने वाले को मैं अपना राज्य दे दूँ।’ प्राणों पर जब बन आती है तो प्राण बचाने की कुछ भी कीमत दी जा सकती है। इस दुनिया में प्राणों से अधिक मूल्यवान क्या है? हवा के बाद प्राणों के लिए तो पानी ही संजीवनी है। राज्य क्या चीज है पानी के सामने यदि पानी के बिना दम सूख रहा हो, जान निकल रही हो।

राजा का भाग्य अच्छा था, अतः उसे ऐसा संयोग मिला कि पानी मिल गया, प्राण बच गये। जंगल में एक अंगारकारक घूम रहा था। अंगारकारक कहते हैं, लकड़ियाँ जलाकर कोयला बनाने वाले को। वह अंगारकारक जंगलों से लकड़ी काटकर लाता, एक जगह एकत्रित कर उन्हें किसी गड्ढे में डालता और जलाकर ऊपर से धूल डाल देता। लकड़ियाँ अन्दर ही अन्दर धूम-धूम जलती रहतीं, बुझती रहतीं। जब पूर्णतः जल व बुझ जातीं तो वे कोयले बन जातीं। अंगारकारक उन्हें धरती से निकालता और बाजार में लाकर बेच देता। ऐसा ही एक अंगारकारक घूमते हुए उधर आ गया, जिधर शिकारी की खोज में आया राजा भटक गया था और प्यास के मारे उसके प्राण निकले जा रहे थे। राजा को ऐसे सुनसान स्थान पर अकेला देखा तो पास आ गया। स्थिति देखी राजा की, बोलकर तो कुछ भी कहने में राजा असमर्थ था फिर भी अंगारकारक ने समझ लिया कि वह अत्यन्त प्यासा है। तभी संकेत से राजा ने बता भी दिया कि वह प्यासा है और पीने का पानी चाहिए।

पानी था अंगारकारक के पास। अनुकम्पा-भाव से उसने राजा को पानी पिलाया तो राजा की जान में जान आई, बेचैनी मिटी, शांति प्राप्त हुई। राजा ने अपने प्राणरक्षक से पूछा—“कौन हो तुम? क्या करते हो? सुनसान जंगल में अकेले कैसे घूम रहे हो?”

अंगारकारक ने अपना नाम व धंधा बता दिया। जंगल में घूमने का कारण भी बता दिया कि वह पेड़ों को काटकर लकड़ियाँ इकट्ठी करता है। अब उसने राजा से परिचय पूछा।

राजा ने अपना परिचय देकर अपने नगर का रास्ता पूछा। अंगारकारक ने साथ चलकर रास्ता ढूँढ़कर बता दिया। राजा ने उससे कहा—“तुमने मुझ पर बड़ा उपकार किया, पानी पिलाकर प्राणरक्षा की, रास्ता दिखाकर भटकने से बचाया। कभी तुम मेरे राज्य में आकर मुझसे मिलना। मैं तुम्हें इस योग्य बना दूँगा कि फिर तुम्हें जंगल-जंगल घूमने की, लकड़ियाँ काटने की, उन्हें जलाकर कोयला बनाने और बेचने व आजीविका चलाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तुम्हारा सारा जीवन आराम से निकल सकेगा। ऐसा प्रबन्ध कर दूँगा कि तुम तो क्या तुम्हारी सन्तानें और उनकी सन्तानें भी पीढ़ियों तक की आराम से गुजर-बसर कर सकें।”

कई दिन बीतने पर एक दिन अंगारकारक जाता है उस राजा के नगर में। वहाँ राजमहलों में जाकर मिलता है राजा से। राजा उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है। आपद्काल में सहायक उस उपकारी का उपकार भला वह कैसे भूल जाता? उसके उपकार का प्रतिफल देने के विचार से राजा ने एक ऐसे उद्यान का मालिक बना लिया, जिसमें बावना चन्दन के सैकड़ों वृक्ष थे। बहुमूल्य अतिदुर्लभ चन्दन। एक वृक्ष भी जिसके पास हो वह निहाल बन जाता है तो यहाँ तो पूरा एक उद्यान था, सैकड़ों की संख्या में वृक्ष थे। राजा ने यही सोचकर उसे दिया था कि उसकी दरिद्रता मिट जायेगी। एक टुकड़ा भी बेचेगा तो उससे मिलने वाली राशि इसके जीवन में समाप्त नहीं होगी।

अपने अत्यधिक प्रिय और उस समय के सर्वाधिक मूल्यवान उस उद्यान को पानी पिलाने के उपकार के बदले में देकर राजा ने सन्तुष्टि अनुभव की।

अंगारकारक ने देखा राजा द्वारा दिया गया उद्यान, देखे पेड़, देखी पेड़ों की लकड़ी, पर वह तो जानता ही नहीं था चन्दन क्या चीज और बावना चन्दन क्या चीज? उसके लिए घोड़े-गधे बराबर। सुगन्ध से भी परिचित नहीं था वह। उसका चिन्तन तो यह कि इतने वृक्ष हैं, चलो कम से कम एक साल का गुजर-बसर तो आराम से होगा।

उसने तो अपना धन्धा प्रारम्भ किया। काटे कुछ वृक्ष, बनाये कोयले। इसी तरह दिनोंदिन बावना चन्दन के पेड़ कटते रहे, बावना चन्दन जलता रहा, उसके कोयले बनते रहे। उद्यान में धीरे-धीरे पेड़ों की संख्या कम होने लगी। सप्ताह, महीने, वर्ष के दिन भागते रहे। कोयले बनते रहे, बिकते रहे। कहावत है कि “करमां में लिखियां कांकरा तो हीरां कठां सू मिली।”

वर्ष बीतते-बीतते सारा उद्यान जला डाला। एक दिन वह भी आया जब एक भी वृक्ष वहाँ शेष नहीं रहा।

राजा महीनों बाद, लगभग डेढ़-दो वर्ष बीतने पर अचानक किसी कार्यवश उधर से निकला। याद आया उसे कि यहाँ एक बहुमूल्य, दुर्लभ बावना चंदन के वृक्षों का उद्यान था। आज न वह उद्यान न वे पेड़, न चन्दन की वह महक। विचार किया—‘यही जगह है या मैंने कोई अन्य रास्ता पकड़ लिया है। भूल तो नहीं गया मैं उस जगह को।’

साथ में थे राज्य के मन्त्री। पूछा उनसे तो मन्त्री ने बताया—“जगह भी यही, रास्ता भी सही। बताया उद्यान का स्थान। ले गया राजा को उद्यान के भीतर। जगह-जगह गहरे गड्ढे, चारों तरफ कालिमा ही कालिमा, अनेक स्थानों पर जंगली घास-फूस। उसी उद्यान में एक झोंपड़ी भी बनी हुई।”

राज गया झोंपड़ी के पास। देखा झोंपड़ी में। वहाँ वही अंगारकारक, राजा पर उपकार करने वाला, इस उद्यान का मालिकाना अधिकार जिसे दिया गया था। वह व्यक्ति अत्यन्त दुःखी, सिर पर हाथ रखे हुए, चिन्तित, उदास बैठा था। फटे-पुराने जीर्ण-शीर्ण कपड़े उसने पहन रखे थे। राजा को आश्चर्य हुआ। पूछा—“अरे! तुमको तो इस उद्यान का मालिक बनाया था, फिर यह दशा कैसे तुम्हारी? और यह उद्यान ऐसा कैसे हो गया? तुम्हें तो आज तक मालामाल हो जाना चाहिए था!”

अंगारकारक ने कहा—“क्या मालामाल होता? सारे वृक्ष तो एक ही साल में समाप्त हो गये।”

राजा ने पूछा—“कैसे समाप्त हो गये?”

उसने उत्तर दिया—“मैंने अपना धन्धा प्रारम्भ किया। पेड़ काटे, जलाये बस हो गये समाप्त।”

राजा ने अपना सिर थाम लिया और बोला—

करम ठोक को ना मिले, भली वस्तु को जोग।
दाखां जद पाकण लगी, कागा रे गल रोग॥

□ चन्दन है यह मानव-भव

इनती कहानी कहने के बाद जम्बू जी ने कहा—“यह दुर्लभ मानव-भव बावने चन्दन के उद्यान की तरह है। कामभोगों में फँसकर जो इसे संसार-दावानल में जलाकर कोयले की तरह बनायेगा, उसे अन्त में दुःख भोगना होगा, पश्चात्ताप करना होगा। अनन्त-अनन्त भव से यह जीव कामभोगों में, विषय-वासना में जलता, कोयला बनता आ रहा है। अब भी नहीं

सँभल सका, आत्म-साधना कर अपना जीवन सफल नहीं बना सका, तो वह उस जीव की मूर्खता है, अज्ञानता है।”

□ जम्बू जी का पत्नियों का समझाना

बन्धुओं ! जम्बू जी की आठों पत्नियों ने एक-एक कर जम्बू जी को हर तरह से समझाया, विभिन्न कथानक सुनाए और संसार के कामभोगों की ओर आकर्षित करने की पूर्ण चेष्टाएँ कीं, सारे प्रयत्न किये।

उधर जम्बू जी तो पूर्णतः वैराग्य के रंग से सराबोर थे। उन्होंने प्रत्येक पत्नी को विभिन्न दृष्टांतों द्वारा कामभोगों से प्राप्त होने वाले दुःखों, संसार की नश्वरता और आत्म-साधना से मिलने वाले शाश्वत सुखों की, परमानन्द की बातें बतलाई।

□ प्रभव एवं पाँच सौ चोरों का आगमन : पैर चिपके

उनकी ये बातें चल ही रही थीं कि राजगृही का कुख्यात पाँच सौ चोरों के सरदार प्रभव ने सुना—“जम्बू जी की शादी में निन्यानवे करोड़ सोनैया का दत्त-दहेज प्राप्त हुआ है।” उसने सोचा—आज अवसर अच्छा है। खूब धन हाथ लेगगा। पूरे दल-बल के साथ वह पहुँच गया जम्बू जी के घर। सारा धन नीचे आँगन-औसारे में पड़ा था। प्रभव के संकेत पर उसके साथियों ने उस धन की गाँठें बनाईं। गाँठों को अपने सिर पर रख सभी चोर सरदार के संकेत पर उस भवन से बाहर निकलने की अभिलाषा से आगे बढ़ना ही चाहते थे कि उन्हें लगा जैसे उनके पैर वहीं धरती से चिपक गये हों।

□ श्रमण-दीक्षा की निर्मलता का प्रश्न

हुआ यह कि नीचे खटपट होने की कुछ भनक जम्बूकुमार के कानों में पड़ी। अपने कमरे से आँगन की ओर खुलने वाली खिड़की का थोड़ा-सा पट खोलकर जम्बूकुमार ने नीचे झाँका। अन्धकार में हिलती-डुलती इतनी मानवीय छायाएँ यहाँ कैसे? अभ्यस्त हुए अन्धकार में कुछ-कुछ देख पाने के तो समझ गये कि चोर हैं, धन चुराने आये हैं। निश्चिन्त वहाँ से हटकर पुनः पलंग पर आये और बैठ गये। ‘सुबह संसार को त्यागकर संयम ग्रहण करना है तो धन का विचार क्यों? चाहे चोर ले जाएँ, चाहे घर में पड़ा रहे—मुझे क्या? मुझे तो धन-माया-वैभव सब त्यागना ही है।’ यह सब सोचते-सोचते ही चिन्तन की धारा बदली, विचार आया—‘प्रातः शहर में सभी लोग चोरी का समाचार जानेंगे तो क्या सोचेंगे? निश्चय ही अनेक व्यक्ति, अधिकांश लोग तो यही कहेंगे कि बेचारे के घर चोरी हो गई, माल-मत्ता सारा साफ हो गया, अतः दुःख के मारे दीक्षा ले ली। लोगों में फैल जाने वाली इस भ्रान्त

धारणा से यद्यपि मेरी आत्मा—साधना का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा पर श्रमण-दीक्षा की निर्मलता, उसकी विशुद्धता, उसके गौरव पर तो प्रश्न-चिह्न लग जायेगा। जिनशासन की अवमानना होगी।’

□ पंच-परमेष्ठी का ध्यान : चमत्कारिक प्रभाव

‘यह तो अच्छा नहीं होगा’—मन ही मन यह कहकर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं, ध्यानमग्न बन वे पंच-परमेष्ठी के स्मरण में लीन हो गये। प्रारम्भ हुआ महामन्त्र जाप। भावपूर्वक मन्त्र-स्मरण ने चमत्कार दिखाया। उनके शुभ चिन्तन का कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि प्रभव के सभी साथियों के पैर वहाँ धरती से चिपक गये। विचित्र स्थिति हो गई थी उनकी। सिर पर स्वर्ण-मुहरों की गाँठें। एक पैर आगे, एक पैर पीछे। चित्र-लिखित से धरती से चिपके। लगता था बोलती हुई मूर्तियाँ हों। कान सुन रहे थे, आँखें देख रही थीं, मुँह से बात कर सकने में भी समर्थ थे, हाथ भी हिला-डुला सकते थे, पर पैर किसी जादू के जोर से स्तंभित हो गये।

□ चोर-सरदार प्रभव चकित !

उधर चोरों के सरदार ने उन साथियों को इस तरह खड़े देखा तो वह बोला—“अब खड़े क्यों हो, चलते क्यों नहीं? जल्दी से बाहर निकलकर अपने अड्डे पर चलो।”

तभी उसके एक साथी ने कहा—“सरदार! चलें कैसे? हमारे पाँव तो अपनी जगह से हिलते ही नहीं। ऐसा लगता है जैसे किसी ने हमारे पैरों को यहाँ चिपका दिया है, अतः हम चलने में असमर्थ हैं।”

प्रभव को क्रोध आया उसकी बात सुनकर, बोला—“लगता है ज्यादा धन देखकर दिमाग बिगड़ गया है। सीधी तरह चल यहाँ से अन्यथा गर्दन तलवार के एक झटके से यहीं काटकर फेंक दूँगा।”

तभी अनेक साथियों ने एक साथ कहा—“सरदार! यह सही कह रहा है। हम सबके पाँव हिल-डुल भी नहीं रहे हैं, हम विवश हैं।”

अब सरदार विचार में पड़ गया। जाग होने का तो उसे डर था नहीं। वह कोई साधारण चोर-सरदार नहीं था। असाधारण दो विद्याएँ थीं उसके पास। पहली विद्या के प्रयोग द्वारा वह चाहे जैसा ताला लगा हो, उसे तोड़ सकता था, खोल सकता था। इस विद्या का नाम था—**तालोद्घाटिनी विद्या!** दूसरी विद्या के प्रयोग से वह अपने आस-पास के लोगों को गहरी निद्रा में सुला सकता था। इस विद्या का नाम था—**अवस्वापिनी विद्या!**

अपने साथियों के चिपके हुए पैर देख वह सकते में आ गया। उसे विश्वास हो गया कि अवश्य किसी ने मन्त्र-बल का प्रयोग किया है। जल्दी की कोई युक्ति नहीं की तो सबके प्राण संकट में पड़ सकते हैं।

□ मन्त्र-विद्या में मुझसे अधिक सम्पन्न कोई-न-कोई है यहाँ !

सरदार प्रभव ने बहुत प्रयत्न किये, पर वह अपने प्रत्यनों में निष्फल रहा। अब तो एक ही उपाय था, जिसने भी मन्त्र-बल से यह काम किया है, उसी के द्वारा इस आपद् से छुटकारा मिल सकता है, पर किसने किया होगा मन्त्र-प्रयोग ? मैंने भवन में अपने साथियों के साथ कदम रखने से पहले ही अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से सभी को गहरी निद्रा में ला दिया था। यदि सभी निद्रित हैं तो मन्त्र-प्रयोग किसने किया ? अवश्य कोई-न-कोई जागृत है और जो भी जागृत है वह मन्त्र-विद्या में मुझसे अधिक सम्पन्न है, शक्तिशाली है तभी मेरी विद्या का असर उस पर नहीं हुआ है।

□ लाभ का सौदा : दो विद्याएँ लो, एक विद्या दो !

सरदार ने चारों तरफ देखना प्रारम्भ किया। वहाँ कुछ नहीं दिखा तो ऊपर की तरफ सारी दिशाओं में देखा। एक कमरे की खिड़की की झिरी से उसे हल्का-सा प्रकाश आता दिखाई दिया। वह सीढ़ियाँ चढ़कर शीघ्र उस कमरे के समीप पहुँचा। थोड़े से खुले पट से उसने अन्दर का नजारा देखा। आठ अप्सराएँ और एक देवपुरुष। अप्सराएँ लगने वाली वे सुकुमार नारियाँ निद्रामग्न थीं, शायद उसी की विद्या के प्रभाव से। पर वह देव-पुरुष जग रहा था। दूल्हे का वेश देख प्रभव समझ गया कि इसी की कल नई-नई शादी हुई है।

द्वार को धक्का देकर वह अन्दर आ गया और जम्बू को देखता हुआ कहने लगा—“तो तुम हो, जिस पर मेरी अवस्वापिनी विद्या का असर नहीं हुआ। तुम्हीं ने मेरे साथियों के पैर अपने मन्त्र-प्रभाव से चिपका दिये। मान गया मैं तुम्हारी मन्त्र-शक्ति को। अपने आपको मैं आज तक अविजित समझता रहा था, आज तुम्हारे सम्मुख मैंने पराजय का अनुभव किया। अब मेरा एक निवेदन सुनो—तुम हो महाजन, लाभ का सौदा करना तो तुम्हारी आदत ही होगी। तुम्हारे पास एक विद्या है, यह पाद स्थंभिनी विद्या। मेरे पास दो विद्याएँ हैं—पहली सभी तरह के ताले खोलने वाली और दूसरी सभी अन्य लोगों को गहरी नींद में सुला देने वाली। हम दोनों आज एक सौदा करते हैं। तुम अपना मन्त्र मुझे सिखा दो, मैं अपनी दोनों विद्याएँ तुम्हें सिखा देता हूँ।”

□ याद स्थंभिनी विद्या हम चोरों के लिए लाभदायक

जम्बू ध्यानमग्न थे। सुनते रहे इतनी देर फिर आँखें खोलीं, देखा प्रभव को पर बोले कुछ भी नहीं। इस पर प्रभव ने फिर कहा—“सेठ के लड़के होने के कारण यह विद्या आपके किसी काम की नहीं। हमारा काम ऐसा कि यह विद्या हमें अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती है। हम चोरी करते हैं। राजा के सरदार, मन्त्री, कोतवाल, सैनिक हमारे पीछे पड़े रहते हैं। यह विद्या मिल जाये मुझे तो मैं उनका मुकाबला कर सकता हूँ। पूरी की पूरी सेना ही क्यों न पीछे लग जाए, सबके पैरों को धरती पर चिपकवा दूँगा और भाग जाऊँगा।”

□ मेरा तो मन्त्र या मेरी विद्या, सब कुछ है—“पंच-परमेष्ठी मन्त्र”

अब जम्बू बोले—“लगता है कि तुम्हीं इन सब चोरों के सरदार हो। तुम जो कह रहे हो, मुझे उसका कतई ध्यान नहीं। मैंने किसी विद्या या मन्त्र का प्रयोग नहीं किया। मैं तो अपने इष्ट पंच-परमेष्ठी का ध्यान कर रहा था, महामन्त्र नवकार का जाप कर रहा था जो चमत्कार के लिए नहीं अपितु आत्म-कल्याण के लिए किया जाता है। यह संयोग ही है कि मैंने मन्त्र-स्मरण किया और तुम्हारे साथियों के पाँव चिपक गये। सच तो ये है कि मुझे इस धन से जरा भी मोह नहीं है। मेरे लिये ये सभी धूल के समान है परन्तु मैं नहीं चाहता था कि तुम यह धन चोरी करके ले जाओ और सुबह लोग कहें कि धन चोरी चला गया, अतः सेठ का लड़का साधु बन गया। जिनवाणी और मेरी दीक्षा के गौरव को किसी अपवाद के कारण धक्का लगे, कलंक लगे—यह मैं कैसे सहन कर सकता था।”

□ महान् त्यागी का महत् प्रभाव

चोरों का सरदार प्रभव जम्बूकुमार की बातें ध्यानपूर्वक सुन रहा था। साधु बनने और दीक्षा लेने की बात सुन वह चौंक पड़ा। देखा जम्बूकुमार को, एक नजर उनकी आठों पत्नियों पर भी डाली फिर बोला—“तुम्हारी ही शादी हुई है कल?”

जम्बू ने कहा—“हाँ!”

प्रभव ने आठ नारियों की तरफ देखते हुए कहा—“ये तुम्हारी नव परिणीताएँ हैं?”

जम्बू ने फिर “हाँ” में प्रत्युत्तर दिया।

“इस भरे-पूरे यौवन में, ऐसी सुकुमार नव-परिणीताओं को और इस वैभव को त्यागकर तुम दीक्षा लोगे?”—प्रभाव ने प्रश्न किया।

जम्बू ने तब भी कहा—“हाँ!”

प्रभव चकित तो पहले से था ही और अधिक चकित बन गया। उसे लगा कि यह युवक कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। जिस धन के लिए मनुष्य भयंकर से भयंकर दुष्कृत्य कर डालता है, उसे कितनी आसानी के साथ यह त्याग रहा है। लोग एक स्त्री के लिए महाभारत रचा देते हैं, झूठ और छल-कपट का बवंडर फैला देते हैं, न्याय-नीति और रीति-रिवाजों को ताक पर रख देते हैं, पर यहाँ तो आठ-आठ सुन्दरतम स्त्रियों को त्यागा जा रहा है। लगता है यह जितेन्द्रिय बन गया है। कहाँ तो मैं धन-लोलुप चोर और कहाँ ये ऋद्धि और कामणियों के त्यागी!

कुछ ही क्षणों के चिन्तन ने प्रभव के मन में जम्बू की महानता को स्थापित कर दिया। प्रभव ने कहा—“आप धन्य हैं, आपका त्याग धन्य है। मैं इन शुभ विचारों के लिए आपका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। इस पर भी मेरा आपसे अत्यन्त विनयपूर्वक एक आग्रह है।”

जम्बूकुमार ने पूछा—“बताइये! क्या चाहते हैं आप?”

□ “आप दीक्षा नहीं लें तो मैं आपका दास बनूँ?”—चोर सरदार ने कहा

प्रभव ने कहा—“आपने अभी-अभी इन आठ कन्याओं से शादी की है, अतः आप कुछ समय तक तो सांसारिक भोगों का भोग करें, शादी का जो उद्देश्य होता है उस उद्देश्य को पूरा करें फिर चाहें तो दीक्षा लें, साधु बन जायें। सारे लोग मुझसे थरति हैं, डरते हैं। आप यदि दीक्षा लेने का विचार कुछ दिन के लिए भी त्याग दें तो मैं आपका दास बनकर रहने को तैयार हूँ। यदि जीवनभर गृहस्थी में रहें तो मैं जीवनभर आपका दास बनकर रहूँगा।”

[मधुलोभी जयचन्द सार्थवाह का प्रसंग]

बन्धुओं! पहले जम्बूकुमार को दीक्षा से रोकने वाली आठ पत्नियाँ थीं, अब प्रभव को मिलाकर रोकने वालों की संख्या नौ हो गई। जम्बू ने सोचा—‘आठ को समझाया, अब इसे भी समझाना होगा।’ बोले—

“बन्धु! जिन सांसारिक भोगों को भोगने की बात तुम कर रहे हो, प्रत्येक जीव की आत्मा ने अनादिकाल से असंख्य जन्म-जन्मान्तरों में ऐसे सारे भोगों को भोगा है! मेरी अब इन भोगों से अरुचि हो चुकी है। अब इन क्षणिक सुखों के लिए मैं आत्मा के अक्षय सुख को खोना नहीं चाहता। मधुलोभी जयचन्द सार्थवाही की तरह मैं इन सांसारिक सुखों के लोभ में फँसकर जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, वियोग आदि के असह्य दुःखों को नहीं भोगना चाहता।”

प्रभव ने पूछा—“मधुलोभी जयचन्द ने क्या किया ? उसे क्या कष्ट उठाने पड़े ?”

किसी समय जयचन्द नाम का एक व्यक्ति हस्तिनापुर के धनपाल सार्थवाह के साथ व्यापार के उद्देश्य से देश-विदेश में भ्रमण करने गया। चलते-चलते एक सघन वन आया। सभी लोग थक गये थे, अतः वहीं पेड़ों की छाँव में विश्राम के लिए रुक गये। जयचन्द को कोलाहल के कारण उन सबके साथ वहाँ बैठना या सोना अच्छा नहीं लगा। वह उनसे दूर निकलकर एक शीतल वृक्ष की छाँव में सो गया।

विश्राम के लिए रुके लोगों को सार्थवाह ने जगाया और उन्हें साथ लेकर चल दिया, जयचन्द दूर था, अतः उसका उसे ध्यान ही नहीं रहा।

जयचन्द को गहरी नींद आई। जब जगा तो अपने साथियों को ढूँढ़ा। किसी पगडण्डी या बने-बनाये रास्ते से वह नहीं आया था, वैसे ही उजड़ राह से चलकर आया था, अतः एक तो रास्ता नहीं मिला फिर भटका तो भटकते-भटकते अपने सार्थवाह के ठहरने के स्थल पर आया भी तो उसे वहाँ कोई मिला नहीं, कोई था भी नहीं वहाँ, वह तो यह भी नहीं जान पाया कि यही वह स्थान था या नहीं।

तभी एक जंगली हाथी उसके पीछे पड़ गया। वह भागा। वह भागा तो हाथी उसके पीछे भागा। जान बचाने के लिए उसने उछलकर एक विशाल वृक्ष की मोटी-सी डाल पकड़ ली। हाथी ने पेड़ के नीचे आकर उसे सूँड़ से पकड़ने का प्रयास किया। असफल रहा तो पूरे वृक्ष को ही गिराने के प्रयत्न करने लगा।

दुर्भाग्य से जिस डाल को एक बड़ी-सी उछल लेकर उसने पकड़ा था, उसके ठीक नीचे एक अंधकूप था, जिसमें एक भयंकर विषधर फन फैलाए फुँकार रहा था। इधर उस मोटी-सी डाल को दो चूहे कुतर रहे थे। जहाँ वह लटका था, उसके ठीक ऊपर किसी डाल पर एक बड़ा मधुमक्खियों का छत्ता था। जब हाथी पेड़ हिलाता तो वे मक्खियाँ उड़कर उसके शरीर पर जगह-जगह डंक मारतीं। बड़ी पीड़ा होती थी तब उसे। बड़ी विकट दशा थी। चूहे कुतरने से डाल कमजोर बन रही थी, टूटने पर जयचन्द के सीधे अंधकूप में गिरने और विषधर के शिकार बनने का अन्देशा था। वृक्ष गजराज के उत्पात से उखड़ जाता तो गजराज उसके प्राण ले लेता।

इतनी विपिन्न दशा में एक बार अचानक उसने जो ऊपर देखा तो मधु-छत्ते की एक मधु-बूँद सीधे आकर उसके मुख में गिरी। भूखे-प्यासे जयचन्द को वह मधु-बूँद अमृत की तरह लगी। अब वह दूसरी बूँद की प्रतीक्षा करने लगा। तभी एक विद्याधर

विमान पर सवार हो उधर से निकला। इसे पेड़ पर लटकते देख उसे दया आ गई। वह विमान पेड़ के पास ले गया और बोला—“आओ, मेरे विमान पर चढ़ जाओ। तुम जहाँ कहोगे, मैं तुम्हें वहाँ छोड़ दूँगा।”

जयचन्द्र बोला—“थोड़ी देर रुको, एक मधु-बूँद पीने दो।”

तभी मधु-बूँद टपकी उसके मुख पर, उसने चाट ली उसे। विद्याधर बोला—“अब तो आ जाओ।”

जयचन्द्र ने कहा—“बस, एक बूँद और।”

इसी तरह वह काफी देर तक “एक बूँद और, एक बूँद और” कहता रहा, मधु-बूँद चाटता रहा। अब अधीर बन विद्याधर ने कहा—“अरे भले मानुष! तेरी जान को खतरा है। इस मधु-बूँद को छोड़। मैं तुझे एक डब्बा भरकर मधु दे दूँगा। तू अपने प्राणों की परवाह कर, मेरे विमान पर आ जा।”

जयचन्द्र ने कहा—“पीपे की मधु का इस प्राकृतिक अमृत के समान मधु से क्या मुकाबला? बिलकुल शुद्ध, निर्मल। तुम उतावले मत बनो। कुछ मधु-बूँदें तो और चाटने दो।”

विद्याधर तब वहाँ से उसे भाग्य भरोसे छोड़ चलता बना। उधर चूहों ने डाल इतनी कमजोर बना दी कि जयचन्द्र के वजन को वह डाल न सह सकी। टूट गई डाल। गिर गया जयचन्द्र अंधकूप में। विषधर ने दंश दिया उसे। विष सारे शरीर में फैल गया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

□ चालो पंथ में, उजड़ मत चालो वरज्यो ग्रंथ में !

दृष्टान्त सुनाकर जम्बूकुमार ने कहा कि जो व्यक्ति उजड़ पथ पर चलता है, वह भटकता है, दुःख पाता है—यह पहली बात।

बन्धुओं! कितनी सत्य बात कही जम्बूकुमार ने। श्रुताचार्य स्वामिप्रवर श्री चौथमल जी म. सा. ने अपने एक भजन में यही कहा है—

चालो पंथ में, चालो पंथ में।

उजड़ मत चालो, वरज्यो ग्रंथ में, चालो पंथ में॥

आध्यात्मिकता की बात करें तो जहाँ व्रत नहीं, प्रत्याख्यान नहीं, समकित का पता नहीं, सामायिक—प्रतिक्रमण नहीं, गुरु-दर्शन नहीं वह जीवन का उजड़ पंथ है। जैसे आप राह चलते उजड़ पथ पर आ जाएँ तो चोर-उचक्कों का भय रहता है, पत्थर-कंकर, काँटों का

भय रहता है, वैसे ही आध्यात्मिकता से हटकर जीवन का उजड़ पथ अपनाएँगे तो अनेक दुर्व्यसन आपके जीवन में अनजाने ही घर कर लेंगे। क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे आत्मा के शत्रु आपके भीतर रहकर आपकी आत्मा का हनन करेंगे।

जम्बू कहते हैं प्रभव को कि संयम का पथ राजमार्ग है, एकदम सीधा, साफ व सुथरा। कोई अटक नहीं, कोई खटक नहीं। जो चल पड़ता है इस पथ पर वह संसार के समस्त भयों को जीतकर निर्भय, अभय बन जाता है।

दूसरी बात—संसारी व्यक्ति जयचन्द की तरह विषय-सुख के लोभ में पड़कर जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि इत्यादि अनेक तरह के कष्ट उठाता है। धर्मगुरु चेताते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान के विमान पर चढ़कर विपत्तियों से बचने की बात कहते हैं, पर विषयाधीन संसारी जीव मानते नहीं। मैं उस जयचन्द की तरह विषय-लोलुप बन दुःख नहीं उठाना चाहता।

□ भोग में मत फँसना पर पति के कर्त्तव्य को तो निबाहो

प्रभव प्रभावित हुआ जम्बूकुमार के इस आत्म-हितकारी दृष्टान्त को सुनकर फिर भी उसने अपनी हार नहीं मानी। बोला—“मत फँसना विषयों में, कामभोगों में, पर इन आठ नारियों के प्रति जो तुम्हारी पत्नियाँ हैं और अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वहन भी तो तुम्हारा धर्म है। इन नाते-रिश्तों से मुख मोड़कर जाने का अर्थ है—कर्त्तव्य त्याग करना, धर्म-विमुख बनना।”

□ “वसुधैव कुटुम्बकम्” [अठारह रिश्तों की कथा]

जम्बू बोले—“प्रभव! जैसा कर्त्तव्य घर-परिवार के प्रति, नाते-रिश्तेदारों के प्रति, वैसे ही कर्त्तव्य संसार के समस्त प्राणियों के प्रति होना चाहिए। कहा भी है—“उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्।” जहाँ तक नाते-रिश्तों की बात है तो सुनो—“अनेक भवों की दृष्टि से देखें तो एक ही व्यक्ति के साथ अनेक-अनेक रिश्ते बना चुका है जीव। और संसार का कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसके साथ कभी कोई रिश्ता-नाता नहीं किया हो।”

“जन्म-जन्मान्तरों की बात छोड़ दें तो भी एक ही जन्म में एक ही व्यक्ति से अनेक नाते बन सकते हैं। कभी तुमने एक ही जन्म में अठारह नातों की बात सुनी है।”

प्रभव को एक बार फिर चौंकना पड़ा और पूछना पड़ा—“एक जन्म में अठारह नाते! यह कैसे?”

इस पर जम्बूकुमार ने प्रभव को अठारह रिशतों की कथा सुनानी प्रारम्भ की—

किसी नगर के एक मोहल्ले में वेश्याओं का निवास था। उन वेश्याओं में एक का नाम था कुबेरसेना। एक बार उसे गर्भ रह गया। जुड़वाँ सन्तान हुई—एक लड़का व एक लड़की। अपने धन्धे में सन्तान को बाधक मान उसने उन्हें एक मंजूषा में बन्द किया और यमुना नदी में बहा दिया। नदी में बहती हुई वह पेटी सौरीपुर पहुँची। किनारे पर दो सेठ खड़े थे। जिज्ञासावश निकलवाई पेटी। खोला उसे। अन्दर दो नवजात शिशु देख दोनों सेठ आश्चर्यचकित रह गये। संयोग से एक के पुत्र नहीं था, दूसरे के पुत्री नहीं थी, अतः दोनों ने एक-एक शिशु लिया और घर जाकर अपनी पत्नियों को दे दिया। नाम रख दिया—कुबेरदत्त, कुबेरदत्ता।

संयोगवश दोनों सेठ मर गए। इससे भी बड़ा संयोग या दुर्योग यह हुआ कि दोनों सेठानियों ने अपने पुत्र-पुत्री का आपस में विवाह कर दिया। प्रथम रात्रि, प्रथम मिलन के समय प्रेमालाप करते हुए दोनों ने समान नाम पर आश्चर्य प्रकट किया। तभी लगा कि चेहरे भी समान हैं। दोनों के हृदय में एक साथ सन्देह उत्पन्न हुआ। उस रात वे दोनों अत्यन्त संकोच में रहे। शारीरिक मिलन तो दूर, बातचीत करने में भी उन्हें शर्म लगी।

प्रातः लड़के ने कुबेरदत्ता को उसके घर भेजा और स्वयं गया माता के पास। इधर उसने पूछा, उधर उसने पूछा। सच्ची बात पता लगने पर दोनों अत्यन्त लज्जित हुए। कुबेरदत्त ने दुःखी हो सौरीपुर छोड़ दिया। कई दिन तक इधर-उधर घूमते हुए वह मथुरा में बस गया। मथुरा में जो व्यापार उसने प्रारम्भ किया, उसमें बहुत लाभ कमाया। व्यापार भी खूब फैल गया।

पैसा आया तो मन नाचने-कूदने लगा। धन जब आता है तो अनेक तरह के दुर्गुण धन के साथ आ जाते हैं। उसकी यौवनावस्था की उद्दाम उछलती वासना ने उसे वेश्याओं के मोहल्ले की ओर कदम बढ़ाने पर विवश कर दिया। वहाँ उसका सम्बन्ध कुबेरसेना से हो गया। इस तरह भाई-बहन के पापमय सम्बन्ध से लज्जित हो घर छोड़ने वाले प्राणी के साथ कर्मों ने ऐसा गजब का खेल खेला कि माता-पुत्र के बीच घृणित सम्बन्ध बन गया।

उधर कुबेरदत्ता ने दीक्षा लेकर श्रमणीधर्म की साधना प्रारम्भ कर दी। कितने ही महीनों पश्चात् उसका पैदल विहार करते हुए मथुरा आना हुआ। अब तक उसने उग्र तपश्चरण एवं कठोर शुद्ध संयम की साधना कर अवधिज्ञान की प्राप्ति कर ली थी। अपने अवधिज्ञान से जब उसने अपने इस जन्म के सहोदर भ्राता और इसी जन्म के पति की स्थिति का ज्ञान करना चाहा तो उसे मालूम हुआ कि वह इसी नगरी में अपनी ही माता से पापपूर्ण सम्बन्ध बनाए हुए

है और इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप माता कुबेरसेना के अपने ही इस जन्म के पुत्र कुबेरदत्त से एक पुत्र भी पैदा हो चुका है।

कुबेरदत्ता श्रमणी थी, उसे अब इन बातों से कुछ भी लेना-देना न था, पर इस घोर अनर्थ ने उसके अन्तर्मन को छेदित कर दिया था। उसने निर्णय लिया कि साधना में चाहे कितना ही दोष लगे, पर मैं अपने सहोदर को सन्मार्ग पर लाऊँ।

अपने निर्णय की क्रियान्विति के लिए गुरुणी की आज्ञा लेकर वह कुबेरदत्ता वेश्या के यहाँ गई। उससे उसके घर में रहने के लिए स्थान माँगा। कुबेरदत्ता पहले तो मना करती रही, पर साध्वी ने जब अपने संयम की परिपक्वता बताकर किसी तरह के अनिष्ट न होने देने का आश्वासन दिया तो कुबेरदत्ता विवश हो गई। फिर भी उसने एक शर्त रख दी कि तुम्हें मेरे एक साल के नन्हें पुत्र को एक धाय माता की तरह रखना पड़ेगा और तुम मेरे घर में धर्म, पाप, पुण्य का उपदेश नहीं दोगी। सदाचार-दुराचार की परिभाषाएँ नहीं करोगी।

जैन श्रमणाचार के विधान में स्त्री के लिए पुरुष का स्पर्श वर्जित है फिर भले ही वह एक वर्ष का बच्चा ही क्यों न हो? पर यहाँ तो पहले ही निर्णय लिया जा चुका था कि भले ही कुछ समय के लिये आचार में दोष लगे, उद्देश्य शुभ है, अतः लक्ष्य-सिद्धि तक पहुँचना ही है। कुबेरदत्ता साध्वी ने पुत्र को खिलाना भी स्वीकार कर लिया। उसे वेश्या की कोठी के भीतर सर्वेण्ट्स क्वार्टर्स की तरह बनी हुई कोठरियों में से एक कोठरी रहने के लिए मिल गई।

कुबेरदत्त वेश्या के पास आया करता था। कुबेरदत्ता साध्वी ने उसे पहचान भी लिया, पर उचित अवसर न मिलने से वह शान्त बैठी थी। एक बार कुबेरदत्त आया, कुबेरसेना की रंगशाला में गया और वहाँ उससे प्रेमालाप करने बैठ गया। कुछ ही समय व्यतीत हुआ होगा कि बच्चा रोने लगा। बच्चे के रोने से इन दोनों के रंग में भंग होने लगा। कुबेरसेना अन्दर से ही तेज आवाज में बोली—“क्यों रो रहा है यह? इसे चुप क्यों नहीं कराती? कोई लोरी गाकर सुना उसे।”

कुबेरदत्ता साध्वी को लगा कि जिस अवसर की प्रतीक्षा में वह थी, वह आज आ गया है। उसने लोरी गाना प्रारम्भ किया। बच्चे को लोरी सुनाकर सुलाने के साथ ही वह उसे लोरी के शब्दों से उन दोनों कामान्ध बने जीवों को जागृत करना चाहती थी। उसने लोरी गाना प्रारम्भ किया—

“जामण जाया वीर ! रोवे मती रे लाल !”

“हे मेरी माता के उदर से जन्म लेने वाले मेरे सहोदर भ्राता सो जा !”

“हे मेरे पुत्र ! रो मत, चुप हो जा ।”

आगे लोरी गाते हुए उसने जो कुछ कहा उसका भावार्थ इस प्रकार है—

“रे वीर ! तू रो मत, चुपचाप सो जा ! एक रिश्ते से तू मेरा भाई है, क्योंकि तूने मेरी माता के उदर से जन्म लिया है।”

दूसरे नाते से तू मेरा पुत्र है, क्योंकि कुबेरसेना मेरे पति कुबेरदत्त की पत्नी है, अतः मेरी सौत है और सौत का पुत्र तो पुत्र ही कहलाता है।

तीसरे नाते से तू मेरा देवर है, क्योंकि तू जिसका लड़का है, कुबेरदत्त भी उसी का लड़का है। कुबेरदत्त मेरा पति है, अतः उसका छोटा भाई तू मेरा देवर हुआ।

चौथे नाते से तू मेरा भतीजा और मैं तेरी बुआ हूँ, क्योंकि तेरा पिता मेरा भाई है।

पाँचवाँ नाता तेरा और मेरा दादी-पोते का है, क्योंकि जिस माँ ने तेरे पिता को जन्म दिया, वह मेरी सौत है।

तुझसे मेरा छट्टा नाता चाचा-भतीजी का है, क्योंकि कुबेरसेना का पति होने से कुबेरदत्त मेरा पिता है और तू कुबेरदत्त का छोटा भाई है।

इस अद्भुत लोरी और उस लड़के के छह-छह सम्बन्धों में अपने नाम को इस तरह उछालते देख कुबेरदत्त आपे से बाहर हो गया। वह कुबेरसेना के विलास-कक्ष से बाहर निकल आया और साध्वी को डाँटने लगा। इस पर साध्वी ने कहा—“नाराज क्यों होते हो ? तुमसे भी मेरे छह रिश्ते हैं। तुम चाहो तो मैं तुम्हें भी बताऊँ कि कैसे हम और तुम इतने रिश्तों की डोर से बँधे हैं ?”

कुबेरदत्त तो गुस्से में था ही, बोला—“जैसे इसे सुनाये, वैसे ही मुझे भी सुना दोगी। क्या करूँगा मैं इन व्यर्थ के रिश्तों को सुनकर ?”

साध्वी ने कहा—“सुनने में क्या हर्ज है ? अभी जो व्यर्थ लग रहे हैं, सुनने के बाद शायद उनमें कुछ तथ्य निकल आये।”

कुबेरदत्त ने कहा—“एक को सुनाकर शायद तुम्हारा मन भरा नहीं है। वह तो नासमझ है, पर ध्यान रहे, मैं नासमझ नहीं हूँ। सुनाओ, क्या सुनाती हो ?”

इस पर साध्वी ने कहना प्रारम्भ किया—

(१) हम दोनों ही कुबेरसेना के गर्भ से उत्पन्न होने के नाते तुम मेरे भाई हो।

- (२) मेरी माता कुबेरसेना के पति बने हो, अतः मेरे पिता हो।
- (३) सौरीपुर में तुम्हारे और मेरे अग्नि के समक्ष फेरे हुए, अतः तुम मेरे पति हो।
- (४) मैं और कुबेरसेना सौत हैं और तुम उसके पुत्र, अतः मेरे भी पुत्र हो।
- (५) यह लड़का मेरा चाचा है और तुम इसके पिता, अतः तुम मेरे दादा हो।
- (६) मैं कुबेरसेना के पुत्र की पत्नी हूँ, अतः तुम मेरे श्वसुर हो।

सौरीपुर नाम आते ही उसने साध्वी के चेहरे पर गौर किया। उसे याद आया, इसी के साथ मेरे फेरे हुए थे। बाद में भाई-बहन का रिश्ता ज्ञात होने पर शर्म से गड़ गये थे दोनों और वह उसे छोड़ आया था। उसे साध्वी के कथन में सच्चाई का आभास होने लगा।

तभी कुबेरदत्त को इतनी देर साध्वी के पास रुकता देख क्रोध में भरी, मन में सन्देह का बीज लिए कुबेरसेना भी वहाँ चली आई और बोली—“मैंने तुझे इसलिए यहाँ नहीं रखा था कि तू मेरे चाहने वाले पर डोरे डाले। जाने क्या बकवास करती जा रही है। साध्वी तो तू है नहीं, होती तो एक वेश्या के घर क्यों ठहरती? निकल तू यहाँ से, वरना धक्के मारकर निकाल दूँगी!”

साध्वी ने शान्तिपूर्वक कुबेरसेना से कहा—“तुमने एक बार तो लकड़ी की मंजूषा में मुझे और मेरे भाई को बन्द कर यमुना में बहाया ही था। दूसरे बार फिर यहाँ से निकालना चाहती हो तो तुम्हें इसका पूरा अधिकार है। अब मैं यहाँ रहना भी नहीं चाहती। बस, अभी निकल जाती हूँ, पर जाने से पूर्व मेरे और तुम्हारे बीच जो छह नाते हैं, उन्हें सुना देना चाहती हूँ।”

लकड़ी की मंजूषा में बन्द कर यमुना नदी में फेंकने की बात साध्वी ने कही तो कुबेरसेना की आँखों के समक्ष वर्षों पूर्व की वह घटना जीवन्त हो उठी। वह साध्वी का कथन ध्यान से सुनने लगी। साध्वीजी ने कहना प्रारम्भ किया—

- (१) तुम्हारे पेट में मैंने जन्म पाया, अतः तुम मेरी माता हो।
- (२) तुम मेरे सहोदर भाई की पत्नी बनी हुई हो अतः मेरी भाभी हो।
- (३) कुबेरदत्त तुम्हारा पति होने से मेरा पिता हुआ और तुम कुबेरदत्त की माता हो, अतः मेरी दादी हुई।
- (४) कुबेरदत्त तुम्हारा पुत्र है और मैं उसकी परिणीता, अतः तुम मेरी सास हो।
- (५) कुबेरदत्त मेरी सौत का पुत्र है और तुम उसकी पत्नी बनी हुई हो, अतः मैं तुम्हारी सास हूँ।

(६) तुम्हारा और मेरा पति एक है, अतः तुम मेरी सौत हो।

मेरे वचनों से तुम दोनों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा हो तो मैं हृदय से क्षमायाचना करती हूँ। मैंने किसी तरह के कषाय-भाव से ये बातें नहीं कही हैं और न इस समय भी तुममें से किसी के भी प्रति मेरे मन में कोई विपरीत भाव है।

साध्वी जी के 'अठारह नातों' की बात सुन कुबेरसेना और कुबेरदत्त दोनों ने अपने घोर पापकर्म पर पश्चात्ताप प्रकट किया और इस भयंकर पाप से विमुक्त होने का उपाय जानने की इच्छा प्रकट की। साध्वीजी के निर्देशानुसार उन दोनों ने अपने सारे पापकर्म त्याग दिये। हृदय में दयामय धर्म को धारण करते हुए पंच-परमेष्ठी को नित्य ध्याने लगे।

□ सब रिश्ते-नाते झूठे हैं, बस मरघट तक ले जाते हैं !

साध्वी जी ने अपने गुरुणी जी के पास पहुँच सारा वृत्तान्त सुना प्रायश्चित्त लिया और पूर्व की तरह आत्म-शुद्धि की साधना करने लगी।

यह कथा सुनाकर जम्बूकुमार ने प्रभव से कहा—“जिन नाते-रिश्तों की और उनके प्रति कर्त्तव्यों की बात तुम करते हो, वे सभी नाते-रिश्ते स्वार्थ के हैं, झूठे हैं, बेमानी हैं।”

इस पर प्रभव ने कहा—“आप ठीक ही कह रहे हैं, पर “अपुत्रस्य गतिर्नास्ति”—यह शास्त्रोक्त बात है। आपको चाहिए कि पुत्रोत्पत्ति करके फिर दीक्षा लें।”

जम्बूकुमार इस बात पर मुस्करा दिये। उन्होंने प्रभव को बताया कि “गति केवल अपने शुभाशुभ कर्मों से होती है। पुत्र तो कपूत भी हो सकता है, नाम डुबो भी सकता है। फिर पुत्र हो या न हो क्या पता क्या हो, यह कौन बता सकता है?”

□ हृदय-परिवर्तन प्रभव का, वह भी मोक्षाभिलाषी बना

जम्बूकुमार की इन आत्म-कल्याणी बातों को सुनकर सदा धन में आसक्ति रखने वाले प्रभव का मन धन को सर्वथा निरुपयोगी मानने लगा। धन के प्रति उसकी आसक्ति पूर्णतः समाप्त हो गई। उसने मन ही मन धर्म को ही सच्चा सुख मानते हुए जम्बूकुमार से कहा—“कुमार! यह चोरों का सरदार आज अनुभव कर रहा है कि आत्म-साधना ही सच्चा वैभव है। आपने अपनी याद स्थंभिनी विद्या का मेरे साथियों पर ऐसा प्रयोग किया है कि मेरी अन्तरात्मा मोक्षमार्ग में चिपक जाना चाहती है, संसार से विमुक्त बन जाना चाहती है। मैंने निश्चय किया है कि मैं भी प्रातः आपके साथ दीक्षा लेकर श्रमणधर्म का पालन करना प्रारम्भ करूँगा।”

□ पाँच सौ चोर भी दीक्षाभिलाषी

प्रभव के इतना कहते ही उसके साथियों के अब तक चिपके पाँव स्वतन्त्र हो गये, चलने-फिरने योग्य बन गये। पिछला सारा प्रसंग सरदार के मुँह से सुना इन पाँच सौ चोरों ने। अपने सरदार के दीक्षा लेने की बात सुनकर, स्वयं भी दीक्षा लेने का निश्चय प्रकट किया।

□ आठ पत्नियाँ भी वैराग्य रंग में

प्रातः यह सब देख-सुनकर जम्बूकुमार के माता-पिता ने भी संसार त्यागकर दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया और पुत्र को भी दीक्षा की आज्ञा प्रदान कर दी।

आठ पुत्रियों के माता-पिता को सन्देश मिला कि उनकी पुत्रियाँ, उनके जँवाई जम्बूकुमार, जम्बूजी के माता-पिता आदि सभी दीक्षा ले रहे हैं तो उन्होंने भी सभी के साथ ही दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया।

□ पाँच सौ सत्ताईस के संग, जम्बूकुमार की भव्य दीक्षा : मोक्ष

इस तरह पाँच सौ सत्ताईस व्यक्तियों के संग जम्बूकुमार की दीक्षा अत्यन्त महोत्सव से सम्पन्न हुई।

दीक्षा धारण कर जम्बूकुमार मुनि ने उग्र तपश्चरण कर कर्मों को खपाया। उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। केवली-पर्याय में कई वर्षों तक असंख्य जीवों को देशना देकर उन्होंने उन्हें आत्म-शुद्धि-साधना के पथ पर लगाया। वे भरत क्षेत्र के अन्तिम केवली हुए और अन्त समय में निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष पधारे।

आनन्द ही आनन्द !

□□

शुद्ध अभिग्रह पाली.....

(ढंढण मुनि)

आत्म-बन्धुओं !

जिनवाणी जन्म-जन्मान्तर के अशुभ कर्मों को तोड़ने में समर्थ है, आत्मा के साथ जो कर्म-पुद्गलों के परमाणु चिपके हुए हैं, उन्हें वह कुछ ही क्षणों में आत्मा से अलग कर सकती है। इसे श्रवण करने से पतित व्यक्ति भी पावन बन सकता है। भावों में चढ़ती परिणामधारा हो तो जन्म-जरा-मरण से मुक्ति भी पा सकता है। चार गति, चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकता हुआ, चौबीस दण्डक से दण्डित होता हुआ जीव जिन-वचनों के पालन से उस दण्ड से मुक्ति पा सकता है।

□ मनुष्य-भव और मनुष्यत्व

पूर्वभवों के संचित पुण्यों के फलस्वरूप आपको मानव-भव मिला है, उत्तम कुल व आर्य क्षेत्र मिला है, अमृतोपम जिनवाणी श्रवण का लाभ भी मिला है। इस पर भी यदि कोई श्रुतवाणी-श्रवण नहीं करता, अवसर का लाभ नहीं उठाता, प्रमाद में रहता हुआ व्यर्थ समय खो देता है तो समझ लीजिए उसका जन्म, मानव-भव आदि का मिलना व्यर्थ है। मनुष्य-भव पाकर भी मनुष्यत्व के गुणों का विकास यदि नहीं करता जीव तो फिर क्या अन्तर रहा पशु और मानव में ?

□ मनुष्यत्व (आत्मगुण) —घातक अन्तराय कर्म

इस जीव के साथ अनादिकाल से आठ कर्म लगे हुए हैं। इनमें आत्मगुणों का घात करने वाले चार घाती कर्मों में एक है—अन्तराय कर्म। गिनती में इसका स्थान आठ कर्मों में अन्तिम नम्बर पर है। अन्तराय का अर्थ है—विघ्न, बाधा, रुकावट। जीव अन्यान्य प्राणियों के लिए अन्तराय खड़ी करता है तो इस कर्म का बन्धन होता है। यह कर्म जीव की वीर्य शक्ति का घात करता है, उसके दान, लाभ, भोग आदि के उत्साह में बाधक बनता है। जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष, भण्डारी आदि याचक की धन—प्राप्ति में बाधक बन जाते

हैं, वैसे ही प्रचुर भोग की साधन-सामग्री होते हुए भी यह कर्म उनको भोगने में बाधक बन जाता है।

□ अन्तराय के पाँच प्रकार

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार से फल देता है—

(१) दानान्तराय—व्यक्ति के पास दान की सामग्री है, दानपात्र भी है, दान का अवसर भी आता है इस पर भी वह दान नहीं दे पाता, उसका उत्साह दान देने में नहीं बनता, यद्यपि वह दान देने के सुपरिणाम को जानता है। लक्ष्मीपति है, अरबों की सम्पत्ति है, पर वह तिजोरी में बन्द है। देना उसने कभी सीखा नहीं। जानता है कि जीवन क्षणिक है, यह भी जानता है कि लक्ष्मी चंचला है—कभी एक के पास नहीं रही, यह भी जानता है कि मरने पर धन साथ नहीं चलता—सब यहीं पड़ा रह जायेगा, पर दानान्तराय कर्म का उदय, अतः सुकृत में, शुभ कार्यों में एक पैसा भी नहीं खर्च किया जाता, नहीं दिया जाता। व्यापार में हजारों-लाखों की हानि सहन कर लेता है, पर दान देने की अभिलाषा नहीं जगती। मन में विचार आता भी हो तो हाथों पर जैसे यम बैठा है, उसके हाथ ही उसके शत्रु बन जाते हैं।

गुरुवर कहते हैं—“दान दो, अपने हाथों से दो, इस भव में दोगे तो वही कई गुणा होकर वापस मिलेगा।” पर दानान्तराय बाधक है, अतः देने का उत्साह नहीं बनता। कभी जीव सोचता भी है—‘मेरे मरने के पश्चात् दूसरे लोग मेरे ही धन का दान करेंगे, लेकिन उसका पुण्य-फल मुझे प्राप्त नहीं होगा’, पर फिर भी नहीं दे सकता।

[कथा-प्रसंग : राजा श्रेणिक का]

राजा श्रेणिक को भगवान महावीर से जब ज्ञात हुआ कि वह नर्क में जायेगा तो उसने प्रभु से कहा—“प्रभु ! मैं नर्क के भयंकर दुःखों को नहीं भोगना चाहता। कोई उपाय बताएँ जिससे मैं उनसे बच जाऊँ।”

इस पर श्रेणिक को प्रभु ने बताया कि “यदि तुम्हारी दासी कपिला स्वयं अपने हाथों से श्रद्धापूर्वक किसी सन्त-मुनिराज को दान दे तो तुम्हारा नर्क टल सकता है।”

बन्धुओं! प्रभु जानते थे कि ऐसा होगा नहीं। वैसे भी जैन सिद्धान्त है, जो जैसा करेगा वह वैसा भरेगा। दूसरे का किया अन्य के काम आने वाला नहीं है। शायद श्रेणिक भी जानता था, पर नर्क-बन्ध तोड़ने का अति उत्साह, अतः ज्ञान पर आवरण आ गया। उसने बुलाया कपिला दासी को और कहा उससे—“तू श्रद्धापूर्वक साधुओं को दान दे। मैं तुझे निहाल कर दूँगा।”

दासी थी कपिला। कोई अन्य दासी होती उसकी जगह तो धन-प्राप्ति के लोभ में अवश्य दान करती, पर कपिला ने राजा की बात, अपने स्वामी की बात मानने से इनकार कर दिया। उसने स्पष्ट कहा—“स्वामी! आप जो चाहें मैं वही काम कर दूँगी, पर साधुओं को दान तो मेरे ये हाथ नहीं दे सकते चाहे आप मुझे सोने से ही क्यों न मढ़ दें।”

इस पर राजा ने कपिला के हाथों में एक बड़ा चम्मच बँधवा दिया और जब कोई सन्त-मुनि उधर भिक्षार्थ आये तो उससे बलात् दान दिलाया। ऐसे में भी दान देती कपिला बोली—“यह दान मैं नहीं दे रही हूँ, यह दान तो मेरे हाथ से बँधा यह चम्मच दे रहा है।”

श्रेणिक ने सोचा था कि ‘दासी मेरी है, मेरा कहना मान लेगी। मैं आज्ञा दूँगा तो उसे माननी पड़ेगी। समझाऊँगा उसे कि साधु को, सुपात्र को दान देने से कितना महान् लाभ होता है!’

प्रेम से समझाने, डराने, धमकाने पर भी वह दासी किसी तरह दान देने के लिए तैयार नहीं हुई। उसे न नौकरी का डर और न क्रोधित राजा के द्वारा मिलने वाले दण्ड का डर। फाँसी लग सकती है, पर वह कपिला अपने हाथों द्वारा दान नहीं दे सकती। यह है तीव्र अन्तराय कर्म। टूट जाये यदि तो सुपात्रदान का लाभ मिल सकता है।

(२) **लाभान्तराय**—लाभ में अन्तराय आना, बाधा आना, रुकावट होना लाभान्तराय है। क्षेत्र चाहे सांसारिक हो या आध्यात्मिक, दोनों तरह की प्रवृत्तियों में लगे व्यक्तियों को उनके अपने-अपने क्षेत्र में जो लाभ प्राप्त होना है, उस लाभ में किसी भी कारण से ऐसी बाधा आना कि वह लाभ प्राप्त न हो सके। कारण? विगत भव। विगत के किसी भव में उसने किसी व्यक्ति को मिल रहे लाभ में रुकावट डाली। मिल रहा था उसे लाभ, पर उस समय कुछ ऐसा कारण उपस्थित कर दिया कि वह लाभ प्राप्त नहीं कर पाया। उस समय अन्तराय का बन्धन हुआ। जब उदय होने का समय आया तो उस अन्तराय के उदय से उस व्यक्ति को लाभ होता हुआ दिख रहा है, पर वह लाभ प्राप्त नहीं कर पाता।

[दृष्टान्त १]

मुनिराज गोचरी के लिए पधारे। दाता की भावना उत्तम है। सारे पदार्थ एषणीय, प्रासुक, कल्पनीय हैं। अचानक दाता के घुटने तक की ऊँचाई के ऊपर से कोई वस्तु गिर गई नीचे, घर असूझता हो गया। मुनि बिना कुछ लिए चले गये। यह सब हुआ मुनिवर के उस समय लाभान्तराय के उदय में आने के कारण! मुनि उस आहार लाभ-प्राप्ति से वंचित रह गये।

यह तो हुई आध्यात्मिक क्षेत्र की बात, अर्थात् हमारे क्षेत्र की बात। अब सांसारिक क्षेत्र की, अर्थात् आप लोगों के क्षेत्र की बात।

[दृष्टान्त २]

मान लीजिए किसी व्यवसायी ने वर्षभर बहुत अच्छा व्यवसाय किया। खूब परिश्रम, पुरुषार्थ किया। उसे प्रतिदिन लगता था कि धन्धा अच्छा चल रहा है, लाभ भी अच्छा होगा। वर्ष-समाप्ति पर खातेबन्दी और आँकड़ा तैयार करता है तो पता चलता है कि लाभ तो शून्य ही रहा, कोई नफा नहीं हुआ। कारण है व्यापारी के लाभान्तराय कर्म का उदय।

[दृष्टान्त ३]

अन्य किसी व्यापारी की बात। उसने लाभ का सौदा जानकर एक बहुत बड़ा सौदा कर डाला। लगता था अत्यधिक लाभ होगा, पर जिस दिन सौदा तय हुआ, उसी दिन भाव गिर गये और लाभ की जगह हानि उठानी पड़ी। यह लाभान्तराय के उदय के कारण हुआ।

□ अन्यान्य को अन्तराय मत दीजिए

बन्धुओं ! लाभ हमें भी चाहिए, आत्मा के गुणों की प्राप्ति का लाभ, कर्म-शत्रुओं के मिटने का लाभ, जन्म-मरण के घटने का लाभ पर या तो पुरुषार्थ में कमी या लाभान्तराय का उदय। आप भी व्यापारी हैं। व्यापार में लाभ पहली शर्त है। कब होगा यह लाभ? तब जब आप किसी अन्य को प्राप्त हो रहे लाभ में रोड़ा नहीं अटकाएँगे।

(३-४) भोगान्तराय—उपभोगान्तराय—भोग-सामग्री वह जो केवल एक बार काम आये, जैसे—भोजन, खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ आदि।

उपभोग्य पदार्थ वे जो बार-बार काम आएँ, जैसे—मकान, दुकान, कपड़े, गहने आदि।

[दृष्टान्त १]

भोग-उपभोग के अनेक साधन, अनेक सामग्रियाँ व्यक्ति के पास हैं, पर वह उन्हें भोग नहीं पाता, उनका उपभोग नहीं कर पाता। घर में गाये हैं, भैंसे हैं, बिलोवणा होता है, शुद्ध देशी घी की कमी नहीं पर डॉक्टर ने कह दिया कि घी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, ब्लड-प्रेसर हाई हो जायेगा, हार्ट पर असर होगा, मौत का शिकजा कस सकता है तो क्या करेंगे? घी खाएँगे? नहीं खाएँगे।

[दृष्टान्त २]

नया मकान है, बहुत शौक से बनाया। अन्दर गेस्ट रूम है, स्टडी रूम है, स्लीपिंग रूम है, स्टैंडिंग किचन है, लेट्रिन-बाथ अटेच रूम है, अलग लेट्रिन-बाथरूम है, छोटा-सा उद्यान है, एक तरण-ताल भी है, पर अन्दर प्रेत-बाधा है, डर लगता है, डरावनी आवाजें आती हैं, अतः मजबूरी है दूसरे मकान में जाना पड़ा, रहना पड़ रहा है।

भोग-उपभोग में कभी किसी भव में बाधा डाली, परिणाम यहाँ तैयार है।

[दृष्टान्त ३]

बन्धुओं ! नादानी में या अज्ञान के कारण अनेक बार जो दयाव्रत करते हैं, उनके लिए कह दिया जाता है—“अमुक ने दया नहीं की, ऐसे ही खाना खा लिया।” पूछते हैं—“कहाँ से आये, किसके हो, कब दया ली?”—निकाल देते हैं उन्हें बाहर। यह अवरोध नहीं तो क्या है? सोचना तो यह चाहिए कि एक साधर्मिक भाई खाना खाने आया है, खा रहा है तो अच्छा ही है। ठीक है, नहीं है उसके दया पर कोई तो कारण होगा उसके आने का? आप कहेंगे कि महाराज! कई लोग तो आदतन आते हैं, खाना खाते हैं, चले जाते हैं। हो सकता है आप ठीक कहते हों, पर फर्क क्या पड़ेगा? है तो वह साधर्मिक बन्धु ही न। उसकी भावना वह जाने पर आप तो चढ़ते भाव रखिए, शुभ परिणाम रखिए।

[दृष्टान्त ४]

कुछ व्यक्ति प्रभावना देने का विरोध करते हैं, टीका-टिप्पणी करते हैं। प्रभावना देना-न देना आप श्रावकों का काम है। हम मुनि नहीं कहते कि आप प्रभावना दो, पर यदि आपका देने का मानस है तो हम क्यों रोकेंगे? देने वाले आप, लेने वाले आपके साधर्मिक भाई। देने वाला यह सोचकर दे कि परिग्रह घटना है, साधर्मिक भाई-बहनों की सेवा करूँ, उनका सत्कार-सम्मान करूँ! ऐसे व्यक्ति को उसकी अपनी शुभ भावना का तो लाभ ही मिलने वाला है, पर जो इस कार्य में रुकावट डालते हैं, उन्हें तो अन्तराय का बंध निश्चित है।

(५) वीर्यान्तराय—शक्ति और सामर्थ्य को काम में लेना, पराक्रम फोड़ना। ‘चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणि’ पद में ‘संजमम्मि य वीरियं’ को परम दुर्लभ बताया है, अर्थात् व्यक्ति मानव-भव प्राप्त कर ले, सूत्ररूपी जिनवाणी का श्रवण भी कर ले, उस पर मनन-चिन्तन द्वारा श्रद्धा भी आ जाये तो भी संयम में वीर्य अर्थात् पराक्रम फोड़ना सर्वाधिक दुर्लभ कार्य है। आप श्रावक-श्राविका हैं तो आपका दायित्व, आपका कर्तव्य है—व्रत, प्रत्याख्यान में पराक्रम फोड़ना। नहीं कर सके व्रतादि तो यह वीर्यान्तराय का उदय है।

□ बहाने मत बनाइए

गुरुदेव कहते हैं—“श्रावक जी ! सामायिक किया करो।”

उत्तर मिला—“महाराज ! विवशता है, स्वास्थ्य साथ नहीं देता, बैठा नहीं रह सकता।”

गुरुदेव पधारते हैं गोचरी के लिए तो देखते हैं कि वही व्यक्ति जो सामायिक इस कारण नहीं कर सकता कि बैठा नहीं जाता, सरे बाजार में, दुकान की चबूतरी पर बड़ी शान से बैठा हुआ ताश खेल रहा है। पूछा साथ चल रहे व्यक्ति से कि “अमुक व्यक्ति ही है न जो ताश खेल रहा है?”

बताया गया कि “वही है। हमेशा ही घण्टों ताश खेलता है।”

बन्धुओं! ताश के पत्तों में, टी. वी. के सीरियलों में, पिक्चर देखने में कितने समय तक एकाग्र बैठे रह जाते हैं, पर धर्मकरणी की बात आते ही सारी बीमारियाँ याद आ जाती हैं। तीन घण्टे की पिक्चर पर पानी पीने या मूत्र-विसर्जन हेतु भी उठने तक का नाम नहीं। पाप-कार्यों में तो यह हालत, पर यदि धर्म के कार्यों में लगना हो तो दस बार हिलेंगे, ऊपर-नीचे होंगे, मन चहुँदिस में निरन्तर घूमेगा। यहाँ आप वीर्यान्तराय का बन्धन कर लेंगे फिर जब उदय में आयेगा यह कर्म तो संयम में या व्रतादि में पराक्रम फोड़ने की सामर्थ्य ही प्राप्त नहीं होगी।

□ शुभ और शुद्ध भाव, चढ़ते हुए भाव रखिए

अतः बन्धुओं! अपने हाथों से भावों की निर्मलता के साथ दान देने की आदत डालिए। दूसरों को लाभ में देखकर ईर्ष्या मत करिए अपितु प्रसन्न बनिए कि मेरे एक साधर्मिक भाई ने कितनी तरक्की की है। मुनियों व साधर्मिकों को आहार, पानी, वस्त्र, शय्या, भवन (स्थान) आदि का दान करिए; व्रत-प्रत्याख्यान के लिए सभी में प्रेरणा का बीज वपन करिए। परिग्रह की मर्यादा करिए। चतुर्विध संघ की हर तरह से सेवा करिए। व्रत-प्रत्याख्यान के लिए प्रेरणा दीजिए। आध्यात्मिक व संस्कार शिविरों में बच्चों को जाने के लिए प्रोत्साहित कीजिए।

□ पुण्यवानी उत्कृष्ट पर तीव्र अन्तराय बंध भी (मुनि ढंढण)

तीव्र अन्तराय कर्म उदय में आया था ढंढण मुनि के, पर वाह रे दृढ़ संयमात्मा ! तनिक भी घबराए नहीं। यही चिन्तन कि ‘मैंने किये उन्हें मैं भोग रहा हूँ।’ ऐसे वैसे व्यक्ति नहीं थे ढंढण मुनि। त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण के पुत्र थे ढंढणकुमार। इस अवसर्पिणी के अन्तिम वासुदेव थे श्रीकृष्ण! अपार वैभव, सम्पत्ति, राज्यसुख, सम्पदा! सैकड़ों दास-दासी,

नौकर-चाकर! ये सभी ढंढणकुमार को सहज में उपलब्ध थे। कैसी उत्कृष्ट पुण्यवानी उनकी, पर साथ में अशुभ कर्मरूपी पाप का संचय भी।

□ अन्तराय की पाँच प्रकृतियों का साथ-साथ बंध व साथ-साथ फल

बन्धुओं! आप जानते हैं कि अन्तराय कर्म आत्मा के गुणों का घात करने वाला घाती कर्म है। इसके पाँच भेदों में से किसी एक भी भेद का बंध जब होता है तो साथ ही इसके सभी भेदों का बंध हो सकता है। कोई जीव दानान्तराय कर्म बाँधेगा तो स्वतः लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय व वीर्यान्तराय का भी बंध सम्भव है। इसी तरह लाभान्तराय आदि के बंध के साथ अन्य का बंध भी सम्भाव्य है।

कर्मभोग के समय भी यही स्थिति बनती है। जीव अन्तराय कर्म के फल को भोगते समय उसके सभी भेदों का फल साथ-साथ भोगता है और भेदों की निर्जरा भी साथ-साथ ही होती रहती है।

[दृष्टान्त १]

इन दोनों बातों को उदाहरण देकर समझा देता हूँ। मान लीजिए एक व्यक्ति शुभ भावों से योग्य उत्तम पात्र को आहार या अन्य वस्तु दान दे रहा है। तभी उसका घनिष्ठ मित्र या सम्बन्धी आता है और कहता है—“अरे! यह किसको दान दे रहा है। कोई लाभ नहीं इसको दान देने से। ऐसों को दान दिया व्यर्थ जाता है।”

देने वाले की भावना में उन बातों को सुन परिवर्तन आ जाता है और वह दान लेने वाले को स्पष्ट इनकार कर देता है। कह देता है कि “जाइए यहाँ से, मुझे कुछ भी नहीं देना है।”

अब जिसने दान देने से मना किया उसके व जिसने दान देने के भाव में परिवर्तन से दान देने से इनकार किया उसके, दोनों के दानान्तराय का बंध सम्भावित है।

जो व्यक्ति दान दे रहा था, दान देने के फलस्वरूप उसे जिस पुण्यबंध का या निर्जरा का लाभ होता चूँकि उसने दान नहीं दिया, अतः वह लाभ नहीं होगा, अपितु हो सकता लाभान्तराय का बंध हो जाए। जिसने मना किया वह तो देने वाले के लाभ में बाधक बना, अतः लाभान्तराय का भागी हो ही सकता है।

दान में दी जाने वाली वस्तु का दान पाने वाला भोग-उपभोग करता, पर दान नहीं मिला तो उसके भोग-उपभोग में बाधा उत्पन्न हुई। इस दृष्टि से मना करने वाले व दान देने से मानस में परिवर्तन जिसके आया—दोनों के भोगान्तराय-उपभोगान्तराय का बंध सम्भाव्य है।

दान पाने वाला दान प्राप्त करने के पश्चात् अपने उद्यम में लगता, पर दान प्राप्त नहीं होने से वह ऐसा नहीं कर सका। इस दृष्टि से और दानदाता दान देने में जो उद्यम कर रहा था, एक शुभ कार्य में वह पुरुषार्थ कर रहा था, अपना पराक्रम फोड़ रहा था उसमें बाधा आई, अतः दोनों ही **वीर्यान्तराय** के भागी बन सकते हैं।

[दृष्टान्त २]

मुनि ढंढणकुमार ने जिनका प्रसंग आज चलेगा, अपने लाखों से भी अधिक पूर्व के किसी भव में पाँच सौ भूखे किसानों व पाँच सौ जोड़ी बैलों को भोजन-पानी करने से रोककर तीव्र **अन्तराय कर्म** का बंध किया। उन्हें भोजन-पानी का भोग करने से रोका था, अतः भोगान्तराय का बंध हुआ। भोजन पाने पर उन्हें (किसानों व बैलों को) जिस सन्तुष्टि की अनुभूति होती और भोजन लाने वाले को जिस लाभ की प्राप्ति होती उस दृष्टि से **लाभान्तराय** का, भूखे ही कार्य में लग जाने से अशुभ भावों के साथ पुरुषार्थ अतः **वीर्यान्तराय** और भोजन लाने वाले से लाये भोजन को रोके रखा, अतः **दानान्तराय** का बंध भी हो गया।

मुनि बनने पर दानान्तराय के कारण उन्हें आहारदान नहीं मिलता था। दानान्तराय का उदय इतना तीव्र था कि देने वालों के भी **दानान्तराय** का उदय हो जाता है और वे दान नहीं दे पाते थे। मुनि को आहार-पानी का लाभ नहीं मिल पाना उनके **लाभान्तराय** के उदय के कारण से भी था। गोचरी नहीं मिलती तो उसे भोगने, अर्थात् खाने का प्रश्न ही नहीं, तप में ही दिन बीतते, यह **भोग-उपभोग अन्तराय** के उदय के कारण था। **वीर्यान्तराय** का उदय तो था ही, उसी को तोड़ने के लिए वे अभिग्रह धारण किए हुए थे।

इतना तीव्र था उनका अन्तराय-उदय कि उनके साथ कोई मुनि जाते तो उन्हें भी गोचरी का लाभ नहीं मिल पाता। ढंढण मुनि को अन्य कोई मुनि यह कहते कि आप मत जाएँ, हम आपके लिए गोचरी ले आएँगे। उनके निमित्त गोचरी जाते जो मुनिराज तो उनको भी गोचरी का लाभ नहीं मिल पाता था।

□ ज्ञानी समभाव के कारण नवीन कर्मबन्ध नहीं करते !

चढ़ती हुई पुण्यवानी के चलते कब पापकर्म उदय में आ जाएँ? पता नहीं चलता! किसी भी पल, किसी भी क्षण उदय में आ सकते हैं। जो ज्ञानी हैं, वे तो उनका चिन्तन कर तपाराधन आदि के द्वारा उन्हें निर्जरित कर लेते हैं, पर जो अज्ञानी जीव हैं वे रोते हैं, बिलखते हैं, हाय-त्राय करते हैं और आर्त्तध्यान के कारण नवीन कर्मों का बंध कर लेते हैं।

□ कृष्णराय ना नन्द (ढंढणकुमार)

ढंढणकुमार के था अन्तराय का तीव्रतम बंध, पर उन्हें अपने पराक्रम पर विश्वास था। लिया संयम, किया तप, बने रहे सहनशील और शुद्ध अभिग्रह का पालन कर चढ़ते परिणामों से भव-फंद को मिटा दिया। इन्हीं ढंढण मुनि के पद-चरणों में भावाञ्जलि अर्पित करते हुए पूज्य आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. अपनी कालजयी रचना 'बड़ी साधु वन्दना' में कहते हैं—

धन ढंढण मुनिवर, कृष्णराय ना नन्द।
शुद्ध अभिग्रह पाली, टाल दियो भव-फंद॥१४॥

श्रीकृष्ण महाराज की अत्यन्त रूपवती रानी ढंढणा का पुत्र ढंढण भी अत्यन्त सुन्दर और रूपवान था। कुछ बड़ा होने पर ढंढणकुमार को विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेजा गया, जहाँ रहकर ढंढणकुमार ने बहत्तर कलाओं में प्रवीणता प्राप्त की।

□ ढंढणकुमार को वैराग्योत्पत्ति

एक बार अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका पधारे। वासुदेव श्रीकृष्ण के साथ ढंढणकुमार भी प्रभु को वन्दन-नमन करने गये। प्रभु के दर्शन कर मन में हर्ष का अनुभव किया। प्रभु ने धर्मदेशना देकर सभी को प्रतिबोधित किया। ढंढण ने भी प्रभु-वाणी सुनी और चिन्तन-मनन करने लगे। “प्रभु सत्य कहते हैं, यह जीवात्मा कितने-कितने भवों से संसार-परिभ्रमण कर रहा है। क्या रखा है इस संसार में? जल रहा है यह विषय-वासनाओं व कषायों की आग में। मेरी आत्मा भी जल रही है। मुझे निकलना है इस आग से।” चरम सीमा पर पहुँचता है चिन्तन तो आत्मा उद्वेलित हो उठती है। भावनाओं में विराग आ बसता है। वहाँ के धर्ममय वातावरण से उठने की इच्छा ही नहीं होती।

□ दीक्षाभिलाषा

देशना-समाप्ति पर श्रीकृष्ण उठते हैं, उनके साथ आये हुए राज-परिवार के सदस्य, राज्याधिकारी आदि भी उठ जाते हैं, द्वारिका के अन्य प्रजाजन भी उठ खड़े होते हैं, पर ढंढण बैठे रहते हैं। सभी वन्दना कर अपने-अपने घरों, भवनों, महलों की ओर चल देते हैं, पर ढंढण नहीं उठते। जब उठते हैं तो सभी जा चुके होते हैं, देशना समाप्त हो चुकी होती है। ढंढणकुमार आते हैं प्रभु के निकट, करते हैं सविधि वन्दन और कहते हैं—“प्रभो! अपनी आत्मा की शान्ति और कल्याण के लिए मैं आपके बतलाए पथ पर चलना चाहता हूँ, मुंडित होना चाहता हूँ, दीक्षा लेकर श्रमण-पर्याय पालन करना चाहता हूँ।”

प्रभु कहते हैं—“अहा सुहं देवाणुप्पिया !”

“हे देवानुप्रिय, तुम्हारी आत्मा को जिस प्रकार सुख मिले वैसा करो।”

□ ‘अहा सुहं’, जिससे आत्मा सुखी हो

प्रभु ने कहा—“देवानुप्रिय! जैसा तुम्हारी आत्मा को सुख प्राप्त हो वैसा करो, पर धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।” आगम-कथन है कि जैसा तुम्हें सुख उपजे वैसा करो। आपसे कह दें यह बात तो किस सुख की बात आयेगी आपके दिलोदिमाग में? आप चाहेंगे शारीरिक सुख, आप कल्पना करेंगे भौतिक सुखों की, आपके मन में अच्छे भोजन, टी. वी., एयरकण्डीशन, वाशिंग मशीन आदि की चाह जग उठेगी। स्वस्थ रहने, आधि-व्याधि न होने, सुख-सामग्रियों को भोग सकने की सामर्थ्य चाहेंगे आप। बन्धुओं! यह सुख वास्तविक सुख नहीं है, अन्त में दुःखरूप है। जहाँ शरीर-सुख वहाँ आत्मा को दुःख।

प्रभु के कथन में निहित भाव पर ध्यान दीजिए। यदि आप शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को यत्किंचित् भी जानते हैं तो आप इसे समझ सकेंगे।

□ तप से होती है आत्मा सुखी

प्रभु ने ढंढणकुमार से कहा—“जैसा सुख उपजे”—यहाँ सुख का तात्पर्य आत्म-सुख से है। कैसे सुख प्राप्त होगा आत्मा को? छह प्रकार का बाह्य तप, छह प्रकार का आभ्यन्तर तप करने से, शीत-उष्ण आतापना लेने से, परीषहों को सहन करने से। आत्मा दुःखी है कर्म-पुद्गलों से, अतः तप से उन पुद्गलों को आत्मा से दूर कर दीजिए। कहा भी है—

ज्यों सोना अग्नि में तप कर निर्मल है बन जाता।

त्यों तप की अग्नि में तप कर कर्म-मैल धुल जाता॥

मेरे बन्धु ! तप सहज मुक्ति का द्वार है॥

देह दुःखं, आत्म-सुहं! ममत्व का त्याग, इन्द्रिय-विषय नियन्त्रण, अनशनादिक तप से कुछ कष्ट, पीड़ा तो होगी ही, पर आत्मा को इससे सुख प्राप्त होगा, शान्ति मिलेगी। शरीर-सुख का क्या? तिर्यञ्च भी चाह रखते हैं और उसके लिए पराक्रम करते हैं। धूप आ गई, तपन महसूस हो रही है तो उठकर छाया में जा बैठेंगे। भूख-प्यास लगी तो उठकर भोजन-पानी की तलाश में घूमेंगे। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ ही शरीर-सुख के लिए होती हैं। मानव भी केवल शरीर-सुख तक अपनी प्रवृत्तियों को सीमित रखे तो पशु में और उसमें क्या अन्तर रहा?

□ ढंढणकुमार का आत्मोन्मुखी चिन्तन

ढंढणकुमार ने भी सुनी एक पंक्ति—“अहा सुहं देवाणुप्पिया!”—“मैंने संयम लेने की बात की, उस सन्दर्भ में प्रभु ने कही यह पंक्ति। बस, चिन्तन प्रारम्भ हो गया। शारीरिक सुख-सामग्री तो मेरे पास भरपूर है, अतः यहाँ शरीर-सुख का कथन तो हो नहीं सकता फिर किसके सुख की बात कही प्रभु ने? बाह्य सुख, भोग्य-पदार्थ, स्वादिष्ट भोजन की बात तो नहीं हो सकती।”

शरीर के अतिरिक्त क्या है, कौन है? तभी ध्यान आता है ‘आत्मा’ का। आत्मा अलग, शरीर अलग। आत्म-सुख की बात कही प्रभु ने। कैसे मिलेगा आत्म-सुख? जहाँ शरीर-सुख नहीं, वहाँ आत्म-सुख होगा। छोड़ना होगा इस संसार को, संयमित बनाना होगा इन्द्रियों को। ऊणोदरी, अनशन, उपवास, बेला तप करना होगा। भोजन से शरीर सुखी, तप से आत्मा सुखी। तप के साथ कषायों का शमन जरूरी। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में मर्यादा, उपयोग, विवेक आवश्यक। विवेक होगा तभी दुःख मिटेगा। प्रभु ने कहा है ऐसा तो मुझे अब आत्म-सुख के लिए प्रयत्नशील बनना है।

□ वर्तमान मानव भौतिक सुखों के पीछे

ढंढणकुमार के चिन्तन की तरह आपका चिन्तन नहीं बन पाता कभी। आपको तो भौतिक सुख-समृद्धि चाहिए। आस-पड़ोस में कैसे कपड़े, कैसे साड़ियाँ, कैसे आभूषण? उनसे बहुमूल्य, इक्कीस होने चाहिए आपके पास अन्यथा मजा ही किरकिरा। अमुक के तो विदेशी कार आ गई। सुना आपने, देखा उस कार को। अब आपको अपनी कार खटारा लगने लगी, खटकने लगी। उस विदेशी कार से बढ़िया कार की तलाश प्रारम्भ कर दी आपने।

□ भौतिक सुख भावी दुःख के कारणभूत

तृष्णाओं का अन्त नहीं और प्रतिस्पर्धा में आप आगे रहना चाहते हैं। इसके लिए आपने नैतिकता को भी ताक पर रख दिया, करने लगे सारे व्यवसाय अनैतिकता के साथ। कारण? आगे बढ़ना है आपको। यही है आपका सुख। जानते हैं आप कि कुछ क्षणों का सुख है और बाद में तो दुःख ही है। उस बिल्ली की तरह चिन्तन आपका, जिसकी नजर दूध के भरे कढ़ाव पर। दूध भी कैसा? जिसके ऊपर मलाई आई हुई। देख रही है मलाई को, उसकी सुगन्ध जा रही है नथुनों में और वह सुगन्ध आकर्षित कर रही है उसे कढ़ाव की तरफ। पास में पड़ा डण्डा उसे नजर नहीं आता। दबे पाँव जाती है, डालती है मलाई में मुँह और तभी पड़ता है एक जोर का डण्डा। बड़ी दुःख भरी म्याऊँ की चीख निकलती है मुँह से। अब हुआ दुःख पर तब ध्यान क्यों नहीं रखा डण्डे का?

□ पीढ़ियों तक दुःख व्याप्त रहेगा

व्यक्ति भी भूल जाता है शरीर-सुख के साथ पाप के डण्डे का दुःख। ध्यान जो नहीं रखा तो दुःख भोगना पड़ेगा। यह पाप का डण्डा आप तक ही सीमित नहीं, परिणाम इसका भावी पीढ़ियों तक भी रहेगा। करते हैं छोटे काम बड़े लोग, देखते हैं बच्चे तो सीख लेते हैं और करते हैं अनुकरण। पड़ जाते हैं वे ही संस्कार। कहीं माता-पिता-बुजुर्ग यदि घर-बाहर में गाली-गलौज के साथ बात करने के अभ्यस्त तो बच्चे भी सीखेंगे बुरी-बुरी गालियाँ देना और उनकी हर बात गाली के साथ प्रारम्भ होगी, गाली के साथ समाप्त। एक व्यक्ति के घर का रहन-सहन, खान-पान ठीक नहीं, दूषित है, दूसरे के घर अनुशासन नहीं, बड़ों की मर्यादा नहीं, कोई कायदा आदर-भाव नहीं तो आने वाली पीढ़ी भी वैसी ही बनेगी, बुजुर्गों का अनुसरण करेगी।

[सत्य घटना]

पाकिस्तान हमारा पड़ोसी देश। कभी न्यूज-पेपर में वहाँ की एक घटित घटना प्रकाशित हुई थी। एक पाकिस्तानी मुस्लिम व्यक्ति माँस खाने के लिए बाजार से जीवित मुर्गी खरीदकर लाता है। घर आकर अन्दर से कटार निकालता है और छत पर चला जाता है। पिता के पीछे-पीछे उसके दो बाल-पुत्र भी छत पर आ जाते हैं। वह व्यक्ति कटार लेकर मुर्गी को हलाल करना प्रारम्भ करता है। धीरे-धीरे दुःख देते हुए, तड़पा-तड़पाकर मारने का तरीका है हलाल करना। वह मुर्गी तड़पती है, बड़ी दर्दिली ध्वनियों में अपनी 'कूकड़-कूं, कूकड़-कूं' की आवाज निकालती है, फड़फड़ाती है, पर कटार फेरने वाले के दिल में रंच मात्र भी करुणाभाव नहीं, दया नहीं, अनुकम्पा नहीं।

मुर्गी की उस छटपटाहट को दोनों बाल-पुत्र देख रहे थे। एक की आयु आठ-नौ वर्ष की और दूसरे की चार-चाढ़े चार वर्ष की। वह तड़फ, वह क्रन्दन, वह चीख बच्चों के मन पर विचित्र प्रभाव पैदा कर रही थी। तभी उस व्यक्ति को नीचे से किसी ने आवाज दी। व्यक्ति उससे मिलने गया नीचे। मित्र था, मिल-बैठकर बातें करने लगे दोनों। समय व्यतीत होने लगा बातों में।

उधर बड़े लड़के ने उठाया कटारनुमा छुरा और चलाया मुर्गी पर। मर चुकी थी मुर्गी, अतः अब न चीख, न तड़फ। बिना चीख, बिना तड़फ के बालक को छुरा चलाने का आनन्द नहीं आया। मिथ्यात्व जिसके तीव्रता के साथ उदय में आता है, उसे पीड़ा पहुँचाने में, तड़फ देखने में आनन्द का अनुभव होता है। गली, मोहल्ले में कभी देखा होगा आपने, बच्चे

अज्ञानवश कुत्तों की टाँग खींचते हैं। कुत्ते 'चूँ-चूँ' की दर्द भरी आवाज निकालते हैं। वे बच्चे हँसते हैं, खिलखिलाते हैं और अधिक टाँगें पकड़ खींचते हैं, उन्हें कष्ट देते हैं, स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं। दीपावली के दिनों में ऐसे ही शैतान बच्चे कुत्तों की पूँछ में लड़ालड़ के पटाखे बाँधकर आग दिखा देते हैं। आवाजें होती हैं, चिनगारियाँ निकलती हैं, अतः वह कुत्ता बेचारा चीखता, चिल्लाता है, दौड़ता-भागता है, भयभीत हो घबरा जाता है। उसे ऐसा करते देख बच्चे तालियाँ पीटते हैं, खिलखिलाकर हँसते हैं। उनका वही आनन्द है। अज्ञानवश ऐसे कार्यों से कर्मबन्ध तीव्र होता है। रो-रो के भोगने से भी छुटकारा नहीं होता। बड़े-बड़े व्यक्ति भी इस तरह के कार्य करते हैं और कर्मबन्धन के भागी होते हैं। शिष्ट और सभ्य व्यक्ति भी कई बार बच्चों को टॉफी दिखाते हैं और कहते हैं—“लो, टॉफी खा लो।” वे आते हैं, टॉफी लेने को हाथ बढ़ाते हैं तो आप हाथ पीछे खींच लेते हैं। बच्चा चिढ़कर हाथ-त्राय करता है, चिल्लाता है, रोता है। वे फिर चिढ़ाते हैं, फिर हाथ खींचते हैं और हँसते हैं। नहीं जानते वे कि उनका यह कर्म उनके लिए बाद में कितना कष्टकारी बनेगा। मनोरंजन तो होता है उनका थोड़ा-सा पर लम्बे समय का कर्मबन्धन हो जाता है।

उस मुर्गी पर कटार चलाने पर भी चीख नहीं हुई। प्रतिक्रिया नहीं तो आनन्द नहीं। बालक देखता है इधर-उधर। कोई दूसरी मुर्गी उसे नहीं दिखाई देती। क्या करना अब? देखा छोटे भाई को, पकड़ा उसे, गर्दन पकड़कर नीचे की ओर चला दिया छुरा। दर्द से छोटा भाई चीखने लगा, तड़फड़ाहट करने लगा। जोर से चीखा तो बड़े बच्चे ने मुँह पर हाथ रख दिया और चलाया फिर छुरा। छटपटाहट, तड़फन, गले से 'हूँ-हूँ' की आवाज से आनन्द आया। चलाता रहा छुरे को। गर्दन आधी कट गई। खून ही खून बहने लगा। कुछ ही देर में सब कुछ शान्त। छोटे बच्चे के प्राण निकल गये। बड़ा भाई देखता है उसे, न हिलना, न डुलना, न बोलना। घबरा गया वह। सोचा—‘अब्बूजान डँटेंगे मुझे।’ हड़बड़ाहट में दौड़ा, छत नीची थी, गिर गया तीन मंजिल से।

पिता नीचे ही था। देखा यह दृश्य तो चीख निकल गई हलक से। चिल्लाकर बीबी को आवाज दी। पत्नी उस समय छह मास के बच्चे को नहला रही थी, वहीं से चिल्लाई—“क्या है?” मियाँ ने कहा—“देखो तो, मुन्ना गिर गया।” बीबी आई दौड़कर, देखा उस मुन्ने को तो चक्कर आ गया, मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ी।

पति उसे होश में लाने के प्रयत्न करता है। पत्नी को कुछ समय पश्चात् होश आता है और याद आती है तीसरे मुन्ने की। चीखती है वह—“अरे मेरा तीसरा मुन्ना!” भागी वह उठकर। नल चालू छोड़कर गई थी, अतः टब भर गया। बच्चा उसी में था। आकर देखा तो

पानी के भीतर। बाहर खींचा उसे तो श्वास बंद हो चुकी थी। मुर्गी हलाल करने व उसकी तड़फ में आनंद लेने के दृश्य ने तीन बेटों की जान ले ली। **पाप का फल कितना त्वरित भी मिल सकता है !**

□ शरीर साध्य नहीं, साधन है आत्म-साधना का

साधक का लक्ष्य कभी शरीर नहीं होता। वह तो साधना के पथ पर कदम ही तभी रखता है, जब उसके शरीर में आसक्ति नहीं रहती। साधक शरीर को साधना का साधन मात्र मानता है। साध्य तक, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ही वह शरीर का यथावश्यक ध्यान रखता है। आगमवेत्ताओं ने कहा— “साधक शरीर की उतनी ही सार-सँभाल करे कि वह साधना के योग्य बना रहे, उससे अधिक नहीं।”

□ धर्मकार्य में विलम्ब न हो, मन बदल भी सकता है

ढंढणकुमार ने आत्मा के सुख पर चिन्तन करते हुए—“**मा पडिबंध करेइ**” शब्दों पर भी विचार किया। प्रभु ने कहा—“**प्रमाद मत करो।**” अच्छे कार्य का विचार जब चिन्तन में उभरे तो विलम्ब या आलस्य कार्यसिद्धि में बाधक बन सकता है। चित्त चंचल है, इस पल मन की गति अध्यात्म में तो दूसरे ही पल परिवर्तित होकर संसार की ओर उन्मुख हो सकती है। चित्त की गति ही ऐसी है। “पलक-पलक में और” वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला है मन। उक्ति बनी ही मन के लिए है। जब तक जीव विभाव में रमण करता है, वह धर्मकार्य में प्रमादी बना रहता है और सांसारिक कार्यों में एकदम चुस्त-दुरुस्त रहता है। प्रभु का तो पल-पल आत्म-साधना के लिए व जन-जन को आत्म-सुख का पथ बतलाने के लिए है, अतः वे कहते हैं—“**धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।**”

दीक्षार्थ अभिलाषा प्रकट करने पर प्रभु के श्रीमुख से निकली दोनों ही बातें अति महत्त्वपूर्ण हैं। एक तरह से सम्पूर्ण आगमसूत्रों का निचोड़ इन दो वाक्यों में समा गया है। साधक इन पर चिन्तन करे और इन्हें जीवन में उतार ले तो उसका संसार-भ्रमण मिट जाएगा, जन्म-मरण का चक्र सदैव के लिए बंद हो जायेगा, समस्त सांसारिक दुःखों से सर्वथा मुक्ति मिल जायेगी।

□ दीक्षानुमति की प्रार्थना

ढंढणकुमार प्रभु से इन दो वाक्यों को सुन, गहन चिन्तन करते हुए अपने राजमहलों में आते हैं और कहते हैं अपने पिता वासुदेव श्रीकृष्ण से कि “मैं सांसारिक समस्त सम्बन्धों को स्वार्थमय व झूठा मानकर इन्हें त्यागना चाहता हूँ, भोग व वैभव के इस अम्बार से मुझे अरुचि

उत्पन्न हो गई है, मन में वीतराग वाणी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है, विरक्त बन गया है मेरा मन और दीक्षा लेकर संयम-पालन की अभिलाषा करने लगा है। आप मुझे दीक्षा लेने की सहर्ष अनुमति प्रदान कीजिए।”

□ दीक्षानुमति सहज नहीं

दीक्षा की अनुमति आसानी से नहीं मिलती। अति दुष्कर है मोह का त्याग। फिर भय भी रहता है कि कहीं उमंग-उमंग में दीक्षा तो ले रहा है, पर पालन कर पायेगा या नहीं। जैन-दीक्षा-पालन साधारण कार्य नहीं है। संयम के इस पथ को अनेक स्थानों पर खांडे (तलवार) की तेज धार पर चलने से और दौंतों से लोहे के चने चबाने से भी अधिक कठिन माना है।

□ शिथिलाचार का उपक्रम कैसे प्रारम्भ होता है?

आज के कई श्रावकगण जो अपने आपको दृढ़ गुरुभक्त मानते हैं, अपनी भक्ति के रंग में आकर संयम के रंग में भंग करने से नहीं चूकते। कह देते हैं—“गुरुदेव! हम तो आपके खास श्रावक हैं। जो भी बात कहनी है, आप हमसे और हम आपसे नहीं कहेंगे तो कैसे चलेगा? समय बदल गया है, जमाना कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। महावीर प्रभु ने भी पार्श्व प्रभु के चातुर्याम रूप धर्म में समयानुकूल परिवर्तन कर पंच-महाव्रत धर्म का निरूपण किया था। आप तो आज्ञा दें, बात हम दोनों तक ही सीमित रहेगी, कहीं बाहर नहीं जायेगी। हम हैं किसलिए? बात अन्दर ही अन्दर दबा देंगे। जो आवश्यकता हो कहिए। जैसा कहें, वैसा प्रबन्ध हो जायेगा।”—ये श्रावक चाहते हैं कि उनके गुरुदेव भी आचार में शिथिल बन जाएँ फिर ये हमें कठिन व्रत, प्रत्याख्यान, तप की राह नहीं दिखा पाएँगे।

□ हम तो डूबेंगे गुरुवर, आपको भी ले डूबेंगे

बन्धुओं! साधु और श्रावक का अनादिकाल से सम्बन्ध है। प्रभु ने कहा—“ये सम्बन्ध कभी तोड़ोगे नहीं।”

और आप भी कह रहे हैं—“ये सम्बन्ध तोड़ेंगे नहीं। हम तो डूबेंगे, साथ ही आपको भी ले डूबेंगे।”

प्रभु ने कहा—“श्रावक ‘अम्मापियरो’ अर्थात् माता-पिता हैं।”

आपने कहा—“प्रभु ने हमें माता-पिता बनाया है, अतः आप वैसा ही करो, जैसा हम कहते हैं।” पर आपका यह चिन्तन सही नहीं है। मूल में ही भूल है। आप माता-पिता अवश्य हैं, पर श्रमण-श्रमणी के नहीं अपितु महाव्रतों के, श्रमणाचार के, संयम-संकल्पों के माता-पिता

हैं। श्रमण-श्रमणियों के माता-पिता बन गये यदि तो जिन साधकों ने एक माँ-बाप को त्यागा, उनके तो अनेक माता-पिता हो जाएँगे। यह सम्बन्ध तो मोह की वृद्धि करने वाला बन जायेगा। श्रावक-श्राविकाओं को चाहिए कि यदि कोई श्रमण-श्रमणी श्रमणाचार-पालन में शिथिल होता है, अपने पथ से विचलित होता है तो उसे विनयपूर्वक समझाकर पुनः व्रतों में, संयम में स्थिर करें।

□ श्रीकृष्ण द्वारा ढंढणकुमार के वैराग्य की परीक्षा

वासुदेव श्रीकृष्ण का मन जानता था कि कुमार जिस मार्ग पर बढ़ रहे हैं, वह श्रेष्ठतम मार्ग है, पर सरल नहीं। इस पथ पर बढ़ने वाले में पूरा साहस, पूरी दृढ़ता और प्रबल आत्म-शक्ति होनी चाहिए। “ढंढणकुमार कितने दृढ़ हैं अपने संकल्प में, कितना गहरा है उनका वैराग्य, कितना साहस है उनमें संयम-पथ के कष्टों को सहन करने का।”—वासुदेव यह परखना चाहते थे।

□ राज्य-प्रलोभन, राज्याभिषेक

दीक्षानुमति माँगने पर कृष्ण वासुदेव ने ढंढण राजकुमार को अनेक तरह से विचलित करने के प्रयत्न किये, संयम-पालन में आने वाली अनेकानेक कठिनाइयों का वर्णन किया, पर जब देखा कि ढंढणकुमार तो अब भी दृढ़ हैं, विचलित नहीं हो रहे, तब अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रलोभन दिया और तदनुसार उन्हें राजसत्ता सौंप दी। कृष्ण-पुत्र ढंढण राजकुमार तीन खण्डों का अधिपति बन गया, वासुदेव की सत्ता अब उसके अधिकार में थी, स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण उसके राजदरबार में किसी सेवक की तरह खड़े थे।

श्रीकृष्ण वासुदेव ने अब अत्यन्त आदर व विनयभाव से राजा ढंढण के सम्मुख होकर कहा—“पुत्र! अब तुम इस राज्य के मालिक हो, कहो तुम्हारी क्या कामना है? आदेश दो, सभी तुम्हारी आज्ञा-पालन के लिए तैयार हैं!”

□ दीक्षा की तैयारियाँ की जाएँ

ढंढणकुमार का तो मन ही क्या, रोम-रोम दीक्षा के लिए लालायित था। यह राजसत्ता, यह वैभव, ये अधिकार उन्हें भारस्वरूप लग रहे थे। राजेश्वरी सो नरकेश्वरी, वे नहीं चाहते थे कि अब वह नरकेश्वरी का मुँह भी देखें। अपने पिता वासुदेव श्रीकृष्ण के कहने पर बोले—“मैं कल ही संयम लेना चाहता हूँ। मेरी दीक्षा के लिए तैयारियाँ की जाएँ। दो लाख स्वर्ण मुद्रा से ओघे व काष्ठ के मुनि-पात्र (पातरे) खरीदे जाएँ। नाई के यहाँ एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भेजकर उसे दीक्षा के लिए पूर्वानुबन्धित किया जाए।”

□ ढंढणकुमार बनये गये—ढंढण मुनि

वासुदेव श्रीकृष्ण की परीक्षा पूरी हुई। उनकी कसौटी पर पुत्र ढंढणकुमार खरा कंचन निकला। स्वयं कृष्ण महाराज ने अत्यन्त उमंग व उत्साह से दीक्षा-महोत्सव का आयोजन किया। पूरे राजसी ठाट-बाट के साथ एक हजार व्यक्तियों के कन्धों पर रखी जाने वाली रजत-शिविका में बैठकर दीक्षार्थी राजकुमार दीक्षा लेने पहुँचा। भगवान अरिष्टनेमि ने उन्हें दीक्षा-मन्त्र देकर श्रमणधर्म में दीक्षित किया।

□ तीव्र अन्तराय—बंध का उदय

जैन-श्रमण-दीक्षा के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है साधना। एक ओर आगम ज्ञानाराधन, दूसरी ओर कर्मनिर्जरा के लिए एक उग्र तपःसाधना। ढंढण मुनि ने भी ग्यारह अंगसूत्र अध्ययन के साथ तप करना प्रारम्भ किया। दीक्षा पश्चात् प्रथम तेले का उनका पारणा था। पारणे के दिन ढंढण मुनि गोचरी के लिए नगर में निकले। अनेक घरों में घूमे, पर पूर्वभव के बँधे हुए कर्मों का फल भोगना था उन्हें, अतः सिर मुँड़ाते ही जैसे ओले पड़े हों ठीक उसी तरह का हाल उनका भी होता है।

किसी घर में पदार्थ, भोजन असूझता है; किसी घर में पड़ा है सूझता आहार, बहराने वाले की भावना भी है उत्कृष्ट, उठाता है वह आहारदान के लिए भोजन-भरा पात्र, पर तभी हाथ या पैर नमक से छू जाता है। मुनिराज घर के भीतर पधार गये हैं गोचरी के लिए कि किसी के हाथ से तेउकाय की विराधना हो गई। किसी अन्य घर में गये, वहाँ पहले से आँगन गीला है। इन सब परिस्थितियों में मुनि जी बिना आहार लिए वापस निकल जाते। इस प्रकार अन्तराय कर्म उनके आहार-लाभ में बाधक बन गया।

वर्तमान में स्थिति बहुत विकट बनती जा रही है। अनेक श्रमण-श्रमणी प्रासुक कल्पनीय बयालीस दोषों के विवेक को विस्मृत करते जा रहे हैं तथा अनेक बार आप भी उसमें सहभागी बन जाते हैं। मुनिराजों के लिए निमित्त का आधाकर्मी आहार बना देते हैं, सामने ले जाकर टिफिन आदि से बहरा देते हैं, आदि-आदि अनेक दोष आप स्वयं निमित्त बनकर मुनियों के लगा देते हैं। स्वयं भी डूबेंगे और उन मुनियों को भी डुबायेंगे।

□ दिन-पर-दिन जाने लगे, पर पारणा नहीं हो सका

ढंढण मुनि जरा-सा कारण बनता यदि कि जिससे लेना न कल्पे तो नहीं लेते। अतः प्रथम दिन आहार नहीं मिला। वापस आकर चार के प्रत्याख्यान ले लिये। दूसरे दिन फिर निकले पारणे में, गोचरी के लिए पर अन्तराय का उदय था। उस दिन भी आहार नहीं मिला।

ऐसा करते हुए दिन-पर-दिन व्यतीत होने लगे। ढंढण मुनि के तपस्या के दिनों में वृद्धि होने लगी, पर उनके मन में कभी यह नहीं आया कि मुझे इतने बड़े नगर में, इतने घरों में गोचरी नहीं मिलती। कारण में कभी दूसरों पर ध्यान नहीं देकर केवल अपने अन्तराय कर्म के उदय को ध्यान में रखा।

□ उनके नाम से जाते तो अन्य मुनियों को भी गोचरी नहीं मिलती, छह माह तक पारणा नहीं हुआ

अन्तराय का उदय ऐसा तीव्र कि साथ चले जाएँ कोई मुनि तो उन्हें भी गोचरी नहीं मिलती। कभी कोई कह देता—“आज आप मत पधारो, आपके लिए गोचरी मैं ले आऊँगा।”—तो उन मुनिराज को भी गोचरी नहीं मिलती। **छह माह तक उन्हें पारणे में गोचरी नहीं मिली, अतः पारणा नहीं हो सका।** जिस व्यक्ति के अन्तराय कर्म का उदय, उसकी संगति की जाये तो उसको भी दुःख उठाना पड़ता है। हो सकता है संगति के कारण आपका अन्तराय भी उदय में आ जाये।

□ ऐसा तीव्र अन्तराय बंध क्यों हुआ ?

एक दिन आते हैं प्रभु अरिष्टनेमि के पास ढंढण मुनि और पूछते हैं—“प्रभु! मैं यह तो जानता हूँ कि मेरे तीव्र अन्तराय का उदय है, अतः गोचरी में बाधा आ रही है, पर प्रभु! मैंने ऐसे क्या अशुभ कार्य किए हैं जिनके कारण इतना तीव्र अन्तराय का बंध हुआ ?”

प्रभु तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी! बोले—“हे मुनि! निश्चय ही यह तुम्हारे पूर्व के तीव्र अन्तराय बन्ध के कारण हैं। इस भव से निन्यानवेँ लाख निन्यानवेँ हजार नौ सौ निन्यानवेँ भव पूर्व तुम विन्ध्याचल प्रदेश के एक ग्राम में एक समृद्ध जागीरदार थे। वहाँ के राजा गिरिसेन की तुम पर विशेष कृपा थी। एक बार उस राजा ने राज्य की समस्त कृषि-भूमि को जुतवाने का कार्य तुम्हारे हाथ में सौंपा। तुमने अपने साथ पाँच सौ हलवाहक लिए और काम प्रारम्भ कर दिया।”

आषाढ़ का महीना था। भीषण गर्मी पड़ रही थी। कभी-कभी आषाढ़ में बादल आकर बरस जाते हैं, अतः किसान खेत आषाढ़ मास की भरी गर्मी में ही जोतकर, साफ कर, बुवाई के लिए तैयार कर लेते हैं। पाँच सौ किसानों ने भी उस समृद्ध जागीरदार के कहने पर ऐसी भयंकर गर्मी में हल चलाये। चिलचिलाती धूप में बैल खेतों में जुते रहे, किसान उनके पीछे चलते रहे।

दोपहर का समय हुआ। किसानों के लिए वह भोजन करने का समय था। बैलों के लिए वह चारा-पानी का समय था। भूख तो उतनी नहीं, जितनी कि प्यास। विश्राम का समय, थकान मिटाकर पुनः चुस्त, तरोताजा होने का समय था वह। अतः सभी किसानों ने बैलों से हल अलग किये। उन्हें छोड़ दिया घूमने-फिरने के लिए, चारा आदि हो तो उसमें मुँह मारने के लिए, पानी का कुण्ड हो तो वहाँ जाकर पानी पीने के लिए और स्वयं किसान अपने साथ लाये अल्पाहार को किसी उचित जगह बैठकर, करने की सोचने लगे।

तभी तुम वहाँ पहुँचे। तुमने बैलों को खुला देखा, काम बन्द देखा, किसानों को पेड़ों की छाया में बैठे देखा तो बहुत नाराज हुए। मारे क्रोध के उफनते हुए तुमने उन सभी को अनेक अपशब्द सुनाए। उन्हें कामचोर कहकर तुरन्त उठकर हल जोतने के लिए कहा, काम पर पुनः जुट जाने के लिए कहा।

अत्यधिक थके हुए बैल, भूखे-प्यासे किसान, पर तुम्हारा भय था उन्हें, अतः पुनः जोता बैलों को और स्वयं भी लग गये काम पर। तुम ऐसा कृत्य करके प्रसन्न हुए। उसी समय तुम्हारे तीव्र अन्तराय कर्म का बंध हुआ। तुम तो जानते हो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं। ऐसे घनघाती कर्म का बन्धन तुमने किया। बन्धन भी निकाचित क्योंकि तुम मन में बहुत प्रसन्न हुए थे, उन्हें इस तरह भयभीत हो काम पर पुनः लगते देखकर। वही निकाचित अन्तराय इतने भवों के बाद इस समय उदय में है। यद्यपि तब तुम जागीरदार थे, अबोध थे, सम्यक्त्व प्राप्त नहीं था तुम्हें, पर किए हुए कर्म को तो भोगना ही है।

□ बाधा देना सहज है, पर उसका फल महादुःखदायी है

घरों में नौकर तो आप लोगों में से भी अनेकों के होंगे। कभी ऐसा भी होता होगा कि उनके खाने का समय हो गया हो और आपने कहा हो कि “थोड़ा ठहर जा, पहले ये काम कर। कुछ देर खायेगा तो मर नहीं जायेगा।”

इस तरह का अवरोध स्वाध्याय में, ध्यान में, ज्ञान-पठन या पाठन में, दान देते समय, भोजन के समय, व्यापारिक कार्य के समय, सामायिक आदि व्रतों के समय, प्रतिक्रमण आदि के समय पैदा किया है तो अन्तराय का बन्धन निश्चित है। डरिए इस अन्तराय के बन्धन से, क्योंकि बाँधना तो सरल है पर भोगना अति कठिन। पता ही नहीं चलता कि कब बँध गया, पर भोगते समय असह्य कष्ट, पीड़ा, त्रास होती है।

प्रभु आदिनाथ ने बैलों के मुँह बाँधने के लिए कहा (बाँधवाए), पर खोलने को नहीं कहा, मात्र १२ घड़ी मुँह बाँधे रहे, परिणामस्वरूप उन्हें १३ मास १० दिन तक अशन-पान आदि की अन्तराय में रहना पड़ा, अनशन-तप का सहज कारण बन गया यह अन्तराय। भाव नहीं था कि बैल बाँधे रहें, भूखे मरें, प्यासे रहें। सब कुछ असावधानीवश, पर बाँधे कर्म ने उन्हें भी कहाँ छोड़ा। लोग हाथी, घोड़े, मणि, माणक, रत्नराशियाँ, राजकन्याएँ उन्हें आग्रह कर लेने को कहते, पर भोजन करने का १२ माह तक किसी ने नहीं कहा। फिर अन्तराय टूटी तो श्रेयांसकुमार ने इक्षु रस से पारणा कराया। तब से वर्षी तप करने की प्रथा प्रारम्भ हुई।

□ अन्तराय बंध तोड़ने हेतु अभिग्रह धारण

बन्धुओं! ढंढण मुनि ने सुनी अपने पूर्वभव की कथा प्रभु के श्रीमुख से। मन में पश्चात्ताप की प्रबल भावना पैदा हुई। भूखे-प्यासे वे बैल और उन्हें जोतते हुए वे किसान उन्हें जैसे अपने मानस-पटल पर दिखने लगे। चिन्तन उत्पन्न हुआ उनके मन में कि मैंने कैसे-कैसे अशुभ कर्म का बन्धन किया ?

चिन्तन की शुभ्रता और शुद्धता के बढ़ते परिणामों में उन्होंने वहीं प्रभु के सम्मुख उस महान् अन्तराय को तोड़ने की भावना से प्रायश्चित्त रूप से अभिग्रह किया—“आज के पश्चात् मैं अपनी स्वयं की लब्धि का आहार प्राप्त होगा तो ही ग्रहण करूँगा अन्यथा निराहार ही रहूँगा।”

□ सर्वज्ञ प्रभु अरिष्टनेमि ने ढंढण मुनि को सर्वश्रेष्ठ श्रमण कहा

एक तो अन्तराय उदय में, ऊपर से ऐसा कठिन अभिग्रह। नहीं मिलता उन्हें आहार, रहते रहे वे निराहार ही। छह माह का समय व्यतीत हो गया। शरीर सूख गया, हड्डियाँ स्पष्ट नजर आने लगीं, काया के नाम पर हड्डियों का ढाँचा मात्र दिखने लगा। चलने पर हड्डियों से ‘कड़कड़ाहट’ की आवाजें निकलतीं।

इन्हीं दिनों वासुदेव श्रीकृष्ण प्रभु अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ आये। प्रभु को वन्दन करके पूछा—“प्रभु! आपके इन अठारह हजार श्रमण-रत्नों में सर्वश्रेष्ठ श्रमण कौन है, जो महान् आचार-सम्पन्न हो, उग्र तपस्वी हो? मैं उन्हें वन्दन करना चाहता हूँ।”

सर्वज्ञ प्रभु अरिष्टनेमि ने बताया—“कृष्ण! इन सभी में ढंढण मुनि सर्वश्रेष्ठ उग्र तपस्वी श्रमण हैं।”

वासुदेव श्रीकृष्ण ने पूछा—“वे महाभाग इस समय कहाँ मिलेंगे?”

प्रभु ने कहा—“अभी तुम वापस राजमहलों में जाओगे तो वे मार्ग में मिलेंगे। वे नगरी में भिक्षाचरी के लिए गये हुए हैं।”

हाथी के औहदे पर चढ़ श्रीकृष्ण वासुदेव पुनः नगरी की ओर लौटे। मार्ग में मुनि आते हुए दिखाई दिए। महावत को संकेत कर वे हाथी से नीचे उतरे। मुनि के निकट पहुँच उन्हें त्रिवन्दन किया और बोले—“आप धन्य हैं और धन्य है आपकी तपस्या!”

मुनिवर को नमन, वन्दन कर, उनका गुणगान-कीर्तन कर श्रीकृष्ण पुनः हाथी के पास आये, औहदे पर आरूढ़ हुए और अपने राजमहलों में चले गये।

□ मुनिवर! यह तुम्हारी लब्धि का आहार नहीं है।

निकट ही एक हलवाई की दुकान थी। दुकान पर बैठे दुकान के मालिक ने देखा अपने नगराधिपति श्रीकृष्ण महाराज को हाथी के औहदे से उतरकर उन मुनि को वन्दन करते हुए। उसने सोचा—‘अवश्य ही ये कोई महान् सन्त हैं। हमारे महाराज, तीन खण्ड के धणी, रास्ता चलते हुए ठहरकर जिन्हें वन्दना करें, उसकी महानता तो अद्भुत होनी चाहिए। ऐसे महान् सन्त यदि मेरे यहाँ पधारकर मुझ पर कृपा करें तो मैं निहाल हो जाऊँगा।’

दुकान से नीचे उतरकर वह हलवाई मुनिवर के निकट आता है। श्रीकृष्ण की तरह वन्दन करता है और कहता है—“यही मेरी दुकान है, पधारकर उसे पावन करें, मुझ पर कृपा करें।”

ढंढण मुनि सहज भाव से उसके साथ चल देते हैं। दुकान आने पर हलवाई मोदक का थाल उठाकर मुनिराज से कहता है—“ये शुद्ध कल्पनीय मोदक हैं, आप मेरे हाथ से इन्हें ग्रहण कर मुझे लाभान्वित करें।”

महान् अभिग्रह के धारक ढंढण मुनि सोचते हैं कि ‘आज मेरी अंतराय टूटी है, मेरी लब्धि का आहार मुझे आज प्राप्त हो रहा है।’

वे भिक्षा-पात्र में हलवाई के बहराए हुए लड्डू लेते हैं और प्रसन्न चित्त प्रभु के पास आकर गोचरी दिखाते हुए कहते हैं—“प्रभु! आज मेरे अंतराय बंध का निर्जरण हो गया। मुझे अपनी लब्धि का आहार प्राप्त हो गया।”

प्रभु कहते हैं—“ढंढण मुनि! यह तुम्हारी लब्धि का आहार नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण की लब्धि के कारण उपलब्ध आहार है।”

प्रभु उन्हें सारी घटना सुनाते हैं और बताते हैं कि “तुम्हारा अभिग्रह पूर्ण नहीं हुआ है।”

ढंढण मुनि ने तब कहा—“यह गोचरी, ये मोदक मेरे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, मुझे नहीं कल्पते हैं, अतः मैं कहीं एकान्त, निर्वद्य स्थान देखकर इन्हें परठ दूँ?”

प्रभु से आज्ञा लेकर ढंढण मुनि नगर के बाहर जाते हैं। एक अत्यन्त निर्जन एकान्त और निर्वद्य स्थान देख लड्डू परठने के लिए पात्र निकालते हैं। तभी विचार आता है—‘सम्पूर्ण लड्डू, पूरा का पूरा, जैसा-का-तैसा परठ दूँगा तो लीलण-फूलण आ सकती है, जीव-विराधना हो सकती है, अतः चूरा करके परठूँ इन्हें।’

□ लड्डू चूरते-चूरते केवल्य

मुनिवर नीचे बैठ जाते हैं और लड्डुओं का चूरा बनाने लगते हैं। हाथ लड्डू चूरने में व्यस्त हैं और मन चिन्तन की ऊर्ध्ववर्ती धारा में बह रहा है। अपनी अन्तराय पर चिन्तन, अपनी आत्मा का चिन्तन करते-करते भाव-श्रेणी चढ़ती जाती है, शुक्लध्यान की स्थिति में पहुँच जाते हैं। इसी उच्चतम, निर्मल, पावन भाव-भूमि पर ऊर्ध्वरोहण कर वे अपने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चारों आत्मघाती कर्मों को क्षय कर लेते हैं।

□ सिद्ध, बुद्ध और मुक्त

इस तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर ढंढण मुनि पुनः प्रभु-चरणों में आते हैं। अनेक वर्षों तक केवली-पर्याय में जन-जन को आत्म-कल्याण का पथ बतलाते हुए आयु के अन्त में शरीर को त्यागकर वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन जाते हैं।

□ आस्रव त्यागें, संवर—निर्जरा के लिए तत्पर हों

बन्धुओं! इन कर्मों की बड़ी बुरी मार होती है। आपके पास दोनों रास्ते हैं—इनसे बचने का रास्ता भी है और पूर्वकृत कर्मबन्ध को काटने का रास्ता भी। आपके अन्तर् में चाह जगनी चाहिए, इन कर्मों की मार से आत्मा को बचाने की। जिस दिन जग गयी चाह आप उसी दिन आस्रव का नाला बन्द कर, संवर की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ कर देंगे। मिथ्यात्व को त्याग सम्यक्त्व को धारण कर व्रती बनेंगे और चारित्रधर्म का लक्ष्य रखते हुए जीवन के पथ पर गति करेंगे। सावद्य क्रियाओं को पूर्णतः त्याग कर्मनिर्जरा के लिए उग्र तप की, निर्जरा के बारह भेदों की, बाह्य या आभ्यन्तर तपों की साधना यदि करेंगे तो शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो सकेगी।

आनन्द ही आनन्द !

□□

देह उतारी खाल

(स्कंधक मुनि-१)

मज्जं—विषय—कषाया—निहा—विकहा यं पंचमा भणिया।
ए ए पञ्च पमाया, जीवा पाडंति संसारे ॥

आत्म-बन्धुओं!

राग और द्वेष के नाशक, सत्य के भाषक और शील-सृजक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु का महत्त्व शब्दातीत और वर्णनातीत है। अनंत-अनंत गुणों के धारक हैं वे, अतः उनके गुणों का वर्णन किया भी जाये तो कैसे? हिन्दी-साहित्य की निर्गुण-भक्तिधारा के सुप्रसिद्ध कवि कबीर ने कहा—

धरती सब कागज करूँ, लेखनी करूँ वनराय।
सात समन्द स्याही करूँ, प्रभु गुण लिख्या न जाय ॥

ऐसे ही अनंत गुणी हैं वीतराग प्रभु! उन सर्वज्ञों की वाणी भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। उस वाणी के माहात्म्य का वर्णन भी असंभाव्य है। अंश मात्र भी धारण कर लिया जाये उस वाणी को और अविचल रूप से उसका पालन किया जाए तो साधक अनंत-अनंत भवों की बद्ध कर्म-शृंखला को तोड़कर मुक्तालय के अनंत, अक्षय, अव्याबाध सुखों की प्राप्ति कर सकता है।

□ मोक्ष-पक्ष का बाधक तत्त्व : 'प्रमाद'

जिनवाणी के पालन में, मुक्तालय के पथ में, सिद्धालय तक की सीढ़ियों पर अग्रसर होने में अनेक अवरोध, बाधाएँ, रुकावटें आती हैं। इनमें अनेक अनुकूल प्रतिरोध हैं, तो अनेक प्रतिकूल अवरोध। ज्ञानीजन कहते हैं कि पाँच प्रकार के जो प्रमाद हैं, वे साधक की कर्म-मुक्ति साधना में विशेष बाधा उत्पन्न करते हैं।

क्या है यह प्रमाद नाम का अवरोध? किसे कहेंगे हम प्रमाद? बन्धुओं! आप सभी व्यवहार में आलस्य को प्रमाद मानते हैं। यह ठीक है कि आलस्य भी प्रमाद का एक रूप है,

पर प्रमाद का रूप—स्वरूप इससे कहीं अधिक विशाल एवं घना है। पूर्वाचार्यों ने प्रमाद की परिभाषा देते हुए लिखा है—

प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलष्वनादरः।

योग दुष्प्रणिधानं चत्येष प्रमादः॥

तात्पर्य यह कि सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप यथार्थ मोक्षमार्ग में शिथिल रहना, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनना, चार विकथाओं—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, देशकथा में रस लेना, आगमानुसार धार्मिक कुशल-क्रियानुष्ठानों में अनादरभाव रखना तथा मन-वचन-कायारूपी त्रियोगों के दुष्प्रणिधान-आर्तध्यान आदि की प्रवृत्तियों में रमण करना—ये सभी प्रमाद के लक्षण हैं।

□ प्रमाद के पाँच प्रकार

मंगलाचरण रूप में आज जो गाथा कही गई, उसमें बताया गया है कि प्रमाद पाँच प्रकार का होता है—(१) मद, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा, और (५) विकथा। इन पाँच प्रकार के प्रमाद का सेवन करते हुए जीव नवीन कर्मों का निरन्तर बंध करता है, परिणामस्वरूप वह अनेकानेक दुर्गतियों के दुःखों को भोगता हुआ, आत्मा को पतन के गर्त में ढकेलता रहता है।

तीन करण (करना, कराना व अनुमोदन करना) तथा तीन योग (मन, वचन व काया) के परिणामों के कारण जीव के साथ जो कर्मणवर्गणा के पुद्गल दूध-पानी की तरह एकमेक होकर कर्मों का बंध करते हैं, उसके पाँच हेतुओं में तीसरा हेतु प्रमाद को माना है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—ये पाँच हेतु हैं नव कर्मबंध के। चिन्तन करके देखें तो प्रमाद अन्य सभी में विद्यमान है। जब तक प्रमाद नहीं छूटता जीव मिथ्यात्व से और अविरति से तो बाहर निकल सकता है, पर वह बिना प्रमाद को त्यागे किसी भी हालत में अकषायी और शुभ योगी या अयोगी नहीं बन सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव प्रमाद का त्याग करके ही नवीन कर्मबन्ध पर रोक लगा सकता है।

□ धन्य हैं प्रमादजयी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा.

बन्धुओं! कर्मबन्धन के हेतुओं और विशेषकर प्रमाद पर हमें भी विजय प्राप्त करनी है। आठ प्रकार के मदों को त्याग, पाँच इन्द्रियों के तेवीस विषयों को त्याग, चार प्रकार के कषाय-चतुष्क पर नियन्त्रण कर, निद्रा के हेतुक दर्शनावरणीय कर्मबन्धन के कारणों से

अपना अलगाव कर और स्त्रीकथा आदि विकथाओं रूपी प्रमाद को त्यागकर अप्रमत्त बनने के लिए प्रयत्न करने पर ही मुक्ति के लिए बनी अगली सीढ़ियों पर चढ़ना सम्भव होगा।

धन्य हैं श्रमणश्रेष्ठ एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. को, जिन्होंने पाँच प्रकार के प्रमादों पर विजय-प्राप्ति का प्रयत्न संयम-ग्रहण के प्रथम दिवस से ही प्रारम्भ कर दिया, बल्कि कहना चाहिए वैराग्यभाव की उत्पत्ति के साथ ही उनके प्रमाद-विजय के प्रयत्न प्रारम्भ हो गये। अपने साधनाकाल में उन प्रमादजयी ने पचास वर्ष-पर्यन्त आड़ा आसन नहीं किया, अर्थात् वे पचास वर्ष तक शय्या पर पोढ़े नहीं।

उस युगपुरुष ने मिथ्यात्व को हटाकर विशुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति की, अविरतिपन को त्यागकर सर्वविरति बने, क्रोधादि कषाय-चतुष्क का शमन किया, अशुभ योगों से अन्तर्मन को रिक्त बनाया और इतना सब करने के पश्चात् दर्शनावरणीय कर्म पर विजय-प्राप्ति के लिए निद्रा पर विजय प्राप्त की।

वे महान् भीष्मव्रती-संयमी जीवन के हर पल, हर क्षण अंतस्थल की गहन गहराई से ध्यानलीन बनकर आध्यात्मिक चिन्तन में आत्म-शुद्धि की तरफ निरन्तर अग्रसर होते रहे। तत्कालीन अनेक मनीषी-साधकों ने तो उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' से उपमित करते हुए उनकी उत्कृष्ट साधना का सम्यक् गुणगान किया।

□ अप्रमत्त बनिए

बन्धुओं! साधक चाहे देशविरति हो या सर्वविरति, जब तक वह अप्रमत्तता की आध्यात्मिक ऊँचाई का स्पर्श नहीं करता, तब तक वह कर्मों के सर्वबन्धन नहीं काट सकता, जन्म-मरण के चक्र को नहीं मिटा सकता, मोक्ष द्वार के पार नहीं पहुँच सकता, एकभवावतारी नहीं बन सकता।

बनना है जिन-जिन को भी एकभवावतारी, जाना है एक भव करके मोक्ष में, काटना है अगला मनुज-भव पाकर कर्मबन्धों को तो उन्हें चाहिए कि वे आज, अभी से अप्रमत्त बनने की तैयारी प्रारम्भ कर दें। जो-जो अब तक अप्रमत्त बने, उनके गुण-कीर्तन कीजिए। एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के नाम का सदैव स्मरण करिये। करेंगे ऐसा तो आप भी हलुकर्मी बन सकेंगे, कर्मबन्ध के हेतुओं को मिटा सकेंगे, आत्मा को हल्की बना निकट भव में मोक्षगामी बन सकेंगे।

□ देह उतारी खाल (स्कंधक मुनि—१)

जिन-जिन महनीय महापुरुषों ने अप्रमत्त साधना कर आत्म-रमणता से अपने जीवन को जन-जन के लिए अनुकरणीय बनाया, आदर्श के रूप में अपने उज्ज्वल आध्यात्मिक जीवन को प्रस्तुत किया, साधकों और गृहस्थों के लिए भी जो प्रेरणा के अजस्र स्रोत बन गये, ऐसे दिव्य आध्यात्मिक प्रसंगों को आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी सार्वभौमिक और सार्वकालिक त्रिकालजयी रचना 'बड़ी साधु वन्दना' के माध्यम से स्मरण करते हुए, उन्हें अपना भावभीना वन्दन-नमन किया है।

कल आपने ढंढण मुनिवर का प्रसंग सुना था। आज चलेगा महामुनि स्कंधक का प्रसंग। स्कंधक मुनिवर, जिनके देह की पूरी खाल उतार दी गई थी। जीवित व्यक्ति की खाल कोई उतारे तो कितनी असह्य, मारणांतिक वेदना होती है? ऐसे समय में खाल उतारने वाले के प्रति समभावी बने रहना अति दुष्कर है, पर महामुनिवर स्कंधक पूर्ण समभावी बने रहे, आत्म-रमण में लीन रहे, अप्रमत्त बने रहे।

बन्धुओं! उनके भावों की श्रेणी चढ़ती रही। उत्तरोत्तर चढ़ती हुई विकासमान उस शुद्ध, शुभ एवं समभावी श्रेणी के कारण मुनिवर ने अपने समस्त कर्मबन्धों को नष्ट कर दिया, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन वे सिद्धगति में जा विराजमान हुए।

वलि खंदक ऋषिनी, देह उतारी खाल।

परीषह सहीने, भव फेरा दिया टाल ॥ १५ ॥

□ स्कंधक (जन्म, शिक्षा)

श्रावस्ती नामक नगरी में कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। वह एक निपुण योद्धा और नीतिवान शासन-संचालक था। दूर-दूर तक के अन्यान्य राज्यों में उसके गुणों की कीर्ति-सुगन्धि फैली हुई थी। मलयसुन्दरी उसकी रानी थी, जो सौन्दर्य में असाधारण थी तथा नारी सुलभ सारे लक्षण जिसमें विद्यमान थे।

इन दोनों के एक पुत्री थी सुनन्दा और एक पुत्र था स्कंधककुमार। दोनों का राजसी ठाट से लालन-पालन हुआ। बड़े होने पर दोनों ने कलाचार्य के पास अध्ययन किया। सुनन्दा युवा हुई तो उसका विवाह कांचीनगर के राजा पुरुषसिंह से किया गया।

राजकुमार स्कंधक पुरुषोचित बहत्तर कलाओं में प्रवीण बन गया। वह स्वभाव से सरल, वाणी से सरस और हृदय के उदार-मिलनसार था। उसके इन्हीं गुणों के आकर्षण से जो भी

उसके सम्पर्क में एकाधिक बार आया वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। यही कारण था कि वह राजमहलों में पारिवारिक परिजनों का प्रिय, सेवकों में सम्माननीय और नगर के प्रजाजनों में लोकप्रिय बन गया।

आयु विवाह-योग्य हुई। माता-पिता, मन्त्री और अन्य स्वजन किसी योग्य सुगुणवती, सुशील, सुन्दर राजकन्या की तलाश में थे, पर इनको तो मुक्ति से शादी रचानी थी।

□ विरक्ति—दीक्षानुमति

एक बार श्रावस्ती में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सन्त विजयसेन को अपने शिष्य-समुदाय सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पदार्पण हुआ। नगर-नरेश पिता कनककेतु के साथ राजकुमार स्कंधक भी आचार्यश्री के दर्शन करने गये। दर्शन व वन्दन कर सभी ने उनके पावन श्रीमुख से जनकल्याणी जिनवाणी का हितोपदेश सुना। भीतर से पूर्वभव के सुसंस्कार साथ थे, अतः प्रथम धर्मदेशना सुनकर ही राजकुमार उस धर्मवाणी के चिन्तन-मनन में गहरे उतर गये।

बन्धुओं! “जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ।”—गहन-चिन्तन के सागर में नीचे ही नीचे तल तक, हृदय स्थल तक उतर गये तो अमूल्य मुक्तामणि, रत्नराशि को प्राप्त कर बैठे, अर्थात् संसार से विरक्ति का भाव उत्पन्न हो गया।

कहा माता-पिता से कि संसार असार है, रिश्ते-नाते सब स्वार्थ के हैं, धन-माया, राजपाट, भोगोपभोग के साधन सारे क्षणिक हैं, नश्वर हैं, अतः मुझे संयम का पथ ग्रहण करने की अनुमति दीजिए।

सुना माता-पिता ने तो चकित रह गये। एक पुत्र, पुत्री। पुत्री तो ससुराल और पुत्र कहता है, दीक्षा की आज्ञा दो। क्या होगा हमारा? शादी हुई नहीं, हमने पोते का मुँह देखा नहीं और अभी दीक्षा? उम्र भी क्या है अभी? और शरीर इसका कितना सुकोमल? घर से बाहर निकलता है तो शरीर कुम्हला जाता है। गलीचे पर पैर रखे तो जिसके पैर छिल जाएँ, वह नंगे पाँव चलने का साहस कर रहा है।

माता-पिता ने उसे समझाया, संयम-जीवन की कठोरताओं का उल्लेख किया, पर जिसे विरक्ति हो गई हो, मन जिसका विराग के रंग में डूबा हो उसे तो संयम, दीक्षा, चारित्र-पालन के अतिरिक्त सब कुछ नीरस, व्यर्थ, निस्सार लगता है। माता-पिता ने जब देखा लिया कि राजकुमार अपने संकल्प में दृढ़ है, उसके विरक्ति-विचारों में परिपक्वता है, वह घर में रहेगा भी तो अब एक संन्यासी की तरह ही रहेगा, अतः उन्होंने उसे दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी।

□ दीक्षा—आगम शिक्षा

राजकुमार ने आचार्य के निकट जाकर दीक्षा अंगीकार की और वे श्रमणधर्म-पालन में कटिबद्ध हो गये। उन्होंने अब अपना समय ज्ञान-ध्यान में लगाना प्रारम्भ किया, तपाराधन करने लगे वे। बुद्धिमान थे, प्रतिभा थी उनमें, स्मरण-शक्ति भी अच्छी थी, अतः बहुत शीघ्र गीतार्थ बन गये, अनेक शास्त्रों के मूल व अर्थ के गूढ़ ज्ञाता बन गये।

□ गुप्त संरक्षण

उधर माता-पिता को चिन्ता थी कि सुकुमार शरीर और युवावस्था है राजकुमार की। अति दुष्कर संयम के मार्ग पर यह कैसे चलेगा? उन्होंने अनेक सुभट-सेवकों को बहुत ही सजग होकर उनके पीछे-पीछे गुप्त रूप से रहने का आदेश दिया।

गीतार्थ बन जाने पर गुरु ने उन्हें एकाकी विचरण की आज्ञा प्रदान की। वे अब ग्राम-ग्राम, नगर-नगर अहिंसा और सत्य-ज्ञान की अलख जगाने लगे।

□ बहन-बहनोई के नगर कांचीपुर में

तीर्थकर वाणी के आलोक से जन-जन के हृदयों से अज्ञान-अन्धकार को क्षीण बनाते हुए स्कंधक मुनि एक बार कांचीपुर नगर पधारे। अपनी श्रमणचर्या के अनुसार प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान कर मुनिवर तीसरे प्रहर में भिक्षापात्रों को झोली में लिए नगर में भिक्षार्थ निकले।

भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए, अनेक उच्च, मध्यम, निम्न कुलों से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि स्कंधककुमार कांचीपुर के राजमहलों के निकट से निकलने लगे। कांचीपुर के महाराज पुरुषसिंह और महारानी सुनन्दा जो संसार-पक्ष से मुनिवर के बहनोई और बहन थे, उस समय राजमहलों के गवाक्ष में बैठे हुए वार्त्तालाप कर रहे थे। यदा-कदा उनकी नजरें नगर के विभिन्न बाजारों, राज-पथों तथा प्रजाजनों के भवनों पर भी चली जाती थी।

□ रानी सुनन्दा ने देखा एकटक मुनि को : भ्राता की स्मृति

महारानी सुनन्दा की दृष्टि इस बार ज्यों ही नगरावलोकन के लिए नगर के विभिन्न स्थलों की ओर घूमी तो अचानक उनकी नजर राजमहलों के निकट से निकलते हुए उन मुनि जी पर पड़ी। आहार के लिए नगर-परिभ्रमण करते उन मुनिजी को देखकर उनकी स्मृति में अपने दीक्षित भ्राता की यादें उमड़ने लगीं। सुनन्दा महारानी को विचार आया—‘मेरे भ्राता भी

कहीं न कहीं इस भीषण ग्रीष्म से तप्त धरा पर नंगे पाँवों से चलते हुए इसी वेश में भिक्षाचर्यार्थ परिभ्रमण कर रहे होंगे।’

विचारों की तल्लीनता में उनकी दृष्टि उन मुनि जी को ही एकटक निहारती रही। अनेक प्रकार के तपाराधन के कारण मुनि स्कंधककुमार का शरीर अत्यन्त कृश बन चुका था, अतः सुनन्दा उन्हें नहीं पहचान पाई कि वही उनका सहोदर है। अपने भ्राता की कठोर श्रमणचर्या और अपनी स्वयं की आरामदायक स्थिति की तुलना करते हुए महारानी भाई के दुस्सह कष्टों के स्मरण से गहन अवसाद में डूब गई। उनकी आँखों से अश्रु-कण छलक पड़े, वह रो पड़ी।

□ महाराज पुरुषसिंह संशयग्रस्त

महारानी को इस तरह अश्रु छलकाते देख महाराज पुरुषसिंह गम्भीर हो गये। कारण जानने के लिए उन्होंने महारानी की दृष्टि का अनुकरण किया तो उनकी नजर भी उन मुनिजी पर पड़ी। ‘ओहो! तो यह बात है, इस व्यक्ति के कारण ये आँसू हैं।’—सोचा महाराज पुरुषसिंह ने और उनका मन संशयग्रस्त बन गया। पत्नी के प्रति पुरुष का चारित्रिक-सन्देह कभी भी अनर्थ का कारण बन सकता है। सन्देह का यह वृश्चिक डंक मारकर अपने विष से पुरुष में भयंकर तिलमिलाहट पैदा कर देता है। ऐसे व्यक्ति की समस्त विवेक-शक्ति उसका साथ त्याग देती है।

□ “मुनि की देह से खाल उतार लो”—राजा का आदेश

‘निश्चय ही यह भिक्षुक महारानी का पूर्व प्रेमी ही रहा होगा अन्यथा इस तरह उसे देखकर वह आँसू क्यों ढलकाती?’—राजा ने सोचा। वह उठा वहाँ से, आया अपने व्यक्तिगत महल के कक्ष में और बुलाया चाण्डालों को।

चाण्डाल आये तो उन्हें आदेश दिया कि “राजमहल के निकट के राजपथ से जो भिक्षुक कुछ देर पूर्व निकला है, उसे पकड़कर किसी दूर एकान्त जंगल में या वधशाला में ले जाओ और सिर से पाँव तक की उसकी खाल उतार लो।”

□ हाय री विवशता

चाण्डाल आश्चर्यचकित थे। वे जानते थे कि ऐसे वेशधारी जैन-मुनि होते हैं और जैन-मुनि तो रास्ते की चींटी तक को अपने पैरों के नीचे नहीं आने देते, ऐसे करुणाशील होते हैं, पर क्या करते वे? राजाज्ञा से इनकार करने का साहस भी कहाँ से लाते?

बन्धुओं! बेमन से वे चाण्डाल उन मुनि के पास आते हैं। उन्हें रोककर राजाज्ञा की बात बताते हैं। मुनि समझ जाते हैं कि विकट परीषह उपस्थित हो गया है, पर वे अपना धैर्य नहीं खोते, मन में विषम भावों को नहीं आने देते। चुपचाप चाण्डालों के बताए पथ पर चलने लगते हैं। जंगल में आकर एक सुनसान स्थल पर चाण्डाल ठहरते हैं, मुनि भी रुक जाते हैं।

□ उतर रही है देह की चमड़ी, मुनिवर तो फिर भी रहे आत्म-रमणी

साथ में लाए हुए सुतीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों से वे चाण्डाल मुनि की खाल उतारने लगते हैं, चमड़ी उधेड़ने लगते हैं। असह्य वेदना होती है मुनिराज को पर उस मारणांतिक संकट में भी अपार धैर्य धारण कर मुनि सहज बने रहते हैं। वे चिन्तन करते हैं कि 'मैं शरीर नहीं, मैं तो आत्मा हूँ। जो वेदना हो रही है वह मुझे नहीं, शरीर को हो रही है। न इन चाण्डालों की कोई गलती है, न राजा की, जिसने इन्हें आदेश दिया मेरी चमड़ी छीलने का। गलती यदि किसी की है तो मेरी। निश्चय ही मैंने अपने किसी पिछले जन्म में कोई महा अशुभ कर्म किया होगा, जिसका फल इस रूप में मुझे भोगना पड़ रहा है।'

□ आत्म-रमण से स्वतः समभावों की उत्पत्ति

इस प्रकार स्कंधक मुनि समभाव से अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को याद करते हुए उस असह्य वेदना को भोगने लगे।

बन्धुओं ! जब परीषह या उपसर्ग आता है साधक के साधना-पथ में तब यदि साधक धैर्यपूर्वक अपने चिन्तन की दिशा को 'स्व' की तरफ दौड़ाए, आत्म-स्मरण करे तो स्वतः ही समभावों की सद्भावना संभावित हो जाती है। इसके विपरीत यदि परीषह पाकर, कष्ट और व्यथा से पीड़ित साधक निमित्त को कोसने लगे, निमित्त पर दोषारोपण कर आवेश में आये तो आत्म-हनन, आत्म-पतन होने लगेगा। आक्रोश में निदान जैसी स्थिति आ जायेगी, जहाँ पतन के सिवा अन्य कोई विकल्प नहीं बचेगा।

□ जैसा कषाय-वेग, वैसा कर्मबन्धन

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसके अनुसार प्रत्येक प्राणी का आत्मा ही कर्मों का कर्ता और आत्मा ही उन किए कर्मों के फल का भोक्ता है। जिसने जैसे कर्मों का बंध या उपार्जन किया है, उसको वैसा ही फल भविष्य में भोगना पड़ेगा। जैसा कि पूर्व में आपको बताया गया, कषाय और योग (अशुभ) कर्मबन्धन के मुख्य निमित्त होते हैं।

कषायों का वेग जितना तीव्र होता है, उतना ही तीव्र निकाचित, प्रगाढ़ कर्मबन्ध भी होता है। वेग मंद है, अल्प है तो कर्म भी हल्के, अर्थात् निद्धत्त कर्म ही बँधेंगे।

रहने के किसी आवासीय मकान या व्यावसायिक संस्थान के भवन का निर्माण यदि कोई आर. सी. सी. पद्धति से कराता है तो उसमें सीमेण्ट, बजरी, पानी आदि का मिश्रण एक निश्चित अनुपात से किया जाता है। अनुपात यदि सही है तो निर्माण भी सही होगा। निर्माण को जैसा व जितना मजबूत बनाना है, उसी अनुपात का मिश्रण तैयार किया जायेगा।

आत्मा और कर्म के आपसी बन्धन की भी यही स्थिति है। चैतन्य आत्मा के साथ जड़ कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का मिश्रण जीव के काषायिक परिणामों के आधार पर होता है। कषाय-भाव ही यहाँ पर रस का काम करते हैं। रस का एक अर्थ पानी भी है। जिस तरह पानी की न्यूनाधिकता होने पर सीमेण्ट-बजरी के मिश्रण में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार कषायों के वेग में जैसी-जैसी तीव्रता या मन्दता होती है, कर्मबन्ध में भी वैसी ही शिथिलता व दृढ़ता बनती है।

□ चार प्रकार के कर्मबन्ध

उक्त सिद्धान्त के आधार पर कर्मविज्ञान में कर्मबन्ध की पद्धतियों का वर्णन करते हुए चार प्रकार की पद्धतियों का निरूपण किया गया है—

(१) स्पृष्ट कर्मबन्ध

(२) बद्ध कर्मबन्ध

(३) निद्धत्त कर्मबन्ध

(४) निकाचित कर्मबन्ध

(१) स्पृष्ट कर्मबन्ध—स्पृष्ट अर्थात् शिथिल। स्पृष्ट बन्ध में कर्मबन्धन अत्यन्त शिथिल होते हैं, इतने शिथिल कि मन में भूल या अपराध के प्रति उद्भूत सामान्य पश्चात्ताप मात्र से इन बन्ध में बँधे कर्म निर्जरित हो जाते हैं। ऐसे कर्मबन्ध के कषायों का वेग अत्यन्त मंद होता है, आवेग शिथिल होता है, परिणाम बहुत ही हल्के होते हैं।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मुनि के प्रसंग का स्मरण करिये। ध्यानस्थ हैं, पर परिणामों की धारा शुभ से अशुभ में मुड़ जाती है, अशुभ चिन्तन तीव्र और तीव्रतर बन जाता है। सप्तमी नारकी के योग्य कर्मदलिक एकत्रित हो जाते हैं, लेकिन तभी पुनः परिवर्तन का एक सुखद, शीतल, सुवासित झोंका आता है और परिणामों की धारा पुनः मुड़कर ऊर्ध्वमुखी बन जाती है, अशुभ

को त्याग शुभ में प्रवेश कर जाती है, बहती हुई आस्रव की नाली पर संवर अवरोध कर देता है और निर्जरा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। जैसे ही उनका प्रवेश शुभ की ओर होता है, सामान्य पश्चात्ताप से, अन्तःकरण से किए गये पश्चात्ताप से कर्मदलिक हटते चले जाते हैं और राजर्षि वहीं, उसी ध्यानस्थ अवस्था में केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति कर लेते हैं।

बन्धुओं! स्पृष्ट कर्मबन्ध मोटे रस्से पर ढीली गाँठ जैसा बन्धन है, जिसे जरा-सा प्रयत्न करते ही, सामान्य पश्चात्ताप करते ही खोला जा सकता है, निर्जरित किया जा सकता है।

(२) **बद्ध कर्मबंध**—‘स्पृष्ट’ की अपेक्षा ‘बद्ध’ में कुछ गाढ़ापन अधिक रहता है। कषायों का वेग इसमें पूर्वापेक्षा कुछ अधिक तीव्र होता है। ऐसे कर्मबन्ध साधारण पश्चात्ताप से नहीं मिटाये जा सकते। इस ‘बद्ध’ नामक कर्मबन्ध के होने पर आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त स्वीकार करना पड़ता है। ‘स्पृष्ट’ में मोटे रस्से का उदाहरण दिया था, यहाँ रस्सा तो मोटा ही है पर गाँठ कुछ अधिक कसी हुई है, थोड़ी कसकर लगा दी गई है, अतः इसे खोलने में थोड़ा अधिक पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

उदाहरण के लिए अइमुत्ता मुनिवर को दोष लगे, उन्होंने जिन दोषों का सेवन किया उनकी आलोचना कर उनकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लिया और शुद्ध हुए। साधना में आगे बढ़कर उन्होंने अन्तिम समय में मोक्ष प्राप्त किया।

मेघकुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि में ही व्यथित हुए। मन में शिथिलता आई। दोष लगा। भावनानुसार ‘बद्ध’ बंध हुआ। प्रभु महावीर से प्रायश्चित्त लेकर दोषमुक्त हुए।

इस तरह ‘बद्ध’ कर्मबन्ध में स्पृष्ट की अपेक्षा थोड़ा-सा गाढ़ापन होता है तो आलोचना व प्रायश्चित्त से दूर हो सकता है। यहाँ पर ध्यान रखना आवश्यक है कि आलोचना व प्रायश्चित्त भाव सहित होने चाहिए।

(३) **निद्धत्त कर्मबन्ध**—आत्मा के साथ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का बंध तीव्र कषाययुक्त भावों से हो तो वह निद्धत्त कर्मबन्ध कहलाता है। निद्धत्त कर्मबन्ध बँधने के बाद आसानी से नहीं छूटता। इसको दूर करने के लिए विशेष पराक्रम करना पड़ता है, अर्थात् तपादि की आराधना करनी होती है।

अभी-अभी जिन दो बंध का वर्णन आपने सुना, उनसे निद्धत्त बंध का बंधन द्विगुणा मजबूत होता है। किसी रेशम के धागे में यदि गाँठ लग जाए तो उसे खोलने में अत्यधिक मेहनत करनी पड़ती है। इसके लिए किसी पिन, सुई, सुए, कील आदि नुकीले पदार्थ की मदद लेनी पड़ती है, वही स्थिति निद्धत्त बंध में भी है।

अर्जुनमाली में छह मास तक ६ पुरुष १ स्त्री की नित्य हत्या की। भावों के वेगानुसार निद्धत कर्मबंध हुआ। संयोग मिला अर्जुनमाली को सुदर्शन के माध्यम से प्रभु महावीर का। उपदेश हृदय में लगा तो दीक्षा ले ली। तपस्या के पारणे में लोगों की गालियाँ, मुष्टि-प्रहार, लातें, पत्थर आदि समभावपूर्वक सहन किए तो पुनः बंध को तोड़ने में सफलीभूत भी बन गये।

इस तरह निद्धत कर्मबंध, की हुई भूलों की आलोचना व उनका प्रायश्चित्त लेने के साथ ही बारह प्रकार के तपादि करने पर अर्थात् विशिष्ट पराक्रम फोड़ने पर ही दूर होता है। कर्मों के पूर्ण क्षय हो जाने पर साधक मोक्ष में चला जाता है।

(४) निकाचित कर्मबंध—चतुर्थ और सबसे अधिक प्रगाढ़ बन्धन कर्मों का 'निकाचित कर्मबंध' है। इसमें कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ जब बंध होता है तो तीव्रतर-तीव्रतम काषायिक परिणाम होते हैं जीव के। वह पाप की प्रवृत्तियों को करता हुआ अत्यन्त आनन्द अनुभव करता है, हँसता है, अपने पापकर्मों की सराहना-प्रशंसा करता है। तभी तो कहावत कही गई है—“हँस-हँस के बाँध रहे हो, पर याद रखना रोने से भी छुटकारा नहीं होगा।”

निकाचित बंध मारवाड़ी भाषा की गुल-गाँठ है, अर्थात् उलझी हुई ऐसी गाँठ जो कितने ही प्रयत्नों के बाद भी खुलेगी नहीं। उसे तो काटकर ही उलझन को सुलझाना होगा। यह कर्मबन्ध न आलोचना से, न प्रायश्चित्त से, न बाह्य या आभ्यन्तर बारह प्रकार के तपाराधन से दूर हटता है। यह तो हठी है, हटता ही नहीं। इसे तो फलविपाक का समय होने पर फल भोगकर ही दूर किया जा सकता है। तीर्थंकर जैसे महनीय, दिव्य महापुरुषों को भी यदि निकाचित कर्मबन्ध हैं उनके, तो उसका फल भोगना ही पड़ता है।

उग्र तपस्या आदि से इस बंध को कुछ शिथिल भले ही बनाया जा सके, पर इसका फलविपाक तो जीव निश्चितरूपेण भोगेगा ही। भोगे बिना इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। स्कंधक ऋषि ने पूर्वभव में निकाचित कर्मबंध किया। निश्चित है कि भोगना है, अतः उदय में आये वे कर्म। समभाव से भोगा उन्होंने उनके असह्य वेदनादायक फल को तो कर्मजाल को तोड़ सके। नहीं रह पाता यदि समभाव, विषमभावों में चला जाता मन तो संसार-चक्र बढ़ जाता, कर्मभार बढ़ जाता।

□ उत्कृष्ट अनुकम्पाभाव

उतर रही थी चमड़ी चर्र-चर्र कर ही थी और तर्रर्र-तर्रर्र बह रही थीं खून की धाराएँ, धरती रक्त-रंजित बन रही थी तथी समभावों की धारा में बहते मुनि की नजर धरती पर पड़ी। खून की गन्ध से आकृष्ट चींटियों का झुण्ड एकत्रित हो रहा था, खून के आस-पास। मुनि ने विचार किया—‘मेरी चमड़ी उतारते हुए ये चाण्डाल मेरे शरीर के चारों ओर घूम-फिर रहे हैं। जिधर की चमड़ी लेनी होती है, ये उधर ही जाते हैं। अब यदि ये इधर-उधर घूमेंगे तो ये चींटियाँ इनके पाँवों के नीचे दब जाएँगी, क्षत-विक्षत हो जाएँगी, मर भी सकती हैं। कितने प्राणियों का घात होगा? मुझे इनकी रक्षा करनी चाहिए।’

अब चाण्डाल जिस तरफ की चमड़ी उतारते मुनिवर उस तरफ स्वयं घूम जाते, अपने शरीर का वह हिस्सा उनके आगे ले जाते। चाण्डालों को घूमने की जरूरत नहीं रही, चींटियों की रक्षा भी हो गई।

□ सर्वकर्म नष्ट : सिद्धगति

बन्धुओं! करुणा के सागर में इस तरह गोते लगाकर, समभावों की अजस्र धारा में बहकर, निरन्तर चढ़ते हुए शुभ परिणामों के कारण वे पूर्ण शुक्लावस्था में पहुँच गये। शरीर का मोह छोड़कर मोहनीय कर्म को नष्ट कर डाला। मोहनीय नष्ट हुआ तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय भी नष्ट हो गये। तभी उनका आयुष्य कर्म भी नष्ट हो गया, अतः वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म भी स्वतः नष्ट हो गये।

असाधारण सहनशीलता, अपूर्व क्षमाभाव और अविचलित धैर्य से उन महामुनिवर ने खाल उतराते हुए ही सिद्धगति को प्राप्त कर लिया।

□ “भ्राता-मुनि की हत्या”—सुनन्दा ने जाना

चाण्डालों का कार्य समाप्त हो चुका था, अतः वे वहाँ से चले गये। उधर मुख की चमड़ी उतारने के लिए खोली गई और धरती पर गिरी हुई रक्त-रंजित मुनिवर की मुखवस्त्रिका रजोहरण को माँस का टुकड़ा समझ एक चील ने झपट्टा मारकर उसे अपने पंजों में दबोच लिया और आकाश में उड़ने लगी। संयोग से वह रजोहरण मुखवस्त्रिका उसके पंजों से छूट गई और ठीक महारानी सुनन्दा के महल में, उन्हीं के समक्ष गिरी। देखी रक्तरंजित मुखवस्त्रिकादि, यह यहाँ कैसे? किसी पक्षी ने यदि गिराई है तो किसकी, खून से भरी हुई क्यों?

दासियों से ज्ञात कराती है। दासियाँ आकर जो कुछ बताती हैं, उससे मुनि के घात का प्रसंग, राजाज्ञा का प्रसंग, चमड़ी उतारने का प्रसंग ज्ञात हो जाता है। तो महाराज ने स्वयं मुनि की हत्या करवाई है। जिज्ञासा बढ़ जाती है, आगे और खोज करवाती है, तब महारानी सुनन्दा को ज्ञात होता है कि जिस मुनि की हत्या करवाई गई, वह उनका भ्राता ही था। महाराज ने उसे लेकर चारित्रिक सन्देह किया, जिसका यह परिणाम था।

□ महाराज का पश्चात्ताप

महारानी अत्यन्त व्यथित हुई। वे बहुत रोईं। बड़ा करुण विलाप किया महारानी ने। महाराज को भी जब सारी बातें ज्ञात हुईं तो वे भी बहुत पछताए। सोचा—‘यदि संशय उठते ही मैं उसकी खोज करवा लेता तो यह अनर्थ नहीं होता। मन से ही कैसे-कैसे दुर्विचार, दुष्कल्पनाएँ कर डालीं मैंने?’

बन्धुओं! मन की गति को आज तक कौन समझ पाया है? जाने यह मन कहाँ-कहाँ उड़ानें भरता फिरता है। विचारों और कल्पनाओं के आकाश से यथार्थ के धरातल पर जब पाँव रखते हैं तो विचार-कल्पनाएँ तो वहीं की वहीं रह जाती हैं, पर कर्मबन्धन या तो भारी बन जाता है या फिर हल्का हो जाता है।

□ सारा खेल मन का

यह मन जब छलाँगें मारता है, कुलाँचें भरता है तो आकाश-पाताल सब नाप लेता है। इसी मन की उड़ानें हैं जो कभी प्राणी को सातवीं नरक तक ले जाती हैं तो कभी सर्वार्थसिद्ध की ऊँचाइयों का स्पर्श करवा देती हैं। सारा खेल ही मन का, मन के विचारों का, भावनाओं का है। कर कुछ नहीं रहे हैं, पर भावना का क्या करें? उसे अशुभ से शुभ में लाना जरूरी है, क्योंकि विचार शुभ होंगे तो कार्य, आचरण स्वतः शुभ हो जायेगा। आ गया भावों में उत्कृष्ट रसायन तो इस पार या उस पार। अशुभ भाव हैं तो तन्दुलमच्छ की तरह नरक गति और शुभ भाव हैं, चढ़ते परिणाम हैं, आ जाता है उत्कृष्ट रसायन तो कर्मबन्धन टूट जाते हैं, मोक्ष मिल जाता है जैसे प्रसन्नचंद्र राजर्षि को मिला।

□ काचरे छीलने की प्रशंसा का फल : देह की उतारी खाल

एक बार किसी लब्धिधारी, विशिष्ट ज्ञानी मुनि का कांचीपुर आना हुआ तो राजा व रानी गये उनके चरणों में। दर्शन-वन्दन किया उन्हें और पूछा राजा ने मुनिवर से—“भगवन्! मेरे द्वारा मुनि-हत्या जैसे जघन्य पाप का कारण क्या था? क्या केवल मन में उत्पन्न सन्देह ही था या अन्य कुछ?”

मुनिराज ने बताया—“आज से एक हजार वर्ष पूर्व स्कंधक राजकुमार, अर्थात् मुनि जी के जीव ने इए काचरे को बहुत ही सावधानी एवं चतुरता से ऐसा छीला कि उसका छिलका अखण्ड ही रहा। उस समय उस जीव ने अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की कि अहा! मैंने कितनी चतुरता के साथ इसका छिलका अखण्डित उतार लिया। इसे गोल-गोल बनाकर बता दूँ तो कोई नहीं जान सकता कि यह साबुत काचरा है या केवल छिलका है। राजन्! काचरे का वह जीव तुम हो। एक हजार वर्ष पूर्व के वैराणुबंध का बदला तुमने इन मुनि की खाल उतरवाकर लिया है। काचरा (ककड़ी) छीलने वाला जीव ही इस भव में हुआ स्कंधककुमार और बाद में स्कंधक मुनि। पाप में अति प्रसन्नता अनुभव के कारण निकाचित कर्मबन्धन हुए, अतः तुमने उससे अपने पूर्व बैर का बदला इस तरह लिया।” कथा साहित्य में ऐसा वर्णन मिलता है।

□ असातावेदनीय तीव्र प्रभावशाली

असातावेदनीय का उदय बड़े-बड़े दिग्गज आचार्यों, मुनिराजों, साधकों, ज्ञानियों, क्रियावानों, संतों, धोरी श्रावकों तक को चलायमान कर उन्हें धर्मपथ से दूर कर देता है। असातावेदनीय उदय में आकर अनेक अवसरों पर ऐसे उच्च श्रेणी के साधकों, संयमी महात्माओं, श्रावकों के मनो में धर्म के प्रति शंका का विष-वमन कर देता है कि देख-सुनकर आश्चर्य होता है। जो अज्ञानी हैं वे तो कह देते हैं—“देख लिया धर्म का फल! कैसा उच्च कोटि का त्यागव्रत करने वाला था यह, जीवनभर धर्म की शरण में रहा फिर भी देखो कितना भुगत रहा है?” इस प्रकार का चिन्तन केवल मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं और जैसा चिन्तन किया जायेगा, वैसा ही कर्मबन्ध होगा। जैसा कर्मबन्ध होगा, वैसा ही फल भोगना पड़ेगा।

□ है दोष सभी कर्मों का

बन्धुओं! गुरुदेव आपसे इसीलिए बार-बार कहते हैं कि नवतत्त्वों का, कर्मविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करिये। आप सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। सीख लेंगे यदि कर्मविज्ञान, जान लेंगे यदि जीव-अजीव रूपी नवतत्त्वों का यथार्थ स्वरूप तो आत्म-विज्ञानी बन सकेंगे, आत्म-रमण कर सकेंगे। फिर यदि कभी असातावेदनीय का उदय होता है तो आपका चिन्तन यही कहेगा—“पूर्व के बँधे हुए कर्मों का उदय हुआ है, मेरे ही अशुभ कर्मों का फल है, निमित्त कोई भी हो पर दोषी तो स्वयं मैं हूँ।” और ऐसा शुभ चिन्तन ही आपको संयम-भावों की ओर अग्रसर कर मोक्ष-पथ प्रदान कर सकता है।

□ निश्चित ही भोगना पड़ता है

बन्धुओं! असातावेदनीय कर्म को भोगते हुए अच्छे-अच्छे वीर, साहसी, शूरमां, सन्त, साधक भी बहुधा घबराकर विषमभावी बन सकते हैं, पर यदि समभाव में साधक असातावेदनीय के फल को भोगता है तो वह अपने कर्मों को क्षीण, क्षीणतर बना लेता है। निकाचित असातावेदनीय का बंध तीर्थकर—भगवंतों के भी यदि उदय में आये तो उन्हें कदम-कदम पर असह्य दुःख, कष्ट उठाने पड़ते हैं, उपसर्ग—परीषह सहन करने होते हैं। तप द्वारा उसे कुछ हल्का जरूर बनाया जा सकता है, पर भोगना तो अवश्यमेव पड़ता ही है।

तीर्थकर—महावीर सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बन गये, देवाधिदेव बन गये पर जब असातावेदनीय बंध का उदय हुआ तो छह मास तक “रक्तातिसार” से पीड़ित रहे, खून, आँव, रस्सी (पीव) की दस्तें लगीं। निमित्त था गोशालक, जिसने प्रभु पर तेजोलेश्या का प्रहार किया था। पूर्व में निकाचित बंध था। उग्र तप से हल्का जरूर बन गया, पर निर्जरित नहीं हुआ, भोगना ही पड़ा उन्हें।

□ समभाव से सहे तो शिखर पर

बन्धुओं! छद्मस्थ-साधक असातावेदनीय प्रकृति के उदय में आने पर यदि वह उसे सहन कर लेता है, समभावी बना रह जाता है, हाय, त्राय, आर्त्तनाद नहीं करता, साधना में अडिग, अविचल रह जाता है तो वह साधक निश्चित ही साधना के शिखर पर चढ़ जाता है। जैसा कि अभी आपने स्कंधक मुनि के प्रसंग में सुना।

□ असातावेदनीय का बंध क्यों?

भगवतीसूत्र में सर्वज्ञ भगवंत भगवान महावीर ने फरमाया है कि यदि किसी जीव द्वारा किसी जीव को उत्पीड़ित किया जाता है, अति कष्ट पहुँचाया जाता है, तीव्र दुःख दिया जाता है, घोर विराधना की जाती है तो उस जीव के तीव्र कर्मों का बंध हो जाता है, इसमें भी मुख्य रूप से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

“परदुक्खणयाए, परसोयणयाए, परतिप्पणयाए, परपिट्टणयाए, परपरियावणयाए, बहूणं जाव सत्ताणं दुक्खयाए, सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जाकम्मा किज्जन्ते।”

— भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ६, सूत्र २८६

अर्थात् दूसरे को दुःख देने से, दूसरे को शोक उत्पन्न कराने से, दूसरे को झुराने, रुलाने, पीटने और परिताप देने से, बहुत-से प्राणियों को दुःख देने, शोक उत्पन्न कराने आदि से जीव असातावेदनीय कर्मों का आस्रव करते हैं।

इस तरह असातावेदनीय कर्मबन्ध के बारह कारण बनते हैं।

असातावेदनीय कर्मबन्ध के ये बारह कारण हैं—(१) प्राण, भूत, जीव, सत्त्व को दुःख देना, (२) इन्हें बहुत दुःख देना, (३) इन्हें शोक कराना, (४) इन्हें बहुत शोक कराना, (५) इन्हें झुराना, (६) इन्हें बहुत झुराना, (७) इन्हें रुलाना, (८) इन्हें बहुत रुलाना, (९) इन्हें पीटना, (१०) इन्हें बहुत पीटना, (११) इन्हें परिताप पहुँचाना, और (१२) इन्हें बहुत परिताप पहुँचाना।

असातावेदनीय कर्म का कार्य जीव को दुःख की सामग्री मिला देना अथवा दुःखद स्थिति—परिस्थिति का संयोग करा देना है।

तत्त्वार्थसूत्र में असातावेदनीय कर्म के बंध के कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्र दिया गया है—

“दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थानान्य सद्देद्यस्य।”

इस सूत्र के अनुसार—(१) दुःख, (२) शोक, (३) ताप, (४) क्रन्दन, (५) वध, और (६) परिवेदन—स्वयं करने से, अन्य को कराने से अथवा दोनों को एक साथ उत्पन्न करने से असातावेदनीय आस्रव होता है। इनको स्पष्ट समझने के लिए दुःख, शोक आदि के अर्थ में, भाव में क्या अन्तर है? इसे भी समझ लीजिए।

(१) **दुःख**—असातावेदनीय बंध के प्रथम कारण के अन्तर्गत मनीषी आचार्य ने इसकी विवेचना में बताया है कि कुछ जीव जब किसी प्रतिकूल स्थिति के वश स्वयं आकुलता-व्याकुलता (पीड़ा) का अनुभव करते हैं तो हाय-त्राय मचाते हैं, आर्त्तध्यान करते हैं। ऐसी स्थिति में असातावेदनीय का बंध होता है। इसी तरह जीव दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हुए उन्हें जब आकुल-व्याकुल बनाता है तब भी असातावेदनीय बंध होता है। तीसरे विकल्प में परिस्थितिवश स्वयं भी आकुल-व्याकुल हो और दूसरों को भी दुःख की अनुभूति कराए तब भी असातावेदनीय का बंध करता है।

(२) **शोक**—इष्ट-वियोग व अनिष्ट-योग से शोकोत्पत्ति होती है। शोक के समय स्वयं आर्त्तध्यान करता हुआ जीव असातावेदनीय का बंध करता है। दूसरों को शोक कराता हुआ

जीव असातावेदनीय का बंध करता है। अत्यधिक शोक कुछ जीवों को या अनेक जीवों को कराता हुआ भी वह असातावेदनीय कर्मबन्ध करता है।

(३) ताप—स्वयं का अपमान होने पर, किसी के द्वारा निंदा किए जाने पर, अयशोकीर्ति नामक नामकर्म के उदय होने पर यदि जीव इस चिन्ता से कि अपयश फैलेगा, संताप में प्रवेश करे तो वह स्वयं के लिए असातावेदनीय आस्रव द्वार खोल लेगा। इसी प्रकार दूसरों के लिए ऐसे आस्रव द्वार को खुलवाने में निमित्त बनने पर अथवा दूसरों का अपमान, निन्दा आदि करके उन्हें संतापित बनाता है तो असातावेदनीय का बंध कर लेता है।

(४) क्रन्दन—दुःख अथवा विपरीत परिस्थिति से पीड़ित, प्रताड़ित, परितापित होकर जीव यदि स्वयं विलाप करे, आँसू बहाए, उच्च स्वर से रोए अथवा दूसरों के लिए ऐसी क्रन्दन करने जैसी स्थिति बनावे या ऐसी स्थिति उत्पन्न करे जिसमें स्वयं भी क्रन्दित हो, दूसरे भी क्रन्दन करें तो वहाँ असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

(५) वध—अन्य प्राणियों के श्रोत्रेन्द्रिय बल, चक्षुरिन्द्रिय बल, घ्राणेन्द्रिय बल, रसनेन्द्रिय बल, स्पर्शेन्द्रिय बल, मन बल, वचन बल, काय बल, आयुष्य बल व श्वासोच्छ्वास बल—इन दस प्रकार के प्राणों को मार-पीट से या ताड़ना-तर्जना से या कटु वचनादि से पीड़ित करना वध है। स्वयं वध करना, दूसरों से वध कराना, एक का वध करना, अनेक का वध करना—ये सभी प्रवृत्तियाँ असातावेदनीय कर्म की हेतुक हैं।

(६) परिवेदन—वियुक्त व्यक्ति के गुणों के स्मरण से ऐसा दीन, करुण विलाप करना कि जिसे अन्य सुने तो वह करुणाकवलित हो जाये, उसके हृदय में दया के भाव जागृत हो जाएँ—यह है परिवेदन का रूप।

जीव का स्वयं का परिवेदन, उसका दूसरे प्राणियों को परिवेदना देना आदि भी असातावेदनीय बंध के द्वारों को खोलने के हेतु हैं।

□ राजा पुरुषसिंह व रानी सुनन्दा दीक्षित

राजा पुरुषसिंह ने मुनिराज के मुख से पूर्वभव का सारा प्रसंग जब सुना तो उन्होंने असातावेदनीय आदि कर्मबन्ध के कारणों पर चिन्तन-मनन करते हुए सांसारिक सम्बन्धों को असार समझ संयम-पथ ग्रहण करने का मानस बना लिया। रानी सुनन्दा तो भ्राता-मुनि की खाल खिंचवाने के प्रसंग से ही संसार-विरक्त बन चुकी थीं। इन दोनों ने दीक्षा अंगीकार कर अपने आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त किया।

□ राजा कनककेतु व रानी मलयसुन्दरी भी दीक्षित

स्कंधक मुनि के माता-पिता ने मुनि के संरक्षण हेतु जिन गुप्तचरों को नियुक्त किया था, उन्होंने आकर महाराज कनककेतु एवं रानी मलयसुन्दरी को यह बता दिया कि किस तरह मुनिवर की खाल उतार ली गई और उन्होंने कैसे अत्यन्त शान्त भाव से सहन करते हुए प्राण त्याग दिये!

गुप्तचरों से अपने दीक्षित पुत्र के पूर्ण प्रसंग को जानकर वे दोनों राजा-रानी भी संसार से विरक्त बन दीक्षित हो गये। उन्होंने भी अपना शेष जीवन 'स्व' में रमण करते हुए निजात्मा को भावित करते हुए समाधिमरण को प्राप्त किया।

□ भावों को शुभ बनाइए

बन्धुओं! बड़ी बात है भावों में निर्मलता। अशुभ से शुभ में प्रवाह ही व्यक्ति को आत्म-कल्याण के पथ पर ले जाने में सक्षम है। इन भव्यात्माओं के मंगलमय आत्म-कल्याणी जीवन-प्रसंगों को सुनकर आपको भी अपने में परिवर्तन लाना है। सांसारिकता और पर-पदार्थों में लुब्ध बने मन को धार्मिक अनुष्ठानों में, आत्म-रमण में मोड़ना है। सुनने-सुनाने का यथार्थ फल वही है। मोड़ दिया यदि आपने 'पर' से 'स्व' में अपने को तो चिदानन्दमय शाश्वत सुखों का राजमार्ग आपको अपने अन्तिम लक्ष्य तक अवश्य पहुँचायेगा।

आनन्द ही आनन्द !



घाणी मां पील्या

(स्कंधक मुनि-२)

रागो य दोसो वि य कम्म बीयं, कम्मं च मोहप्प भवं वयंति ।
कम्मं च जाइ—मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ—मरणं वयंति ॥

आत्म-बन्धुओं!

सत्य और शील के सृजक, राग और द्वेष के नाशक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु एवं उनके द्वारा भाषित 'जिनवाणी' का महत्त्व अवर्णनीय है। साधारण व्यक्ति की क्या सामर्थ्य जो वह उस वाणी का बखान कर सके या शब्दों के घेरे में बाँधकर उसे कलम से कागज के धरातल पर उतार सके।

इसीलिए तो प्रतिक्रमण में पंच-परमेष्ठी पदों को भाव-वन्दन देते हुए, उनके लिए यही कहते हैं—

सागर में पाणी घणो, गागर में न समाय ।
पांच पदां में गुण घणा, म्हासूं कह्यो न जाय ॥

□ वीतराग वाणी का माहात्म्य

बन्धुओं! ऐसा क्या महत्त्व है उस वाणी में और ऐसे क्या गुण हैं उस वाणी के भाषक उन महापुरुषों में?

उन वीतरागी प्रभु की महनीया वाणी का महत्त्व तो केवल इसी एक बात से सिद्ध हो जाता है कि अनादि-अनंतकाल से आत्मा पर लगे उन कर्मवर्गणा के परमाणु पुद्गलों को, जो संसार-परिभ्रमण के हेतुक हैं और जो सुख-दुःख आदि के नियामक हैं, उन्हें नष्ट करने का सामर्थ्य यदि किसी में है तो एक मात्र वीतराग वाणी में, जिनवाणी में, तीर्थकर प्ररूपित वाणी में।

□ संसार-वृद्धि का कारण है—राग और द्वेष

इस वाणी के भाषक महापुरुष स्वयं राग-द्वेषजयी हैं, क्रोधादि कषायों का शमन कर चुके हैं, आत्मा पर आच्छादित आत्मघाती आवरणों को दूर कर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर आत्मोपकारी पथ के प्रकाशक बन गये हैं।

ऐसे ही वीतराग प्रभु महावीर ने अपनी अमोघ पतित पावनी जिनवाणी का अमृत-वर्षण करते हुए 'उत्तराध्ययनसूत्र' के ३२वें अध्ययन की सातवीं गाथा में कहा—“रागो य दोसो।” अर्थात् राग और द्वेष, ये दो ही कर्म के मूल बीज हैं। उन कर्म हेतुक दो बीजों की अर्थात् राग और द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण है—मोह, प्रेम, अनुराग, आसक्ति। कर्म कुल आठ हैं और इन सभी की वृद्धि का कारण मोह है। मोह के कारण जीव कर्मबंध करता है और अर्जित इन कर्मों के कारण से ही जीव का संसरण, संसार में संचरण या जन्म-मरण होता है। संसार में जन्म-मरण का जो चक्र है, वही दुःख स्वरूप है।

□ राग-द्वेष के नाश से मोक्ष

बन्धुओं! चार गति, चौबीस दण्डक, चौरासी लाख जीवयोनि रूप यह संसार-चक्र अनादिकाल से जीव की मोहदशा के कारण निरन्तर चल रहा है और तब तक चलता रहेगा, जब तक यह जीव मोह की दशा में भान भूला रहेगा। वीतरागी बनने के लिए इस मोह को, मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करना होगा, पूर्णतः क्षय करना होगा, जड़ सहित हटाना होगा। ऐसा करने पर ही राग-द्वेष नष्ट होंगे और जीव वीतराग—वीतद्वेष बन वीतरागी कहलायेगा। वीतरागता ही सर्वज्ञता है, यही मोक्ष-द्वार है, मोक्ष है।

□ राग-द्वेष हैं तो और यदि नहीं हैं तो!

स्पष्ट है कि राग और द्वेष जीव के लिए घातक हैं, ये जीवात्मा को सतत परिभ्रमण के चक्र में डालने वाले हैं। 'ज्ञानसार-अष्टक' में तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि—

राग-द्वेषौ यदि स्याताम्, तपसा किं प्रयोजनम्?

तावेव यदि न स्याताम्, तपसा किं प्रयोजनम्?

अर्थ यह कि साधक में यदि राग-द्वेष का भाव है तो उसके तप का कोई प्रयोजन नहीं, कोई फल नहीं, कोई लाभ नहीं और साधक में यदि राग-द्वेष नहीं तो वह वीतरागी हुआ, सर्वज्ञ हुआ, उसने अपना चरम उद्देश्य सिद्ध कर लिया, अतः अब उसके तप करने का कोई प्रयोजन नहीं रहा। तप का प्रयोजन ही राग-द्वेष को नष्ट करना है, अतः राग-द्वेष नहीं तो तप करने जैसी स्थिति ही नहीं रहती।

उक्त कथन सापेक्ष है जैसे वीतरागी, सर्वज्ञ बनने के पश्चात् भी उनमें चारित्ररूपी तप रहता है तथा यथाख्यात चारित्र से वहाँ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, शुक्लध्यान, व्युत्सर्ग आदि तप भी होते हैं तथा अन्तिम समय में तप सहित निर्वाण का उल्लेख आगमों में मिलता है।

□ राग-द्वेष विषरूप हैं

राग-द्वेष की अत्यधिकता व तीव्रता यदि साधक में उपस्थित है तो ऐसी स्थिति में उसके द्वारा की गई समस्त साधना, धर्मध्यान और तप-त्याग की आराधना कर्मों के क्षय की हेतुक नहीं बन सकेगी अपितु वह तो नियामकों की नियामक, निदान-सिद्धि की हेतुक बनकर कर्मबन्ध में वृद्धि का कारण ही बनेगी। एक लौकिक कहावत है—“पयः पानं भुजंगानां केवलं विष-वर्धनम्।”

यह तो आप सब लोग भी जानते हैं कि साँप को यदि दूध पिलाया जाएगा तो उससे केवल विष की वृद्धि ही होगी। धर्मध्यान, तप-त्याग की आराधना व साधना दूध की तरह है और राग-द्वेषभाव सर्प की भाँति, स्पष्ट है संसार की वृद्धि विष-बेलड़ी है। आत्म-शुद्धि के लिए तो वीतरागता का पथ चुनकर वीतराग बनने की साधना करनी होगी, राग-द्वेष मिटाना ही होगा।

□ राग-द्वेष आत्म-घातक हैं

व्यक्ति यदि यह सोचे कि राग-द्वेष द्वारा वह अन्यान्य को लाभ या हानि पहुँचा रहा है तो उसका यह चिन्तन सही नहीं है। वस्तुतः सामने वाले का अर्थात् जिस पर राग या द्वेष किया जा रहा है, उसका तो नुकसान होगा या नहीं होगा, पर जिसने राग-द्वेष किया, उसकी तो हानि प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है।

संसार में नाते-रिश्ते के भँवर-जाल में फँसे प्राणी एक-दूसरे से राग रखते हुए और उस राग के कारण अन्य-अन्य से द्वेष रखते हुए जीवन-पर्यन्त मोह में उलझे, आस्रव द्वारों से कर्म-पुद्गलों को खींचते रहते हैं। एक पिता अपने पुत्र, पत्नी, पौत्र आदि के लिए क्या-क्या पाप, अनैतिकता, कुकर्म नहीं करता? जिनके लिए वह दौड़ता है, कष्ट उठाता है, पापकर्म करता है—वे उसका क्या हित करते हैं? कुछ तो उनकी सेवा करने से भी पीछे हट जाते हैं? कुछ उनके द्वेषी-विद्वेषी बन वृद्धावस्था में उनका अपमान करते हैं, कटु वचन कहते हैं, अनेक कष्ट देते हैं। जो पापकर्म उन पुत्रादि के लिए कमाएँ, उनका फल भोगता तो निश्चित है ही।

□ दृष्टान्त—(१) मुनि अरणक का, (२) भँवरे का, (३) संगम का, (४) गोशालक का, (५) त्रिपृष्ठ का

मुनि अरणक ने अपने संकल्पों को विस्मृत कर राग किया था गणिका से, पर मिला क्या उन्हें? अपने महाव्रत रूप उत्तम रत्नों की हानि ही पाई उन्होंने! उत्थित आत्मा को पतन के गर्त में ही गिराया उन्होंने! कर्म तोड़ने के पथ से भटककर नवीन कर्मबन्ध ही किया उन्होंने!

भँवरा राग करता है कमल से। संध्या समय पंखुड़ियों के बन्द हो जाने पर अति रागवश सामर्थ्य होते हुए भी वह उनका छेदन नहीं करता। परिणामस्वरूप सूर्योदय से पूर्व ही कमल हाथी की सूँड़ की लपेट में आ जाता है। भँवरे का अति राग उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है।

द्वेष करने पर भी यही स्थिति बनती है। संगमदेव ने द्वेषवश प्रभु वीर को भयंकर से भयंकर उपसर्ग दिये। वह चाहता था, महावीर अपनी साधना से विचलित हो जायें, पर हुआ क्या? महावीर तो अधिक अटल, अडिग, अकम्पित बन गये। समभावपूर्वक उपसर्गों को सहन कर द्वेष नहीं करते हुए वे अष्ट कर्मबन्धनों को क्षीण, क्षीणतर बनाते गये, पर संगम द्वेष की अग्नि में आप ही अपनी आत्मा को पीड़ित बना बैठा, उसके कर्मबन्ध का भार बढ़ गया, संसार-चक्र बढ़ गया, दुःख-भोग बढ़ गया।

यही हाल गोशालक का हुआ। द्वेष की तीव्रता में उस द्वेषांध ने प्रभु की कृपा से प्राप्त लब्धि 'तेजोलेश्या' का प्रहार प्रभु पर ही कर दिया। परिणामस्वरूप स्वयं वह उस तेजोलेश्या से पराभूत बन गया। प्रभु तो समभाव से सहन कर गये, पर उसने प्रभु पर प्रहार कर तीव्र कर्मों का बंध कर लिया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में द्वेषभाव से शय्यापालक के कानों में पिघला हुआ शीशा डालकर प्रभु महावीर के जीव ने जो असातावेदनीय कर्म का बंध किया, परिणामस्वरूप शय्यापालक ने ग्वाला बन महावीर के कानों में द्वेषभाव से कीलें ठोंकी। महावीर तो समभावी रहे, अतः कर्म क्षीण कर गये, पर ग्वाले ने पुनः तीव्र कर्मबंध कर लिये।

स्पष्ट है राग-द्वेष करने वालों को स्वयं को ही अपने राग व द्वेषभाव का अशुभ फल भोगना पड़ता है, संसार में पुनः-पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है, नरक, निगोद, तिर्यञ्च आदि के भयंकर कष्ट उठाने पड़ते हैं।

□ अज्ञानी का भ्रम है कि राग-द्वेष में सुख होता है

बन्धुओं! आपको बताया था कि राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति ही संसार है और संसार ही दुःखरूप है। अनादिकाल से मानव की चाह बनी हुई है कि वह संसार के जन्म-मरणरूप दुःख से छूट जाये, पर अनंत-अनंत जन्म-मरण करके भी उसने दुःखों के मूल को पहचानकर उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। कभी प्रयत्नशील बना तो भी प्रयत्नों को अधूरा छोड़ दिया।

अज्ञ जीव राग-द्वेष को, सांसारिक बन्धनों व मोह-माया को सुख समझ लेते हैं और उन्हीं में रमण करते हुए अपनी अज्ञता के कारण संसार-भ्रमण को बढ़ा लेते हैं। व्यक्ति चाहे नर हो या नारी, वयस्क होकर विवाह रचाते हैं? उनकी कल्पना में विवाह सुख का एक स्रोत होता है, अतः पति पत्नी से और पत्नी पति से अत्यन्त रागभाव रखते हुए हँसते-खिलखिलाते परिणय-प्रसंगों में, पति-पत्नी-प्रसंगों में मग्न और लीन बने प्रसन्नता का आभास करते हैं।

□ संसार के सारे सुख, दुःखरूप हैं

शादी होती है, दिन बीतते हैं तब देर-सवेर दोनों अनुभव करते हैं कि उनकी कल्पना सही नहीं थी। सुख के स्थान पर दुःखों का आगमन होता जाता है, वे दुःख समय के साथ निरन्तर बढ़ते जाते हैं और तब एक पत्नी को दुःखी होकर कहना पड़ता है—“हाय! शादी के प्रथम वर्ष में मुझे चन्द्रमुखी समझा जाता था, कुछ वर्षों पश्चात् सूर्यमुखी समझा जाने लगा पर अब तो स्थिति उससे भी ज्यादा बिगड़ गई, कल तो मुझे ज्वालामुखी बता दिया गया।”

पुरुष वर्ग यह सुनकर शायद समझे कि नारी वर्ग के लिए ही यह लागू है, पर आप भी शादी के पूर्व व शादी के कुछ दिनों तक देवता, फिर पशु और और राक्षस से उपमित किए जाते हैं।

□ द्वेष से बढ़ता जाता है द्वेष

जब कोई व्यक्ति किसी पर द्वेष करता है तो द्वेषभाव में उस व्यक्ति को हानि पहुँचाना चाहता है। मन में उसके यही विचार होता है कि इसे हानि होगी तो मेरे दिल को चैन मिलेगा, शान्ति मिलेगी, ठंडक पहुँचेगी। परिणामस्वरूप जिससे द्वेष किया गया, जिसका अहित किया गया, वह व्यक्ति भी आवेश में आयेगा, वैरभाव बँधेगा और आने वाले समय में उसके द्वारा भी अपने अहितैषी का अहित, मार-पीटकर या अन्य किसी तरह का कुकर्म कर

किया जा सकता है। द्वेष से द्वेष बढ़ा, चैन-सुख छिन गया, चिन्ता बढ़ गई, वैर-विरोध प्रारम्भ हो गया।

□ राग 'स्लो-पॉइजन' है

बन्धुओं! जैसे-जैसे व्यक्ति का राग-द्वेष बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे दुःखों में भी वृद्धि होती जायेगी। प्रभु फरमाते हैं—“न राग सुखदायी है, न द्वेष सुखदायी है। यदि राग चूहे की भाँति हानि पहुँचाता है तो द्वेष की प्रकृति साँप की भाँति अनिष्ट पहुँचाने की है। राग के काटे को अपनी होती हुई हानि का पता नहीं चलता, वह 'स्लो-पॉइजन' की भाँति हानि पहुँचाता है—आत्मा को। द्वेष द्वारा हो रही हानि प्रत्यक्ष व त्वरित अनुभूति में आ जाती है, उसका असर शीघ्र होता है। चाहे जो हो, विष तो विष ही है। घातक वस्तु तो घात ही करेगी। राग-द्वेष भी घातक हैं, ये आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं, अतः इनसे बचने में, दूर रहने में, इन्हें समूल नष्ट करने में ही जीवात्मा का अनंत हित निहित है।”

□ राग से द्वेष और द्वेष से राग

राग से कभी द्वेष की उत्पत्ति होती है तो कभी द्वेष से राग की उत्पत्ति हो जाती है। कभी राग रागभाव में ही स्थित बना रहता है और कभी द्वेष द्वेषभाव में ही घिरा रह जाता है। इस प्रकार इनका अन्योन्य सम्बन्ध भी चलता रहता है। यह स्थिति वैसी ही बनती है जैसे झूले के चलने पर कभी ऊपर वाला झूला नीचे आता है और कभी नीचे वाला ऊपर चला जाता है।

बच्चों को विद्यालयों में भूगोल और विज्ञान विषयों में पढ़ाया जाता है कि समुद्र का पानी वाष्पीभूत होकर बादलों के रूप में उड़ जाता है। यही बादल शीतलता पाकर पुनः वर्षा के रूप में बरसते हैं और वह पानी नदी-नालों के माध्यम से पुनः समुद्र में चला जाता है। निरन्तर यह क्रिया चलती रहती है।

इसी प्रकार राग और द्वेष की परिणति का चक्र भी निरन्तर चलता रहता है। इस बात को निम्न चौभंगी के रूप में आप सभी अच्छी तरह समझ सकते हैं—

□ चौभंगी

- (१) राग से राग,
- (२) राग से द्वेष,
- (३) द्वेष से राग, और
- (४) द्वेष से द्वेष।

(१) राग से राग—एक व्यक्ति ने नींबू लिया। चाकू से उसे काटा। उसका रस निकाला। बीज अलग किये। पानी मिलाया। खट्टापन को रुचिकर बनाने के लिए शक्कर मिलाई। आवश्यक शक्कर मिलाने के बाद कुछ शक्कर और डाल दी। क्या होगा? अधिक मीठा हो जायेगा वह शर्बत! अब उस अधिक मीठे बने शर्बत में फिर कुछ शक्कर और मिला दी तो क्या होगा? निश्चित ही वह बहुत ज्यादा मीठा हो जायेगा। ऐसे ही थोड़ी-थोड़ी शक्कर उसमें और डालते रहें तो एक स्थिति ऐसी आयेगी कि वह पीने योग्य ही नहीं रह जायेगा। ध्यान देने की बात है, बार-बार शक्कर मिलाते रहने से किसी भी परिस्थिति में शर्बत कडुआ, खारा तो नहीं होगा, पर सीमातीत मीठा हो जायेगा, अतः पिया नहीं जा सकेगा।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए जिसमें राग, अति राग में चला जाता है। कई बार पति-पत्नी का आपसी रागभाव परवान चढ़ता चला जाता है। राग से राग बढ़ता है तो निरन्तर बढ़ता जाता है। उस राग में इतनी तीव्रता आ जाती है कि वे एक-दूसरे के अवगुणों, अपराधों, अनीति व अन्यायपूर्ण व्यवहारों को भी अनदेखा कर जाते हैं। ऐसे तीव्र रागभाव का द्वेषभाव में परिवर्तन नहीं होता। कदाचित् दोनों के एक-दूसरे से वियोग का समय भी आ जाये तो उस वियोग में वियोगी विक्षिप्त बन जायेगा, जीवित होकर भी लाश बनकर जीवन को ढोएगा या फिर अपना प्राणांत ही कर लेगा।

आपने इन्हीं प्रवचनों में बलदेवों के जीवन-प्रसंग सुने। कितना रागभाव होता है भ्राता से भ्राता का, अर्थात् बलदेव और वासुदेव का। वासुदेव की मृत्यु हो जाने पर बलदेव अपने भाई वासुदेव की लाश को छह मास पर्यन्त जलाने नहीं देते, उन्हें मृत नहीं मानते, उन्हें मनाते हैं यह मानकर कि वे रूठे हुए हैं। क्यों करते हैं वे ऐसा? निश्चय ही यह आत्यंतिक तीव्र रागभाव के कारण होता है।

राम और लक्ष्मण के आपसी तीव्र राग, अटूट स्नेह, अक्षय प्रेम की बात इन्द्र के मुँह से देव सुनते हैं तो परीक्षा के लिए पहुँच जाते हैं अयोध्या। लक्ष्मण के महलों में आने का जो निर्धारित समय है, उस समय देव अपनी वैक्रिय लब्धि से माया-संसार की रचना वहाँ करते हैं। लक्ष्मण जब वहाँ आते हैं तो देवमाया के कारण उन्हें सारा अन्तःपुर रोता हुआ नजर आता है। रानियों का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है—“हे राम! असमय में ही आप हमें इस तरह निराधार छोड़कर कैसे चले गये? आपके बिना हमारा क्या होगा? आपके अनुज बिना आपको देखे कैसे जीवन व्यतीत करेंगे?”

बन्धुओं! आपने तो सुना ही होगा, क्या दशा हुई थी लक्ष्मण की, इन शब्दों को सुनकर? अपने स्नेही भ्राता के प्रति आत्यंतिक रागभाव के वशीभूत बने लक्ष्मण ने यह कहते हुए तुरन्त अपने प्राण त्याग दिए कि “भाई मरे और मैं जीवित!”

धन के प्रति अत्यन्त आसक्त को एकदम सूचना दी जाए कि उसके दस करोड़ की लॉटरी खुली है। क्या होगा? ‘हार्ट फेल’ हो सकता है उसका! क्यों हो सकता है हार्ट फेल? वही रागभाव की तीव्रता के कारण!

अनेक बार अत्यधिक प्रिय व्यक्ति की मृत्यु का समाचार पाकर व्यक्ति विषम परिस्थिति में आ जाता है। पुत्र की मृत्यु के समाचार से माता, पति की मृत्यु के समाचार से पत्नी अनेकों बार मरणासन्न हुए हैं।

राग से निरन्तर बढ़ता रागभाव संसार-परिभ्रमण को बढ़ता है और कई बार दुर्गति भी प्रदान करता है।

(२) राग से द्वेष—द्वेषोत्पत्ति का मुख्य स्रोत ही रागभाव है। पूर्व में रागभाव की विद्यमानता नहीं तो वहाँ द्वेषभाव का आना संभावित नहीं। वर्षों तक रहने वाला रागी का रागभाव जब देखता है कि उसकी स्वार्थ-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो रही है तो स्वार्थ-पूर्ति में बाधक बनने वाले व्यक्ति के प्रति उसका द्वेष जग जाता है, यद्यपि ऐसा व्यक्ति पूर्व में उसका राग-पात्र था।

विवाहित पति एवं पत्नी का शादी के बाद दाम्पत्य जीवन वर्षों तक रागभाव की विद्यमानता के कारण सुखद रूप से चलता रहता है। वे साथ जीने और साथ मरने की कसमें खाकर अपने राग-सम्बन्धों का प्रदर्शन करते हैं। उनके लिए एक-दूसरे के बिना समय व्यतीत करना दुष्कर बन जाता है। वियोग का एक-एक क्षण उन्हें वर्ष-युग की तरह लगता है।

ऐसे तीव्र रागमय जीवन में कभी किसी क्षण, किसी कारण से एक-दूसरे के चरित्र पर सन्देह यदि उत्पन्न हो जाए तो कल्पना करिए, क्या होगा? वहाँ वह वर्षों का निरन्तर वृद्धि पाता हुआ तीव्र बना रागभाव कुछ ही क्षणों में परिवर्तित हो जायेगा और वहाँ उत्पत्ति होगी द्वेषभाव की।

आगम में राजा परदेशी का प्रसंग आता है। अत्यन्त क्रूर, अनात्मवादी, नास्तिक था वह। उसकी रानी थी—सूर्यकान्ता। दोनों थे भोग-विलास के कीड़े, अतः एक-दूसरे के प्रति तीव्र रागात्मक सम्बन्ध था उनमें। एक-दूसरे के सांसारिक सुखों के लिए दोनों ही एक-दूसरे के

पूर्ण सहयोगी रहे। आते हैं उद्यान में केशी श्रमण। मिलन होता है राजा परदेशी का उन महाश्रमण से। चलती है धर्मचर्चा। राजा परदेशी प्रभावित हो जाता है। उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है। वह बाह्य संसार से अन्तर् के आत्म-संसार की ओर मुड़ जाता है।

यह परिवर्तन उस राजा परदेशी को पापों से, सावद्य प्रवृत्तियों से, शिकार, माँस-मदिरा से विमुख बना देता है। धर्म के यथार्थ स्वरूप की उसे जानकारी मिल जाती है। संसार के सुखों में निर्बाध रमण करता हुआ उसका जीवन आध्यात्मिकता की ओर मुड़ता है। वह अपने जीवन को व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, तपमय बना लेता है।

परिवर्तन की यह स्थिति रानी सूर्यकान्ता को कैसे अच्छी लगे? वह तो अपने प्रियतम को उन्हीं कामभोगों के आकर्षण में खींचना चाहती है। अनेक प्रयत्न, अनेक चेष्टाएँ करती है वह कि किसी प्रकार राजा परदेशी उसके रूप जाल में पुनः उलझे, उसके साथ कामभोग सेवन करें, स्वयं सांसारिक आनन्द लूटें और उसे भी उस आनंद का निरन्तर रसपान कराएँ।

बन्धुओं! रानी सूर्यकान्ता अपनी चेष्टाओं में असफल रहती है, वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाती, उसकी सारी अभिलाषाएँ मारी जाती हैं। राजा परदेशी अडिग आस्थावान बने रहकर उसकी समस्त चेष्टाओं के चक्रव्यूह को तोड़ देते हैं। यही असफलता, स्वार्थ-पूर्ति में आ रही यह रुकावट, कामभोगों के दुःख स्वरूप सुखों की प्राप्ति में यह विफलता रानी सूर्यकान्ता के तीव्र राग को तीव्र द्वेष में परिणत कर देती है।

आगे जो परिणाम हुआ, वह आपने सुना होगा कई बार। व्यक्ति जब द्वेष के वशीभूत होता है तो वह अनीति, अन्याय, अत्याचार किसी में भी कोई कमी नहीं रखता। जिसके प्रति द्वेष उद्भूत हुआ, वह उसके लिए कट्टर दुश्मन बन जाता है, आँख की किरकिरी बन जाता है, हर पल, हर क्षण उसका जीवित रहना खटक पैदा करता रहता है।

रानी को भी अपने सुहाग का सिन्दूर अँगारे की तरह लगने लगा। उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा—“वत्स! तेरे पिता राज्य से उदासीन बन गये हैं। उनकी चर्या में राजनीति की जगह धर्मनीति प्रवेश कर गई है, अतः वे भीरु बन चुके हैं। राज्य के हित में अब उनका जीवन व्यर्थ है। तुम्हें चाहिए कि तुम राज्य का शासन सँभालो। इसके लिए तुम्हें पितृ-हंता बनना होगा, पर यह राज्य के हित के लिए अनुचित नहीं होगा।”

स्पष्ट है रानी सूर्यकान्ता का द्वेष राजा के प्राणों का ग्राहक बन चुका था और इसके लिए ही उसने अपना खेल बड़ी चतुराई से पुत्र की आड़ में खेलना चाहा, पर इसमें भी वह

असफल रही। पुत्र ने पितृ-हन्ता बनना अस्वीकार कर दिया। असफल सूर्यकान्ता की खीझ और अधिक बढ़ गई। उसने निर्णय लिया कि वह स्वयं पति की हत्या करेगी।

रानी ने कालान्तर में किसी दिन राजा परदेशी की तपश्चर्या के पारणे हेतु तैयार वस्तुओं में चुपके से विष मिला दिया। राजा ने प्रहर दिन चढ़ने के पश्चात् जब पारणा किया तो वह विषयुक्त आहार उसके हलक से होता हुआ नीचे उतर गया। कुछ ही देर में राजा पर विष का प्रभाव होना प्रारम्भ हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग शिथिल बनते जा रहे थे, उसकी आँखें पथरा रही थीं, उसका शरीर नीला पड़ रहा था। राजा ने समझ लिया कि “कभी प्राण-प्रिया जो थी वही सूर्यकान्ता आज मेरी प्राण-हंता बनी है, मुझे विष दिया गया है, मेरी मौत अब निश्चित है।”

जैसे-तैसे हिम्मत करके वह उठा और चलकर पौषधशाला में आया। अपने लिए हुए व्रतों की आलोचना की, सागारी संलेखना-संधारा धारण किया तथा समभाव में स्थित बन शय्या-संस्तारक पर सो गया।

राजा की यह हालत देखकर किसी दास ने मन्त्री को सूचित कर दिया। मन्त्री ने अन्यान्य राज्याधिकारियों को कहलवाया और स्वयं राजमहलों में चला आया। पता चला, महाराज पौषधशाला में हैं तो वहाँ गया। अन्य लोग भी आने लगे। सभी चकित थे कि यह हालत कैसे हुई? लगता है विष दिया गया है, पर किसने दिया?

किसी ने वैद्यराज को बुलावा भेजा। रानी सूर्यकान्ता भी वहाँ आ चुकी थी। उसने देखा कि वैद्य आयेगा तो काम बिगड़ सकता है। उसने एक बार राजा की ओर देखा फिर नजर घुमाकर मन्त्री आदि की तरफ। एक समझदार व्यक्ति ने कहा—“शायद दोनों आपस में कुछ बात करना चाहते हैं।” संकेत स्पष्ट था। सभी बाहर चले गये। रानी ने अपनी सिर की कोमल, स्निग्ध, सुकृष्ण, सुचिक्कन केशराशि को राजा के मुँह पर इस तरह फँलाया जैसे वह नजदीक से बात कर रही हो। इसी अवसर पर उसने अपने केशराशि का फंदा बनाकर राजा के गले को जोर से कस दिया।

बन्धुओं! यह है राग-द्वेष की विचित्र संसार-लीला! जो केशराशि कभी राजा परदेशी के लिए तीव्र आकर्षण का, लगाव का केन्द्र थी, वही केशराशि उसके अन्त का निमित्त बनी।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि राग की परिणति, बहुत बार द्वेष में होती है। राग जितना तीव्र होगा, द्वेषभाव में उसकी परिणति भी उतनी ही तीव्र होगी। यही प्राकृतिक नियम है। एक

व्यक्ति ने गेंद को आकाश की ओर ताकत लगाकर उछाल दिया। गेंद जितनी तेजी से ऊपर जायेगी, उससे भी अधिक तेजी से नीचे आयेगी। व्यवहार में भी यही होता है। एक पिता के अनेक पुत्र। बचपन में आपस में उनमें अत्यधिक स्नेहभाव। इतना स्नेह, इतना प्रेम कि एक-दूसरे के लिए मरने-मारने को तैयार। यदि कभी कोई अड़ोसी-पड़ोसी किसी एक भाई को कुछ कहे, हाथ लगा दे, पीट दे तो दूसरा उसकी सुरक्षा और बदला लेने हेतु लड़ने को तत्पर। युवा हुए वे। विवाह किया उनका। कालान्तर में वृद्धावस्था आने पर सम्पत्ति का बँटवारा भी किया पिता ने। अब उस बँटवारे में किसी को कुछ कम और किसी को कुछ ज्यादा मिल गया तो सारा प्रेम, स्नेह, रागभाव समाप्त। उस राग की परिणति द्वेष में हो जाती है। चढ़ जाते हैं वे कोर्ट-कचहरी। लगा देते हैं एक-दूसरे पर इल्जाम। शुरू हो जाती है मुकदमे की कार्यवाही। वर्षों लग जाते हैं कोर्ट का न्याय पाने में और तब तक जितना कम या अधिक मिला बँटवारे में उससे कई गुणा अधिक रकम व्यय हो जाती है। वे आपस में एक-दूसरे के पक्के दुश्मन बन जाते हैं और लोगों को कहना पड़ता है उन्हें देखकर कि “भाई जैसा सैण (मित्र) नहीं और भाई जैसा बैरी (दुश्मन) नहीं।”

बन्धुओं! इस प्रकार राग की परिणति द्वेष में हो जाती है।

(३) द्वेष से राग—बन्धुओं! राग से द्वेष की परिणति तो अनेकानेक प्रकार से होती है, यह अभी आपने सुना। क्या द्वेष भी राग में परिवर्तित होता है? कभी-कभी ऐसा भी सम्भव बन जाता है। द्वेष की तीव्रता चरम सीमा पर हो और कोई निमित्त मिले तो वह तीव्र द्वेष भी राग में बदल जाता है।

आपको कूणिक का नाम याद होगा। पर्युषण के दिनों में अंतगड़सूत्र सम्बन्धी ‘बड़ी साधु वन्दना’ की गाथाओं पर प्रवचनों के समय महाराज श्रेणिक का, उनके पुत्र-पौत्रों का, उनकी रानियों का नाम आया था। कूणिक भी श्रेणिक राजा का पुत्र था। चंपा नगरी उसी ने निर्मित करवाई थी और राजगृही छोड़कर उसे नई राजधानी का श्रेय दिया था। इसी कूणिक ने तीव्र द्वेष के वशीभूत बनकर अपने पिता राजा श्रेणिक को बन्दी बनाकर पिंजरे में डाला था। द्वेष की तीव्रता ऐसी कि वह नियमतः प्रतिदिन उनकी पीठ पर ५०० कोड़े बरसाता।

उसी कूणिक ने जब अपनी माता के मुँह से यह सुना कि उसके पितृवर उसे बचपन में कितना चाहते थे? माता के दोहद, जन्म के समय उसे उकरड़ी पर फेंका जाना, पिता द्वारा पुनः राजमहल में लाना, उँगली में पीव पड़ना, भयंकर वेदना, रोना-चिल्लाना, उसकी शान्ति

के लिए पिता द्वारा पीव वाली उँगली को मुँह में रखना आदि पूरा विवरण सुनकर उसके मन में पिता के प्रति जो तीव्रातितीव्र द्वेष था, वह तीव्र राग में परिणत हो गया। वह तुरन्त पश्चात्ताप से भर गया। पास में पड़ी कुल्हाड़ी उठा वह चल दिया था पिता के बन्धनों को काटने के लिये।

कूणिक के अतिरिक्त सती अंजना और पवनकुमार का प्रसंग भी द्वेष की राग में परिणति को सिद्ध करने वाला है। नहीं देखने तक एक अनजाना-सा रागभाव, एक विचित्र-सी अनुरक्ति थी। गये देखने चुपचाप, बिना कहे बताये। देखा भी चुपके ही। अंजना तब सहेलियों से घिरी थी। किसी अन्य राजकुमार की प्रशंसा अंजना के मुँह से सुनी तो ईषत् ईर्ष्यावश द्वेषभाव उत्पन्न हो गया। शादी के पश्चात् बारह वर्ष तक महलों में नहीं गये। बारह वर्ष पश्चात् सेना लेकर किसी अन्य प्रदेश के राजा से युद्ध करने गये। बीच में पड़ाव पर रात्रि के नीरव में हृदय को व्यथित करने वाली चकवी की विरह-व्यथा सुनी। पक्षियों की बोली पहचानते थे। द्वेषभाव का उफान बदलकर रागभाव में परिणत हो गया। उसी रात महलों में आये। मिलन हुआ। उसी रात पुनः प्रस्थान कर गये। राग ऐसा बढ़ा कि जीतकर आये, नहीं देखा अंजना को तो पागलों की तरह ढूँढ़ते फिरे उसे।

इस तरह कभी-कभी होता है यह, जब द्वेषभाव की परिणति कोई निमित्त पाकर रागभाव में परिणत हो जाती है। कई बार यह कहा जाता है कि राग से तो द्वेष उत्पन्न होता है, पर द्वेष से रागोत्पत्ति नहीं। यह धारणा सही नहीं है।

(४) द्वेष से द्वेष—चौभंगी का यह अन्तिम अर्थात् चौथा भांगा (प्रकार) है। जिन जीवों में अनंतानुबंधी क्रोधादि का चतुष्क विद्यमान होता है, उनमें द्वेष स्वतः, स्वभावतः, प्रकृत्या होता है। ऐसे व्यक्ति का क्रोधादि वेग जैसे-जैसे तीव्र, तीव्रतर बनता है, वैसे-वैसे उनका द्वेषभाव भी उत्तरोत्तर तीव्र से तीव्रतर बनता जाता है। यह द्वेषभाव लम्बी स्थिति तक स्थिर रह सकता है। यहाँ तक कि इस जन्म के बाद अगले, उससे अगले और ऐसे अनेक जन्मों, जन्म-जन्मांतरों तक यह आत्मा के संग-संग रहता है।

समरादित्य-कथा में उल्लेख मिलता है—अग्निशर्मा का। इस अग्निशर्मा का द्वेष लगातार नौ जन्मों तक चलता रहा, वृद्धि पाता रहा।

‘त्रिषष्ठी श्लाघनीय पुरुष-चरित्र’ नामक ग्रन्थ में भगवान पार्श्व जिनका जीवनाख्यान वर्णित है, उसे पढ़ें-सुनें तो ज्ञात होगा कि कमठ तापस का उनके जीव के प्रति निरन्तर दस भवों तक द्वेषभाव चलता रहा, बढ़ता रहा।

□ वर्तमान में राग-द्वेष सामान्य बात

वर्तमान समय में भी यह देखा जा सकता है। कभी-कभी किसी छोटी-सी बात पर उत्पन्न आपसी कलह यदि प्रारम्भिक अवस्था में ही क्षमायाचना आदि के द्वारा समाप्त नहीं कर दिया जाता, मिटा नहीं दिया जाता तो आगे जाकर वही कलह तीव्र द्वेष के रूप में परिणत हो जाता है। तीव्र द्वेष का निमित्त है वह छोटा-सा कलह। यही कारण है कि जैनाचार्य क्षमायाचना पर, भूल-सुधार पर, आत्म-विशुद्धि पर ज्यादा बल देते रहे हैं। जड़ ही समाप्त हो जाये तो वृक्ष को भी समाप्त होना पड़ेगा। बीज ही नहीं रहेगा, तो वृक्षोत्पत्ति भी नहीं होगी। यही बात राग-द्वेष के साथ भी है। व्यक्ति को चाहिए कि तुरन्त अपनी भूल की आलोचना करे, प्रायश्चित्त करे, जिसके प्रति भूल हुई है उससे क्षमायाचना करे।

आज तो प्रारम्भ में कलह, फिर द्वेष और फिर तीव्र द्वेष—इन सबके शिकार प्रभु महावीर के अनुयायी, जैन समाज के नर-नारी भी बने हुए हैं। न वे कलह में पीछे हैं और न द्वेष में।

हर ग्राम, हर नगर में समुदाय, संघ, समाज या धर्म, पंथ आदि के नाम पर खुलकर कलह होता है, द्वेषभाव रखा जाता है। द्वेषभाव में अहितकारी प्रचार-प्रसार होते हैं, नीचे गिराने, नीचा दिखाने की योजनाएँ बनाई जाती हैं व उन्हें क्रियान्वित किया जाता है। अशोभनीय लगता है यह, पर पैसे और पद के अहं में व्यक्ति इसकी चिन्ता ही नहीं करता। अहं स्वयं द्वेष का ही रूप है।

□ कलह से दूर रहिए

कलह की विभीषिका आगे जाकर क्या-क्या रूप धारण करेगी, इसका भान पूर्व में नहीं होता। छोटा-सा कलह बीज आगे जाकर भाई-भाई में नफरत की दीवार खड़ी कर देता है, साधर्मिक से साधर्मिक घृणा और द्वेष करने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल सजग, सचेत बनकर कलह को अपने में प्रवेश न करने दे, द्वेष से अपने को बचाए, द्वेष की वृद्धि न होने दे, क्योंकि द्वेष की परिणति जब तीव्र द्वेष में होती है तो द्वेष की वह तीव्रता आत्मा के ज्ञानादि गुणों को प्रगाढ़ रूप से आच्छादित कर देती है।

□ क्षमाशील बनिए

बन्धुओं! द्वेष उत्पन्न होता है, क्योंकि आप संसार में रहते हैं, अनेक कारण और निमित्त मिल जाते होंगे जो आपमें द्वेष का वपन करें, पर एक बात का अवश्य ध्यान रखें, जब-जब द्वेषभाव का अन्तर में आगमन हो, वाणी से द्वेषी के प्रति उसका प्रकाशन हो जाये, काया से

उसका कोई अहित आपसे सिद्ध हो जाये तो उस परिस्थिति में और जब-जब कोई द्वेषभाव लाकर आपको दुर्वचन कहे, आपका अहित करे, दोनों परिस्थितियों में स्मरण कीजिए प्रभु के इन वचनों को—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मिच्छि मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥

“सब मुझे क्षमा करें, मैं सबको क्षमा करता हूँ।” क्षमायाचना करिए और समभावी तथा सहनशील बनकर विशाल हृदय से क्षमा प्रदान भी कीजिए। द्वेष की समाप्ति का यही एक मात्र सर्वोत्तम पथ है।

□ चिन्तन को शुभ बनाइए

ज्ञानी पुरुष तो यहाँ तक कहते हैं कि राग-द्वेष की इस चौभंगी का निरन्तर चिन्तन करते हुए जीव प्रयत्न और पराक्रमपूर्वक सहज ही इसके जाल से बाहर निकलकर ‘राग से राग’ आदि के स्थान पर ‘राग से त्याग और वैराग्य’ के पथ पर अग्रसर हो सकता है, हुआ है ऐसा, इतिहास और आगम साक्षी हैं, इस बात के।

□ राग से त्याग—वैराग

मैंने अभी-अभी आपसे कहा था कि बलदेव और वासुदेव सगे भ्राता होते हैं, एक पिता की सन्तान होते हैं वे। अक्षय अनुराग होता है उन दोनों में। ऐसा अनुराग जो दोनों में से एक के मरणधर्म प्राप्त होने पर भी छह माह तक तीव्रतम रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि जब-जब वासुदेव मरणधर्म को प्राप्त करते हैं, बलदेव उनकी निर्जीव काया को सजीव मानते हुए, जब तक उस निर्जीव शरीर से दुर्गंध का बहिर्गमन नहीं होता, तब तक देवताओं के समझाने पर भी उनका क्रियाकर्म नहीं करते। कोई बलदेव उस शरीर को नहलाता, धुलाता, वस्त्राभूषण सज्जित करता, उसे खाना खिलाता, सुलाता—जैसी अनेक विक्षिप्त की भाँति क्रियाएँ करता है तो कोई उस निर्जीव शरीर को स्कंधों पर डालकर वन-वन, ग्राम-ग्राम, नगर-नगर फिरता है। चिन्तन करिए, इससे तीव्र रागभाव क्या कहीं संभाव्य है?

परन्तु जब बलदेव को किसी भी निमित्त से भान हो जाता है, जो कम से कम छह माह की अवधि के पश्चात् ही होता है, तो बलदेव उस पार्थिव शरीर का लौकिक क्रियाकर्म कर संसार की क्षणिकता, निस्सारता का चिन्तन करते हुए त्याग और वैराग्य का पथ अपना लेते हैं। दीक्षित हो जाते हैं। स्पष्ट है, निमित्त पाकर उनका तीव्र रागभाव समाप्त हुआ या कहें कि उसकी परिणति त्याग और वैराग्य में हो गई।

□ द्वेष भी विरक्ति का कारण बन सकता है

राग से त्याग और विराग की ही भाँति द्वेष से भी विरक्ति की परिणति होती है। आगमों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। 'बड़ी साधु वन्दना' के पूर्व प्रवचनों में मैंने आपके समक्ष चित्त-संभूति का प्रसंग रखा था। चाण्डाल कुल में उत्पत्ति हुई थी इनकी। दोनों सहोदर थे। कण्ठ अत्यधिक मधुर, लय-राग भी आकर्षक। कौमुदी महोत्सव में इनका गायन-वादन सुन जन-जन मन्त्र-मुग्ध बन इनके पीछे-पीछे चलने लगता है। उच्च सवर्ण लोग इसे पसन्द नहीं करते, अतः इन्हें पीटा जाता है। ईर्ष्यालु और जाति-मदांध लोग इन्हें इतना पीटते हैं कि दोनों बेहोश हो जाते हैं। दोनों को बेहोशी की हालत में ही नगर के बाहर छोड़ दिया जाता है।

तिरस्कृत और अपमानित दोनों चाण्डाल कुमार अत्यन्त मायूस, व्यथित व दुःखी हो अपने आप से घृणा करने लगते हैं और अपने जीवन को व्यर्थ मान आत्महत्या के लिए तत्पर हो जाते हैं। उनके मन में तीव्र आक्रोश है, तीव्र द्वेष है। आत्महत्या से उन्हें रोकते हैं एक जैन मुनि। वे महामुनि दोनों को कर्मविज्ञान की शिक्षा देते हुए धर्मोपदेश सुनाकर उनके मन को संसार से विरक्त बना देते हैं।

इस तरह विद्वान् मनीषी जैन मुनिवर का निमित्त पाकर वे दोनों अपने जीवन की दिशा को द्वेष से विराग की ओर मोड़ लेते हैं। यह उद्धरण (प्रसंग) उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित है। उत्तराध्ययनसूत्र में ही एक और प्रसंग है—दशार्णभद्र का।

प्रभु महावीर का आगमन सुनकर राजा दशार्णभद्र ने जब उनके दर्शनार्थ जाने का विचार किया तो उसे अपने विशाल राज्य, अपनी सत्ता, अपनी असीम ऐश्वर्य-सम्पदा का ख्याल आया। अहं में भरकर वह पूरे आडम्बर के साथ, सम्पूर्ण वैभव का प्रदर्शन करते हुए प्रभु-दर्शनार्थ गया।

इधर प्रभु-दर्शनार्थ जाते हुए इन्द्र ने भी राजा के उस वैभव-प्रदर्शन को देखा। अपने अवधिज्ञान के उपयोग से उसे ज्ञात हो गया कि दशार्णभद्र राजा का यह वैभव-प्रदर्शन प्रभु-विनय के लिए नहीं, अपने मान-प्रदर्शन के लिए है। वीतराग प्रभु की भक्ति-वन्दना जैसे कार्य में यह अभिमान शक्रेन्द्र को अनुचित लगा। उसने राजा के मान को भंग करने के लिए दिव्य-देव-ऋद्धि पूर्ण अपूर्व एवं असाधारण सज्जा की रचना की।

गगन में देव-दुन्दुभि बजी तो राजा दशार्णभद्र की नजर गई उस ओर। जो दृश्य देखा उसने वहाँ तो चकित रह गया। सहस्रों हाथी ! सभी गजाभूषणों से सुश्रृंगारित ! ऊँचाई सबकी

कैलाश पर्वत-सी तथा एक समान! प्रत्येक हाथी के पाँच-पाँच सौ सूँड़! एक-एक सूँड़ पर आठ-आठ गजदंत! एक-एक गजदंत पर अनेक बावड़ियाँ! प्रत्येक बावड़ी में सैकड़ों खिले हुए कमल! एक-एक कमल की सैकड़ों पंखुड़ियाँ और प्रत्येक पंखुड़ी पर देव-देवीगण मन-मुग्धकारी विभिन्न नाटक करते हुए!

बन्धुओं! एक लोकोक्ति है—“कहाँ राजा की रेवाड़ी और कहाँ गंगू तेली का बैल।” इन्द्र के उस दैवी वैभव के आगे दशार्णभद्र का वैभव अत्यन्त तुच्छ ही तो था। मन में मान के स्थान पर ईर्ष्या व द्वेष ने प्रवेश लिया। कैसे नीचा दिखाना इन्द्र को? क्या करूँ कि इन्द्र मेरे आगे तुच्छ लगे? है कोई उपाय जो इन्द्र को मेरे समक्ष झुकने पर मजबूर कर दे।

चला चिन्तन। चिन्तन गहराई में उतर गया तो रास्ता भी मिल गया। बस, वही तो एक उपाय था। छोड़ा समस्त वैभव और अंगीकार कर ली दीक्षा। बन गये निर्ग्रन्थ। इन्द्र पराजित हुआ। उसे झुकना पड़ा उस त्यागी-चरणों में। यह भी द्वेष की त्याग-वैराग्य में परिणति।

□ जैसा चिन्तन, वैसा ही फल

साधक परिणामों की धारा को ऊर्ध्वगामी यदि बना ले तो राग-द्वेषरूपी संसार पर विजय प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र को मिटा देता है। इसके विपरीत जो-जो साधक वैराग्य-पथ के पथिक बनने के पश्चात् भी संयोग व निमित्त के वशीभूत बन उसी राग-द्वेष के घेरे में फँसे रह जाते हैं, उनका राग-द्वेष कई बार चौभंगी में कहे गये वर्णन के अनुसार बढ़ जाता है, एक-दूसरे में परिणत हो जाता है और तब निश्चय से उनके संसार-चक्र में भी वृद्धि हो जाती है।

□ घाणी मां पील्या (स्कंदक मुनि)

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने इन्हीं भावों के प्रतिनिधि गुणीजनों को अपनी श्रद्धायुक्त भावाञ्जलि 'बड़ी साधु वन्दना' में देते हुए कड़ी संख्या ९६ में कहा है—

वलि खंदक ऋषि ना, हुआ पांच सौ शिष्य।

घाणी मां पील्या, मुक्ति गया तजी रीश ॥९६॥

पाँच सौ शिष्य थे स्कंधक मुनिवर के। सभी शिष्य जीवित ही घाणी में पील दिये गये, पर वाह रे संयम-पथ के निराले पथिकों! सभी समभावी रहे, न क्रोध, न आवेश, न आक्रोश, न द्वेष। सम धरातल में तिलभर भी विषमता का नाम नहीं। भावों की चढ़ती ऊर्ध्वगामी, विशुद्ध, शुभ परिणामधारा, उस असह्य वेदना में भी। कैसी वेदना? भोगना तो दूर पर देखना,

सुनना भी रोमांचित बनाने के लिए पर्याप्त। धन्य हैं वे स्कंधक-शिष्य जिन्होंने उस भयंकर उपसर्ग को सहते हुए भी मन को आत्मलीन ही रखा, 'स्व' के घेरे से उसे बाहर नहीं आने दिया, शरीर के ममत्व के त्यागी उन वीरों ने शरीर के दुःख को अपना दुःख माना ही नहीं!

□ बड़ा महत्त्व है चिन्तन का !

बन्धुओं! कवि ने ऐसे ही नहीं कह दिया कि "मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।" जैनधर्म का तो समस्त विवेचन ही मन की आधारशिला पर है। कर्मसिद्धान्त में जो महत्त्व मन के भावों का है, वह महत्त्व तन की क्रिया का नहीं। स्कंधक मुनि ने अपने पाँच सौ शिष्यों को प्रभावी प्रतिबोध देकर उनकी अन्तिम विषम स्थिति में उन्हें समभावी बनाए रखा और जब स्वयं का समय आया तो एक होनहार लघु-शिष्य पर मोह के कारण विराधक बन गये। बन्धुओं! सम से विषमभावी बनना अति सहज है, पर समता रस में अवगाहन करना दुष्कर है। इसके लिए तो चाहिए साधना और साधना के लिए चाहिए सुपथ-दर्शक सुगुरु। स्कंधक मुनि सच्चे अर्थों में सुगुरु थे।

□ स्कंधककुमार का परिवार

जन्म लिया था स्कंधककुमार ने राजकुल में। श्रावस्ती नगरी थी, जितशत्रु वहाँ का राजा था और धारिणी रानी। इन्हीं राजा-रानी का पुत्र था राजकुमार स्कंधक। एक पुत्री भी थी राजा रानी के, उसका नाम था पुरन्दरयशा। विवाह-योग्य वय होने पर राजकुमारी पुरन्दरयशा का विवाह कुंभकारकट नगर के राजा दण्डक से कर दिया गया।

□ पालक का आगमन, जैन-दर्शन का खण्डन

राजा दण्डक के मन्त्री का नाम था पालक। जाति से वह ब्राह्मण था, एकनिष्ठ वैदिक धर्मानुयायी था और स्वभाव से अति क्रूर एवं हिंसक प्रकृति का था। जैन-संस्कृति व जैनधर्म के प्रति उसके मन में तीव्र द्वेषभावना विद्यमान थी, जैन-सन्तों व विद्वानों से उसे ईर्ष्या थी, वह किसी भी परिस्थिति में जैन-सिद्धान्तों की चर्चा व जैनधर्म की प्रशंसा सहन नहीं कर पाता था। ऐसे उस जैनधर्म-विद्वेषी राज्य-मन्त्री पालक को राजा दण्डक ने किसी कार्य के लिए विशेष सन्देश देकर श्रावस्ती भेजा।

राजा के आदेश से पालक कुंभकारकट से चलकर श्रावस्ती गया। जिस समय पालक श्रावस्ती की राजसभा में पहुँचा, राजसभा में राजा जितशत्रु एवं समस्त राजसभा के सभासद जैनतत्त्व एवं उन सिद्धान्तों की व्यावहारिकता की प्रशंसा, सराहना कर रहे थे। कुछ सभासद

चर्चा में भाग ले रहे थे, कुछ शान्त बैठे सुन रहे थे। पालक कानों से यह सब सुन रहा था पर सुन-सुनकर उसका अन्तर् जल रहा था। जिस व्यक्ति को जैन-सिद्धान्तों से घृणा हो, कैसे वह सहन करता राज्यसभा में ऐसी चर्चा को!

पालक से बोले बिना रहा नहीं गया। उसने बड़ी कुटिलता के साथ निर्भय होकर अनुचित और मिथ्या युक्तियों के सहारे जैन-दर्शन के सिद्धान्तों पर प्रहार करते हुए भरी सभा में जैनधर्म का खण्डन करना प्रारम्भ किया। एक भरे-पूरे राज्य का मन्त्री था वह और जिस राज्य का मन्त्री वह था, उस राज्य का राजा इस राज्य का जामाता (दामाद) था, अतः सब कुछ देर तक तो अनचाहे मन से ही उसकी बात सुनते रहे। धीरे-धीरे पालक की खण्डन शैली उग्र बनने लगी। उसकी इन द्वेषपूर्ण युक्तियों तथा आलोचना-प्रत्यालोचना में विष-मिश्रित वचन प्रयोगों से कुछ ही देर पश्चात् वहाँ बैठे सभासद असन्तुष्ट होने लगे। उनके चेहरों पर आवेश और उत्तेजना के भाव झलकने लगे।

□ स्कंधक द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित पालक द्वेषी बना

बन्धुओं ! ठीक ऐसे समय में राजकुमार स्कंधक ने उठकर पालक के विष-वमन में अवरोध पैदा करते हुए जैन-सिद्धान्तों की सत्यता, औचित्य, व्यावहारिकता आदि पर तर्कयुक्त अपने विचार रखते हुए अपने अद्भुत ज्ञान व अकाट्य तथ्ययुक्त तर्कों से पालक को बेचैन बना दिया। एक पर एक शास्त्रीय-सैद्धान्तिक प्रश्न रखकर पालक को निरुत्तर कर दिया। सभा में बैठे सभासदों के चेहरे खिल उठे। सभी चेहरे मंद-स्मितपूर्वक पालक का उपहास-सा उड़ाते प्रतीत हुए। पालक मन ही मन क्रोध से जल उठा पर वह कर भी क्या सकता था? स्कंधक एक तो राजकुमार था, दूसरे सत्य-पक्ष का प्रकाशक था, अतः पालक अपने क्रोध की भभकती ज्वाला को अन्तर् ही में दबाए रह गया। उसे लग रहा था कि सभी उसकी खिल्ली उड़ा रहे हैं, उसकी पराजय पर प्रसन्न हो रहे हैं, राजकुमार स्कंधक की प्रशंसा कर रहे हैं। उसके मन में द्वेष और प्रतिशोध की कुत्सित भावना ने जन्म ले लिया।

□ सुलगती प्रतिशोध ज्वाला, तो होता कर्मबंध निराला

श्रावस्ती में अपना कार्य समाप्त कर अपनी पराजय की खीझ को, आवेश और आक्रोश को, राजकुमार स्कंधक के प्रति द्वेष और प्रतिशोध के भाव को साथ लेकर पालक वहाँ से कुंभकारकट नगर चला गया। वह राज्य के महामात्य पद का सभी कार्य करता, पर उसके दिल की एक भावना उसे बार-बार टीस देती रहती थी—‘कब आयेगा वह दिन, वह अवसर जब मैं राजकुमार से अपनी पराजय का प्रतिशोध ले सकूँगा?’

बन्धुओं! बदला लेने की क्रिया में जितना दोष लगता है, जितना कर्मबन्ध होता है, उससे कहीं अधिक कर्मबन्धन प्रतिशोध-भावना से लगता है। जैन-सिद्धान्त की स्पष्ट मान्यता है कि काय-दोष से अधिक बंध वचन-दोष में और वचन-दोष से अधिक बंध मनोयोग में, अर्थात् भाव-दोष सर्वाधिक प्रबल होता है। काया से एक बार बदला ले लिया तो बात वहीं खत्म। वचन से एक बार पुनः कुछ कटु सुना, अपमानित कर दिया तो मन शान्त, पर मन में चल रहा प्रतिशोध-भाव तो प्रतिपल-प्रतिक्षण, रात-दिन, उठते-बैठते, सोते-जागते तब तक चलता रहता है, जब तक प्रतिशोधात्मक कार्यवाही सम्पन्न नहीं हो जाती। कभी-कभी तो प्रतिशोध लेने में अनेक वर्ष, युग ही नहीं अनेक जन्म तक निकल जाते हैं। प्रतिक्षण मन के अशुभ योग नव-नव अशुभ कर्मबंध के कारण बन जीवात्मा को कुमार्ग पर भटकाते हैं, पतन के गर्त में गिराते हैं, दुर्गति में ले जाते हैं।

□ तन्दुलमच्छ का उदाहरण

शास्त्रों में तन्दुलमच्छ का उदाहरण आता है। न वह हिंसा करता है, न वचन से हिंसा की बात कहता है पर मन? विशाल लवण-समुद्र और उसमें तैर रहा विशालकाय मगरमच्छ। किसी छोटे गाँव से भी बड़ा लम्बा-चौड़ा उसका डीलडौल। उस मगरमच्छ की दो छोटी-छोटी आँखें। एक आँख की पलकों में बैठा हुआ, चावल जितनी छोटी काया वाला मच्छ। चावल जैसे आकार-प्रकार के कारण ही नाम था तन्दुल। तन्दुल कहते ही चावल को हैं।

विशालकाय मगरमच्छ ने उबासी लेने हेतु अपना मुँह खोला। मुँहफाड़ उसकी इतनी कि छोटा जहाज उसमें समा जाये। उबासी लेने में दो-तीन मिनट मुँह खुला रहा होगा या एक मिनट ही रहा होगा। उतने ही समय में जाने कितने मच्छ-कच्छ-समुद्री जीव उसके जबड़े के नीचे आये और बाहर निकल गये। तंदुलमच्छ। पंचेन्द्रिय जीव। आँखें थीं उसके अतः देखता है यह नजारा। सोचता है—“मैं इसकी जगह होता तो इन मुँह में आने वाले मच्छों (मछलियों), कच्छों (कछुओं), अन्य समुद्री जीवों में से किसी को जीवित नहीं छोड़ता। सबको आराम से गड़गप कर जाता, हलक के नीचे उतार लेता, अपना भक्षण बना लेता।”

□ ग्लास तोड़ा, दस रुपए

बन्धुओं! न किसी को मारा, न किसी के समक्ष विचार रखा कि मैं इन्हें मार दूँगा। किसी अन्य से मरवाया भी नहीं। केवल विचार किया। मन के भावों में हिंसा का ताण्डव नृत्य हुआ और परिणामस्वरूप सातवीं नरकायुष्य का बंध कर लिया उसने। ज्ञानी सन्तजन तभी तो कहते हैं कि विचारों को शुभ रखो, भावों में भद्रता लाओ। पर आप सुनते कहाँ हैं

सन्तों की बात। आपकी हालत तो वैसी हो रही है, जैसी होटल जाने वाले एक व्यक्ति के साथ हुई। गया व्यक्ति होटल में, बैठा कुर्सी पर, टेबल के पास, देखा मेन्यु। क्या लूँ? यह लूँ या यह लूँ? वेटर ने पास में लाकर रख दिया पानी से भरा काँच का गिलास और आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया। व्यक्ति ने पूरा 'मेन्यु' देख लिया, पर कुछ भी खाने का मन नहीं हुआ। उठा वह वहाँ से। चलने लगा बिना कुछ खाये-पीये। वेटर ने पूछा—“क्यों साहब?”

साहब ने हाथ हिलाते कहा—“नहीं ! कुछ नहीं।”

तभी हाथ से टकराकर पानी का गिलास नीचे गिरा। टूट गया गिलास। वेटर वहीं से चिल्लाया—“खाया-पिया कुछ नहीं, ग्लास तोड़ा, दस रुपए।”

□ दृढ़व्रती स्कंधक

भावों में छाया हुआ अशुभ चिन्तन निरर्थक ही कर्मबंध करवा रहा है। एक प्रकार का अनर्थदण्ड है ये। बचना है इससे तो भाव-शुद्धि का अभ्यास करिये। नहीं किया अभ्यास, भावों में गन्दगी ही भरी रही तो हालात पालक जैसे भी बन सकते हैं। बन्धुओं! इधर पालक प्रतिशोध की ज्वाला में धधक रहा है, स्कंधक को आघात पहुँचाने के लिए तड़फ रहा है और उधर स्कंधक शुभ योगों में निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं। व्रतधारी श्रावक तो थे ही, बारह व्रतों की मर्यादा ग्रहण की हुई थी, नवतत्त्व का ज्ञान था। श्रद्धा बढ़ी और अडिग बनी श्रद्धा! जिनधर्म पर, निर्ग्रन्थ मुनिजनों पर आपकी भी श्रद्धा तो है, पर अनेक अवसरों पर वह विचलित हो जाती है। भूल जाते हैं ऐसे अवसरों पर आप अपने देव, अपने गुरु, अपने धर्म के महनीय पावन गौरव को। मिथ्या मान्यताओं, अन्ध-विश्वासों और आडम्बरो के आकर्षण की ओर दौड़ पड़ते हैं। मिथ्यात्व में रमण प्रारम्भ हो जाता है आपका और समकित का पल्ला छूट जाता है आपसे। पर स्कंधक वैसे नहीं थे। वे तो निरन्तर तीर्थकर-भगवंतों के, सर्वज्ञों के द्वारा प्रणीत पथ पर आगे बढ़ते रहे। आप महावीर की पाँचवीं कथा में हैं। वर्षों से वहीं हैं। आगे नहीं बढ़ रहे अपितु पाँचवीं श्रेणी में भी स्थिरता आपकी संदिग्ध बनी रहती है। व्रत खण्डित हो जाते हैं, कभी मन से तो कभी वचन से। कभी करते नहीं तो दूसरों से करवा देते हैं। अनुमोदन तो कितनी बार हो जाता होगा आपसे। यही है आपकी अस्थिरता का रूप।

□ दीक्षाभिलाषी स्कंधक

राजसभा में कुंभकारकट के मन्त्री पालक से चर्चा के पश्चात् शनैः-शनैः स्कंधक का चिन्तन संसार के बाह्य पदार्थों से हटता हुआ आत्माभिमुखी बनता चला जाता है। एक दिन चिन्तन की धारा में बहते हुए विचार करते हैं—‘यह संसार क्षणिक है, असार है, नाशवान है।’

यह राज्य—वैभव, यह अपार सम्पदा, यह भोगोपभोग के सुख-साधन एक दिन यहीं पड़े रह जाएँगे। काल का कोई भरोसा नहीं, कब आकर ले जाये। सार इसी में है कि जितना शीघ्र हो सके यह राज्य—वैभव, यह कुटुम्ब-परिवार, यह संसार त्यागकर संयम का पथ ग्रहण करूँ।’

□ दीक्षानुमति-प्रसंग

जाते हैं माता-पिता के पास और कहते हैं—“हे मात! हे तात! अनुमति की अरदास लेकर उपस्थित हूँ। आत्म-कल्याण के लिए संयम धारण कर मुनिधर्म पालन करना चाहता हूँ।”

पिता व माता ने सुनी पुत्र की बात तो वे अवाक् रह गये। एक ही लाल था। राज्य का उत्तराधिकारी था। वंश का नाम रोशन करने वाला था। वंश-वृक्ष को आगे बढ़ाने वाला था। अभी तो संसार के राग-रंग देखे ही नहीं, विवाह भी किया नहीं फिर कैसे इसके मन में यह त्याग की, वैराग्य की बात आई? माता ने पुत्र से कहा—“वत्स! तुम यह क्या कह रहे हो? जिनधर्म की दीक्षा का पालन अत्यन्त कठिन है। महाव्रतों का पालना, सर्दी-गर्मी को सहना, मानापमान की स्थिति में समभाव रखना, रूक्ष-स्निग्ध, गर्म-ठण्डा जैसा भी भोजन मिले वैसा भोजन करना, घर-घर भिक्षार्थ फिरना, नंगे पाँव चलकर पद-विहार का कष्ट सहन करना, सिर पर आये हुए सुन्दर केशों का समय-समय पर लोच करना—यह सब तुम कैसे कर पाओगे?”

स्कंधककुमार बोले—“मात! आप निर्भय रहें। मैं तीन करण-तीन योग से सर्वज्ञों के वचनों का पालन करूँगा। मैंने जान लिया है कि संसार असार है, विषयभोग विष के समान हैं, मृत्यु निश्चित है। ऐसी दशा में यदि कोई रक्षक है, शरण-प्रदाता है तो वह मात्र धर्म है। धर्म के अलावा सब कुछ मिथ्या है, वृथा है।”

पिता ने भी बहुत समझाया, पर अन्त में दोनों ने पुत्र को दीक्षानुमति प्रदान कर दी।

□ पाँच सौ मित्र-राजकुमारों के साथ स्कंधक दीक्षित बने

बन्धुओं! राजकुँवर के पाँच सौ मित्र भी ऐसे-वैसे नहीं? आजकल के अच्छे-से-अच्छे मित्र भी हँसी-मजाक, शौक-मौज आदि तक के मित्र ही रहते हैं। साधारण मित्र तो—“यार-दोस्त किसके? खाया-पिया खिसके”—कहावत को चरितार्थ करते हैं। आध्यात्मिक शिविरों, धार्मिक पाठशालाओं, तपानुष्ठानों आदि में मित्रता बनाना, निभाना बड़ा मुश्किल है। सामायिक, व्रत-प्रत्याख्यान के लिए आज कौन किसी का साथ देता है? राजकुमार के मित्रों पर

राजकुमार का प्रभाव कहिए, सारे मित्रों में एकत्व-अपनत्व भाव कहिए या और कुछ कहिए! पर सत्य यह है कि राजकुमार स्कंधक के साथ ही उसके पाँच सौ मित्रों ने भी दीक्षित बनकर संयम के पथ पर चलने का आत्म-कल्याणी शुभ निर्णय लिया।

इन्हीं दिनों देवाधिदेव तीर्थकर श्री मुनिसुव्रत जिनका अपने धर्म-परिवार के साथ श्रावस्ती में पदार्पण हुआ। राजकुमार स्कंधक तो वैसे ही धर्मपथ पर अग्रसर होने का निर्णय कर चुके थे। माता-पिता की आज्ञा भी प्राप्त हो चुकी थी। भव्य महोत्सव-आयोजन के साथ राजकुमार स्कंधक ने अपने पाँच सौ साथियों के साथ प्रभु के मुख से चातुर्यामरूप धर्म की दीक्षा अंगीकार की।

□ आचार्य पद पर आरूढ़

पावन जैन-भागवती दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे “राजकुमार स्कंधक” से “स्कंधक मुनि” बने। उस महापुरुष ने प्रभु के अन्य स्थविर मुनिवरों की सेवा में रहते हुए ज्ञान-ध्यान में, तप-प्रत्याख्यानों में निरन्तर प्रगति करते हुए बहुत शीघ्र संयम-निपुणता प्राप्त कर ली। योग्य बनने पर आपकी उत्कृष्ट संयम-साधना, ज्ञानाराधना और तपश्चरण को देखकर चतुर्विध संघ ने आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

आचार्य पद पर आरूढ़ होने के पश्चात् किसी दिन स्कंधक मुनि ने अपने पाँच सौ शिष्य-साथियों से कहा—“बन्धुओं ! हमारे निर्ग्रन्थ बनने, सांसारिक बन्धन त्यागने और संयम-पथ पर आगे बढ़ने का यथार्थ लाभ तभी है जब अनेकानेक परीषह, उपसर्ग, कष्ट आदि आने पर भी सत्यधर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए जन-जन का आत्मोपकार करें। विकट प्राणांतक संकट आने पर भी अपने कर्म में, कर्तव्य में शिथिल नहीं बनें।”

शिष्यों ने उनकी बात स्वीकार करते हुए दृढ़ संकल्प प्रकट किया कि “वे समर्पितभाव से जिन-वचनों का पालन करते हुए जिनधर्म का प्रसार करेंगे।”

□ बहन पुरन्दरयशा आदि को धर्मपथ पर लाने की अभिलाषा

कालान्तर में एक दिन आचार्य स्कंधक मन में विचार करते हैं कि ‘बहन पुरन्दरयशा और बहनोई राजा दण्डक, दोनों नहीं जानते कि धर्म क्या है? आत्मतत्त्व क्या है? पाप-पुण्य क्या है? बंध-मोक्ष क्या है? उनकी विचारधारा अब तक किसी नास्तिक की-सी विचारधारा है। क्यों न मैं उनके राज्य में जाऊँ और उन्हें सद्धर्म के प्रति, जिनवर के सिद्धान्तों के प्रति आकर्षित कर आत्मवादी बनाऊँ।’

बन्धुओं! कैसी उत्तम भावना। वस्तुतः जो सत्यधर्म के निर्भीक राही होते हैं, वे अधिक से अधिक लोगों को सद्धर्म से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं, जबकि पाप-पंथ के पथिक सोचते हैं कि कैसे मैं अपने पारिवारिक सदस्यों को, अड़ौस-पड़ौस को, साथी-मित्रों को पाप के मार्ग पर लाऊँ, पाप की प्रवृत्तियों में लगाऊँ ?

□ अनुमति के लिए प्रयत्न

दृढ़धर्मी स्कंधक मुनि अपने शुभ विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए तीर्थंकर प्रभु के निकट जाकर, उन्हें वन्दना कर उनसे वहाँ जाने की आज्ञा हेतु विनीत निवेदन करते हुए करबद्ध हो कहते हैं—“हे जगत्पूज्य! आपकी अनुमति हो तो हम मुनिगण कुंभकारकट जाना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य है, वहाँ के राजा दण्डक और रानी पुरन्दरयशा को सद्धर्म ग्रहण कराना, जिनधर्म में श्रद्धालु बनाने के लिए प्रतिबोध देना, आत्म-विज्ञान सिखाकर भेदविज्ञान को जानने की प्रेरणा देना।”

□ मरणान्तक परिस्थितियाँ आएँगी वहाँ

सर्वज्ञ प्रभु तो त्रिकालज्ञ थे। वहाँ जाने पर जो घटना-चक्र घटित होगा, उससे उनका प्रत्यक्षीकरण था। अतः प्रभु ने कहा—“मुनि जी! वहाँ जाने पर विकट संकट निश्चित है। आप सभी को मरणांतक परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। आप स्वयं और आपके सभी पाँच सौ साथी मुनि नारकीय यन्त्रणा के शिकार बन जाएँगे।”

□ आराधक या विराधक ?

स्कंधक मुनि ने विचार किया—‘सद्धर्म-प्रचार में तो यह होता आया है। हम मुनियों के लिए तो ये ही उपसर्ग, परीषह, कष्ट आदि कसौटी पर कसने के, परीक्षा के, जाँच के तरीके हैं। इनमें खरा उतरना, दृढ़ रहना ही तो हमारी सफलता है।’

पूछ आचार्य स्कंधक मुनि ने तीर्थंकर भगवंत से—“प्रभु! क्या उस स्थिति में हम आराधक रहेंगे?”

प्रभु बोले—“देवानुप्रिय ! तुम्हें छोड़कर शेष सभी पाँच सौ आराधक रहेंगे और वे सभी मोक्ष के अधिकारी बनेंगे।”

□ ‘स्व’ के स्थान पर पाँच सौ मुनियों के कल्याण की भावना प्रबल

फिर चिन्तन चालू हो गया मुनिवर का—‘इतनी भव्य आत्माओं का कल्याण यदि होता है, सभी पाँच सौ शिष्य-मुनि यदि मोक्ष जाते हैं तो वहाँ जरूर चलना चाहिए। प्रभु का कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता।’

बन्धुओं! यह नहीं सोचा कि मुझे इन पाँच सौ के मोक्ष जाने और न जाने से क्या लेना-देना? मेरा आत्म-कल्याण नहीं, मेरा पतन निश्चित तो फिर मैं क्यों उस पथ की ओर मुँह करूँ? नहीं! वह तो सबके हित की बात को सर्वोपरि मानकर जाने का निर्णय लेते हैं। प्रभु के कथन पर उनका अटल विश्वास। क्या आपका भी प्रभु-वाणी पर दृढ़ विश्वास है? नहीं! आप तो प्रभु-वाणी के पालन से पूर्व, व्रत-प्रत्याख्यान, तप-जप आदि करने से पूर्व लाभालाभ का विचार करते हैं। कुछ सांसारिक-लाभ, धनादि की प्राप्ति, नाम-यश की प्राप्ति होती हो तो विचार करते हैं आप आध्यात्मिक अनुष्ठान में भाग लेने का। आत्म-लाभ के लाभ की, उस शुभ फल की ओर कभी आपका चिन्तन ही नहीं जाता।

□ कुंभकारकट की ओर विहार

आचार्य स्कंधक मुनि अपने पाँच सौ मुनियों के संघाड़े को साथ लेकर विहार की शुरूआत करते हैं। उनकी मंजिल, उनकी दिशा, उनके विहार की दिशा थी कुंभकारकट नगर! उद्देश्य था भगिनी पुरन्दरयशा व उसके पति नृप दण्डक को आप्त-वाणी से प्रतिबोधित कर सम्यग्दृष्टि प्रदान करना। सफलता-विफलता का चिन्तन नहीं। अपने विराधक बनने का भी चिन्तन नहीं। लाभ दिखाई दे रहा था—‘पाँच सौ मुमुक्षुओं को मोक्ष’।

□ पालक का द्वेष जागृत

पहुँचते हैं कुंभकारकट। नगर के बाहर एक उद्यान में विराजमान होते हैं मुनिवर अपने विशाल संघाड़े के साथ। मन्त्री पालक को समाचार प्राप्त होता है। पुराना द्वेष जाग उठता है। राख के ढेर के नीचे दबी चिनगारी प्रकट हो जाती है। समझ जाता है वह कि अचूक अवसर हाथ आ गया है। चूक गया अवसर तो पुनः हाथ नहीं आ पायेगा ऐसा स्वर्णिम-मौका! शैतान का दिमाग तो था ही उसमें। तुरन्त योजना बना लेता है।

□ अवसरानुकूल प्रतिशोध-योजना

अपनी योजना के अनुसार पालक ने अत्यन्त गुप्त रूप से बहुत सारे अस्त्र-शस्त्र एवं गोला-बारूद जैसी विस्फोटक युद्ध में काम आने वाली सामग्री एकत्रित की। अपने विश्वस्त अनुचरों को बुलाकर पाँच सौ सुभट प्रयोग में ले सकें, इतने शस्त्रास्त्र व बारूद रात के अँधेरे में बगीचे में स्थान-स्थान पर गड़वा दिये। प्रातः नगर-जन मुनियों के दर्शनार्थ उद्यान में गये। राजा दण्डक भी गये सपरिवार दर्शन करने। वन्दना कर धर्मदेशना भी सुनी उन्होंने।

कुंभकारकट की जनता मुनिवर की धर्मदेशना सुनकर हर्षित हुई। राजा दण्डक व रानी पुरन्दरयशा भी मुनिश्री से जिनवाणी का प्रवचनमृत पान कर प्रसन्न हुए। मन ही मन उस वाणी का चिन्तन-मनन करते हुए सभी घर लौटे। रानी पुरन्दरयशा तो अत्यन्त प्रसन्न थी, उसने दीक्षा पश्चात् आचार्यपदारूढ़ अपने भ्राता मुनिवर के आज ही दर्शन किए थे।

□ स्कंधक मुनि नहीं, पाखण्डी है—षड्यन्त्रकारी है

रात्रि में मन्त्री पालक के षड्यन्त्र का प्रथम चरण पूर्ण हो चुका था। दूसरे दिन प्रातः पालक जब राजमहलों में नगर-नरेश में भेंट करने गया तो नगर-नरेश दण्डक मुनिवर की सेवा में उद्यान जाने हेतु तैयार हो रहे थे। पालक ने उनकी सेवा में पहुँचकर कहा—“नराधिप! एक विचित्र, गोपनीय, अविश्वसीनय-सा लगने वाला समाचार प्राप्त हुआ, पर लगता है उसमें कुछ सत्य-तथ्य है।”

दण्डक नृप ने पूछा—“ऐसा क्या समाचार है, कहो?”

मन्त्री पालक बोला—“यहाँ कहना तो उचित नहीं रहेगा। मेरा विचार है हम मन्त्रणा-गृह में चलें।”

दोनों मन्त्रणा-गृह में पहुँचे। वहाँ जाकर पालक ने महाराज से कहा—“महाराज! विश्वास तो नहीं आता पर विश्वस्त सूत्रों ने सन्देश दिया है कि स्कंधककुमार वस्तुतः मुनि नहीं है, अपितु मुनिवेश धारण कर अपने पाँच सौ सुभट योद्धाओं को साथ लेकर किसी दुष्ट योजना के विचार से यहाँ आया है।”

□ राजा दण्डक द्वारा पालक को फटकार

“क्या बकते हो?”—महाराज क्रोध में भर गये। “तुम्हें ध्यान भी है कि तुम किसके बारे में कह रहे हो? लगता है तुम्हारी बुद्धि ने काम करना बन्द कर दिया है। जाओ, अपना काम करो। ध्यान रखना, स्कंधक मुनि हैं, अणगार हैं, आचार्य हैं। तीर्थकर मुनिसुव्रत प्रभु से दीक्षित हैं। आगे से वाणी का विवेक रखना। उड़ी-उड़ाई बातों पर कान मत दो अन्यथा लेने के देने पड़ जायेंगे।” आवेश में कह गया राजा दण्डक।

□ यह राजनीति है, सब कुछ सम्भव है यहाँ !

मन्त्री पालक जानता था कि ऐसी ही कुछ बातें सुननी पड़ सकती हैं। उसने देखा कि महाराज जाने के लिए तैयार हैं तो वह बोल पड़ा—“महाराज! आप जो कह रहे हैं, वह आपके अनुसार सही ही कह रहे हैं, पर यह राजनीति है और राजनीति में कभी भी कुछ भी

किया जा सकता है। मैंने केवल सुनी-सुनाई या उड़ी-उड़ाई बात आप तक नहीं पहुँचाई है, उसकी तह तक खोज-खबर ली है। शत-प्रतिशत विश्वास होने पर ही ये सन्देश आपके समक्ष रखा है। स्कंधक को आपसे अधिक मैं जानता हूँ, पिछले अनेक वर्षों से उसकी गतिविधियों से परिचित बना हुआ हूँ। उसकी इस अति सुरक्षित कपट-लीला पर समय रहते विचार नहीं किया गया तो.....!"

□ दण्डक शंकाशील

पालक की बातों को सुनकर महाराज कुछ-कुछ सन्देहशील बन गये थे, फिर भी अपना सन्देह छुपाकर उसी आवेश जैसा स्वर बनाते हुए कहा—“नहीं! नहीं! मन्त्रीवर, कह दीजिए यह सब मिथ्या है। एक संयमशील मुनि पर ऐसा भयंकर आरोप मत लगाइए।”

पालक चतुर था। समझ गया कि दाल अब गलने वाली है। वह बोला—“स्वामी! प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मेरे सूत्रों के अनुसार ये सुभट हथियार आदि भी साथ लाये हैं। यदि चुपचाप खोज की जाये तो सब कुछ स्पष्ट हो सकता है।”

राजा को विश्वास तो नहीं था, पर अन्तर् में उठ खड़ा हुआ सन्देह का सर्प! बार-बार वह फुंकार रहा था। अतः वे पालक के साथ रात्रि में प्रमाण ढूँढ़ने की योजना पर सहमत हो गये।

□ पालक द्वारा पूर्व में गाड़े गये हथियार मिले

राजा और मन्त्री दोनों रात्रि के समय उद्यान में गये। कुछ विश्वस्त गुप्तचरों को भी साथ ले लिया गया था। पालक राजा के साथ फिर-फिरकर अनेक स्थान खुदवाता रहा। चतुरता इतनी कि कितने ही स्थान ऐसे खुदवाये जहाँ कुछ नहीं मिला, पर साथ ही धीरे-धीरे वे स्थान भी खुदवाये, जहाँ पहले से हथियार गाड़कर रखे गये थे।

□ दण्डक को विश्वास कि स्कंधक षड्यन्त्रकारी

ज्यों-ज्यों अस्त्र-शस्त्र निकलते गये, दण्डक राजा का क्रोध बढ़ता गया। सन्देह दूर हो गया उसका। पूर्ण विश्वास हो गया कि यह एक सोचा-विचारा षड्यन्त्र है। राजनीति का अत्यन्त घिनौना चक्र चलाने आया है स्कंधक, अपने साथियों के साथ। पालक ठीक ही कह रहा था, मैंने ही विश्वास नहीं किया। मेरी रानी का भ्राता ही ऐसा तो इस दुनिया में किसका विश्वास किया जाये ?

इसी समय लाल हुए गर्म लोहे पर चोट देते पालक ने कहा—“महाराज! यह है सच्चाई! स्कंधक की चाह तो यही है कि एक ही दिन में कुंभकारकट राज्य पर धोखे से अधिकार

कर लिया जाये। हमारे विश्वस्त सूत्रों का सन्देश राज्य की सुरक्षा का निमित्त बन गया। अतुल सामर्थ्य का धनी यह स्कंधक कितना बड़ा पाखण्डी निकला।”

राजा को लगा कि पालक ठीक कह रहा है। मैंने इसके मुनि-वेश पर विश्वास किया, इसके उपदेश पर श्रद्धा-प्रतीति कर इस ढोंगी को सच्चा साधु समझा। पट्टी बँधी हुई थी मेरी आँखों पर। महान् धार्मिक वृत्तियों से युक्त उच्च कोटि का साधक समझा जाने वाला यह दुष्ट कितना वंचक सिद्ध हुआ। यह तो अच्छा हुआ कि पालक ने मुझे समय पर सचेत कर दिया अन्यथा मैं तो व्यर्थ में मारा जाता।

□ दण्डित करने का सर्वाधिकार पालक को

नृपति ने पालक को अपने राज्य का हितैषी, अपने वैभव, राज्य व प्राणों का रक्षक समझा। न्याय करने और दण्डित करने का अपना अधिकार इस प्रसंग में पालक को सुपुर्द करते हुए अत्यन्त कटु, कठोर शब्दों में क्रोधाविष्ट राजा दण्डक ने कहा—“मन्त्रीश्वर! मैं तुम्हारी राज्य-भक्ति की सराहना करता हूँ। समय पर तुम्हें इसका उचित पुरस्कार दिया जायेगा। दुर्मति, दुष्ट, दंभी कुमार अब तुम्हारे सुपुर्द किया जाता है। जैसा तुम चाहो, वैसा व्यवहार उसके साथ करो और जैसा तुम चाहो, वैसा दण्ड उसे दो।”

□ कुटिल पालक हर्षित—उसकी योजना सफल

अंधा क्या चाहे, दो आँखें! पालक के लिए तो मानो बिल्ली के भाग्य से छींका ही टूटा हो। मन में जैसा उसने सोचा, जैसा वह चाहता था ठीक वैसा ही हुआ। मन उसका बल्लियों उछलने लगा। उसे अपने अन्दर में अद्भुत आनन्द की अनुभूति हुई। गर्व भी हुआ अपनी कुटिल बुद्धि पर।

राजा वहाँ से लौटकर महलों में चला गया। बन्धुओं! राजा के लिए एक कहावत प्रसिद्ध है कि वे कान के कच्चे होते हैं। दूसरी बात सर्वसिद्ध है कि उनका विवेक कई अवसरों पर लुप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे भूल जाते हैं कि हितैषी कौन और अहितैषी कौन? दण्डक यदि अपने चिन्तन-मनन को कुछ और गहराई में ले जाता, अपने किसी अन्य विश्वस्त से खोजबीन करवाता, विहार-पथ के ग्राम-नगरों में पूछताछ करवाता, हथियार कैसे, कहाँ के हैं—ये मालूम करने का प्रयत्न करता, मुनिवर से मिलकर उत्पन्न परिस्थिति पर तनिक भी विचार-विनिमय करता, पूछताछ करता, उनको अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर देता और स्वयं छानबीन के बाद दण्डित करता तो इतिहास कुछ और होता, पर प्रभु तो सर्वज्ञ थे न! पहले ही कह चुके थे कि ऐसा ही कुछ घटित होगा।

□ स्कंधक और पाँच सौ मुनियों के लिए घाणी में पीलने का दण्ड

आ गया अधिकार पालक के हाथ में। क्या दण्ड देना? कैसे पीड़ित-प्रताड़ित करना? किस तरह से प्राण-हनन करना कि अधिक-से-अधिक दर्द, पीड़ा, कष्ट हो? अनेक तरह से दण्डित करने के विचार मन में आये। अन्त में निर्णय किया—“एक-एक को घाणी में ऐसे पीलना, जैसे इक्षुदण्ड, गन्ना, सैलड़ी को पीला जाता है।”

नगर में घोषणा फेरी गई कि अमुक उद्यान की तरफ कोई न जाये। जो भी उधर जायेगा, षड्यन्त्रकारियों का शिकार बन जायेगा।

उद्यान में एक बड़ी, विशाल मजबूत घाणी बनवाई गई।

पालक अब आचार्य के निकट गया और बोला—“पाखण्डी! मुझे पहचाना या नहीं! पहचान ले मुझे। मैं तेरा काल बनकर आया हूँ। वह दिन याद कर जब तूने श्रावस्ती की भरी राजसभा में मुझे नीचा दिखाया था, मेरी हँसी उड़ाई गयी थी, मेरा अपमान किया गया था। आज तू मेरे हाथों से बच नहीं सकता। तुझे और तेरे पाँच सौ साथियों को एक-एक कर घाणी में पीला जायेगा। साधु का वेश धारण कर इन पाँच सौ चमचों के साथ लोगों को ठगता फिरता है। भोलेभाले लोगों को अपनी मीठी-मीठी बातों में उलझाकर उन्हें उल्टे मार्ग पर चलाता है। आज अपनी पराजय का, तेरे इस आडम्बर का, सबका एक साथ बदला लेने का समय आ गया है।”

□ स्कंधक व सभी मुनि निर्भय—अभय

स्कंधक मुनि शान्त बनकर पालक की बातें सुनते रहे। उसके चुप होने पर वे अति धीर-गम्भीर गिरा में बोले—“पालक! न तो तब मैंने तुम्हारी हँसी उड़ाने या तुम्हें नीचा दिखाने के लिए शास्त्रार्थ किया था और न ही आज मेरे मन में किसी तरह का द्वेषभाव है। मुनिधर्म के साधक तो मित्र और शत्रु पर समभाव रखते हैं। रही बात घाणी में पीलकर मारने की, तो बन्धु! कोई भी प्राणी अमर नहीं होता। जनम जिसका, मरण उसका, निश्चित ये मानो। मरने का हम साधु भय नहीं मानते!”

□ प्राण जायें तो जायें पर धर्म न जाने पाये

आवाज में निर्भीकता थी, दृढ़ता थी। पालक ने तो सोचा था कि ये डर जाएँगे और गिड़गिड़ाकर जीवन की भीख माँगेंगे। छोड़ देने की प्रार्थना करेंगे। ऐसी निर्भय वाणी से उसका रोष और बढ़ गया। वह बोला—“अरे ढोंगी! क्या असमय ही मृत्यु का ग्रास बन रहा

है। मैं चाहूँ तो तुझे छोड़ भी सकता हूँ। तू मुझसे क्षमा माँग ले और कह दे कि अब कभी भूलकर भी ऐसा नहीं करूँगा। तू जैनधर्म को त्यागकर मेरा धर्म ग्रहण करने का वादा कर तो मैं तेरे प्राण हनन नहीं करूँगा।”

आचार्य स्कंधक ने उसी तरह निर्भीक और धीर-गम्भीर स्वर में कहा—“पालक! जब तक हमारे तन में प्राण हैं, हम जिनधर्म-पालन का त्याग नहीं करने वाले। हम सभी शेर हैं, सियार नहीं।”

क्रूर स्वर में तब पालक ने कहा—“हे स्कंधक! तुम जीवित रहने के योग्य नहीं हो। अपने पाँच सौ साथियों के साथ मरने के लिए तैयार हो जाओ। तुम सभी के लिए घाणी तैयार हैं।”

□ स्कंधक का पाँच सौ मुनियों को प्रतिबोध

आचार्य स्कंधक ने देख लिया कि मृत्यु अवश्यंभावी है तो वे अपने सभी साथी—मुनियों को एकत्रित कर अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण स्वर में सस्मित कहने लगे—“श्रमण-साथियों! आज हम सभी के समक्ष एक भयंकर उपसर्ग आ खड़ा हुआ है। हमें उसका समभावपूर्वक सामना करना है। इस राज्य का मन्त्री पालक मेरे द्वारा किसी समय हुए उसके अपमान का बदला लेना चाहता है। उसने छलपूर्वक हमें राजद्रोही घोषित किया है और राजद्रोह के लिए हमारे प्राण हनन करना चाहता है। हम यह मानेंगे कि वह हमारा परम मित्र है जो हमारे कार्य की सिद्धि में सहायक बन रहा है। हम सभी को आने वाली विषम से विषम परिस्थितियों में समभाव रखना है। यही अवसर है कर्मक्षय का। धर्म के नाम पर प्राणों को हँसते-हँसते बलिदान करना है। अन्तर् में एक क्षण के लिए भी द्वेषभाव प्रस्फुटित नहीं होना चाहिए। क्षमा के अस्त्र से कर्मशत्रु के साथ निर्भय होकर संघर्ष करना है।”

□ मरण को महोत्सव बनाने की अभिलाषा

बन्धुओं! कैसी विषम परिस्थिति! दिल हिला देने वाला वातावरण! पर तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के वे अनन्य भक्त, जिनधर्म के दृढ़पालक, धर्मपथ के सच्चे शूरवीर! गुरु ने सभी को अन्तिम समय में की जाने वाली आलोचना करवायी, सभी को संथारा दिलवाया। सभी पाँच सौ मुनियों ने बड़े उत्साह से संथारा स्वीकार किया। उनका तो लक्ष्य ही मृत्यु को महोत्सव बनाने का था।

□ 'धम्मं शरणं' के साथ खून की नदियाँ बहने लगीं वहाँ

तभी पालक के कुछ व्यक्तियों ने एक मुनि को पकड़कर ऊँचा उठाया और घाणी में फेंक दिया। घाणी फिरने लगी। चूं-चरर-मरर के बाद तड़तड़तड़ तड़ड़ड़-तड़ड़ड़..... हड्डियाँ टूटने की आवाजें, उन्हीं के साथ वायुमण्डल में गूँज उठे घाणी में पड़ने वाले मुनि के मुख से निकले ये शब्द—“अरिहंते शरणं, सिद्धे शरणं, धम्मं शरणं!”

क्रम चलने लगा। एक के बाद दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा, पाँचवाँ! हड्डियाँ पिसने की, अरिहंत और सिद्ध के शरण की आवाजें भी गूँजती रहीं। घाणी से बाहर खून की धाराएँ बहने लगीं। घाणी-चालक के साथ आए अन्य कसाई घाणी में रहे हड्डियों के चूरे को बाहर निकालते रहे।

आकाश में कुछ ही देर में गीध मँडराने लग गये। समय बीतता गया, शिष्य एक-एक घाणी में पिलते हुए समता की गंगा में बहकर क्षपक श्रेणी पर चढ़ते रहे।

□ 'इस बाल-मुनि से पहले मुझे मरने दो'—आचार्य स्कंधक का कथन

बन्धुओं! पालक प्रतिशोध की ज्वाला में जलता हुआ, अधिक प्रज्वलित होता हुआ मुनियों के शरीर कुचले जा रहा था और आत्म-विज्ञानी मुनिजन शान्त-समभाव से निज-निज कर्म-दलिकों को कुचल रहे थे। एक लम्बे समय तक यह क्रिया चलती रही। मुनि कर्म-मुक्त बन मोक्षगमन करते रहे, पालक पापों का भार बढ़ता हुआ कर्मबन्धन में फँसता रहा, कर्मों का बोझ बढ़ता रहा, संसार-वृद्धि कर अपने दुःखों को असीम बनाता रहा। अन्त में दो जन बचे। एक स्वयं आचार्य स्कंधक और दूसरे एक सुकुमार बाल-मुनि। नन्हीं उग्र, पर प्रतिभाशाली, दृढ़व्रती और मेधावी! पालक के आदमी उसे उठाकर घाणी में डालें, उससे पूर्व ही स्कंधक मुनि कह उठे—“अरे क्रूर पालक! तूने चार सौ निन्यानवे साधुओं को घाणी में पीलवा दिया, अब तो सन्तोष कर। देख, ये कैसे नन्हें, बाल-मुनि हैं। कितने सौम्य, सुदर्शन हैं! क्या इन्हें देखकर तेरे मन में जरा-भी अनुकम्पा, करुणा, दया का संचार नहीं होता। यदि नहीं है तुममें दया-वया तो मेरी एक छोटी-सी बात मान। पहले मुझे कुचलवा दे। मैं नहीं देख सकूँगा इन बाल-मुनि का इस तरह कुचला जाना।”

□ “मैं तुम्हें ही तो अधिक दुःखी देखना चाहता हूँ।”—पालक!

बन्धुओं! स्कंधकाचार्य के इन वचनों को सुनकर पालक ने बड़े जोर का अट्टहास किया और बोला—“अरे स्कंधक! जितना तुझे अधिक दुःख पहुँचेगा, मेरे आनंद में उतनी ही

अधिक वृद्धि होगी। अब तो मैं पहले इस छोटे को मारूँगा और खूब तड़पा-तड़पाकर मारूँगा जिससे तेरे दुःख में वृद्धि हो। बहुत दुःख दिया था तूने मुझे राजभवन में।”

तभी बाल-मुनि दो कदम आगे बढ़े और बोले—“गुरुदेव! ये पहले मुझे कुचलेंगे तो कुचलने दीजिए। मैं कर्मों को कुचल दूँगा। आप तो महामन्त्र सुनाइए, मंगल पाठ सुनाइए।”

पालक ने गुस्से में आकर पकड़ा उसे ओर सौंप दिया कसाइयों को। घाणी में डाल दिया गया वह। पालक बोल उठा—“घाणी बहुत ही धीरे-धीरे चलाओ।”

बन्धुओं! कहने-सुनने में ही शरीर का रोम-रोम खड़ा हो रहा है तो वहाँ कैसी स्थिति बनी होगी? पर धन्य हैं वे बाल-मुनि जो समभावी बने रहे, शान्त बने रहे, शुभ भावों में रमण करते रहे। घाणी ने उनके भी शरीर को पील दिया। उत्कृष्ट शुद्ध भाव रमण से वे भी मोक्ष में गये।

□ आचार्य स्कंधक का क्रोध प्रज्ज्वलित

आचार्य स्कंधक अब तक शान्त थे, द्रष्टा थे, सभी को प्रतिबोध कर उन्हें सम में स्थित बना रहे थे, पर जब उस नन्हें शिष्य को जान-बूझकर धीरे-धीरे पेरा (पीला) जा रहा था तो वे उत्तेजित हो उठे, अनायास कषायों का प्रज्ज्वल हो गया, क्रोधाग्नि से चेहरा सुलग उठा। धर्मानुराग था उसके प्रति, वह राग बदलकर पालक के प्रति तीव्र द्वेष में परिणत हो गया। सहन नहीं कर सके वे उस बाल-मुनि का ऐसा मरण, अतः चिल्ला उठे क्रोध से—“अरे दुष्ट, अधम, पातकी पालक! तूने मेरे पाँच सौ शिष्य घाणी में पीले, बाल-मुनि को भी नहीं छोड़ा अपितु अधिक कष्ट दिया। मैं तुझे इसका मजा चखाऊँगा। तेरी क्रूर करतूतों को वह फल दूँगा कि तू जन्म-जन्मांतर तक याद रखेगा।”

□ मरते समय निदान किया

मुनि चिल्ला रहे थे कि पालक के व्यक्तियों ने उन्हें भी उठाकर घाणी में डाल दिया। अन्तिम समय में सभी को सुनाकर “निदान” करते वे चिल्लाकर फिर कह उठे—“यदि मेरे संयम, मेरे ज्ञान-ध्यान, मेरे जप-तप का कोई फल हो तो मैं इस दुष्ट पालक का, इस नगरी के राजा दण्डक का और इस सम्पूर्ण नगरी को नष्ट करने वाला बनूँ।”

□ विराधक बने, अतः अग्निकुमार हुए !

बन्धुओं! मोक्ष जाने जैसा संयम पाला था, तप किया था, साधना साधी थी, पर जब सिद्धि का समय आया तो रत्नों, हीरों, मणि-मणिष्यों को कोयले की दलाली में गँवा दिया।

प्रभु का वचन सत्य सिद्ध हुआ। आचार्य स्कंधक विराधक बन गये अपने अन्तिम समय में निदान करके, क्रोध करके, आलोचना किए बिना मरणधर्म प्राप्त करके। साधु आराधक रहे तो वैमानिक देव बने या सिद्धगति प्राप्त करे। वही साधु विराधक बने तो भवनपति, बाणव्यंतर ज्योतिषी तथा प्रथम देवलोक तक जाते हैं। निदान कृत मुनि स्कंधक मरने के बाद अग्निकुमार नामक देव बने।

□ रानी पुरन्दरयशा और रक्तरंजित रजोहरण

कुंभकारकट नगर के बाहर उद्यान में जिधर देखें उधर रुधिर ही रुधिर था। खून की धाराओं से पट गया था वह उद्यान। माँस और हड्डियों के ढेर का छोटा-मोटा पर्वत भी खड़ा हो गया था वहाँ। बड़ा वीभत्स दृश्य था। पालक, उसके साथी, अन्य चाकर, कसाई आदि चले गए थे वहाँ से। उन सभी के लिए भी इतने बड़े प्राण-वध का यह पहला अवसर था, अतः घर में बैठे हुए भी उस दृश्य को स्मरण कर मन ही मन अभी तक दहल रहे थे। उद्यान में गिद्ध, श्वान, सियार, काग आदि हिंसक, मृत जीवों का माँसभक्षण करने वाले पशु-पक्षियों के झुण्ड नजर आने लगे।

एक गिद्ध ने आचार्य स्कंधक के रक्तरंजित रजोहरण को माँस का पिण्ड समझा, अतः उसे पंजों में दबाकर उड़ चला वहाँ से। वजनी था, रक्त से भीगा होने के कारण भारी बन गया था, अतः गिद्ध उसे सँभाल नहीं सका। छूट गया वह उसके पंजों से और जा गिरा आकश से धरती पर।

संयोग से जहाँ गिरा वह स्थान राजमहल था, महारानी पुरन्दरयशा के महल के गवाक्ष में गिरा था वह रजोहरण। रक्तरंजित रजोहरण को देख रानी चकित हो गई। परिचारिका को बुलवाकर धुलवाया उसे। धुलने के बाद देखा उस रजोहरण को तो आँखें फटी की फटी रह गई उसकी। परिचित लगा वह रजोहरण। किसी दुर्घटना की आशंका से उसका हृदय दहल उठा।

भागी हुई गई वह राजा दण्डक के पास। रजोहरण की सारी बात बताकर पूछ—“क्या मेरे भैया को उसी की बहन के इस नगर में मार दिया गया है? बात क्या है नाथ? जो भी प्रसंग घटित हुआ है, मुझे बताइए।”

□ भ्राता मुनि स्कंधक मारा गया : बहन का विलाप

राजा दण्डक ने सारा प्रसंग बता दिया और बोला—“पहले तुम्हें कह देता यह बात तो क्या पता क्या कर बैठती? मुझे अब लगता है कि कुछ अनहोनी हुई है। मैंने दण्ड देने का

सर्वाधिकार पालक के हाथों में सौंपकर अच्छा नहीं किया। उसने इस अवसर और अधिकार का भरपूर दुरुपयोग किया है।”

रोती-सुबकती रानी को राजा ने आश्वासन देते हुए कहा—“तुम यह रुदन बन्द करो। मैं अभी पता करवाता हूँ कि मेरे उद्यान से लौटने के बाद वहाँ क्या-क्या हुआ?”

सारी घटना का पता लगाया राजा ने। स्कंधक सहित सभी मुनियों के घाणी में पील दिए जाने की घटना का विवरण सुन वह कम्पित हो उठा। उसे स्वप्न में भी यह अन्देशा नहीं था कि पालक—मन्त्री मुनिजनों को इतनी क्रूर सजा देगा।

रानी को बतलाई सारी बात। रोते हुए रानी ने अत्यन्त कातर स्वर में कहा—“महाराज! बहुत बड़ा अकाज हो गया आपके राज्य में! राज्य में कभी एक व्यक्ति भी मारा जाता है तो शोर मच जाता है। यहाँ पाँच-पाँच सौ धर्मात्माओं को ऐसी वहशी मौत के घाट उतार दिया गया, पर किसी के कान में भनक तक नहीं पहुँची। निश्चय ही इसमें आपके मन्त्री पालक का कपट-जाल है। मेरी माता और मेरे पिता के पास जब इस घटना का विवरण जायेगा तो उनकी कैसी कारुणिक दशा होगी? वे तो जिन्दा ही मरणासन्न हो जाएँगे!”

□ दण्डक के मन में भी पश्चात्ताप

राजा दण्डक ने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए रानी से कहा—“मुझसे यह बहुत बड़ी भूल हुई कि मैंने बिना कुछ विचार किए ही उस दुष्ट पालक को सभी अधिकार दे दिये।”

□ पुरन्दरयशा दीक्षित

रानी पुरन्दरयशा ने संसार का ऐसा विचित्र रूप देखा तो उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने दीक्षा लेकर संसार त्यागने का, आत्म-कल्याण करने का, संयम-पथ पर चलने का निश्चय किया।

शासनदेवी ने जब उसके दीक्षा लेने के भाव देखे और अपने ज्ञानोपयोग से जाना कि कुछ ही पलों में यह नगर अग्नि की ज्वालाओं से घिरकर भस्मीभूत बन जायेगा तब उसने पुरन्दरयशा की रक्षा के विचार से उसे तीर्थपति मुनिसुव्रत स्वामी के सान्निध्य में पहुँचा दिया। तीर्थकर देव ने उसे प्रतिबोध देकर दीक्षित बनाया।

□ अग्निकुमार बने स्कंधक के जीव ने प्रतिशोध लिया

उधर अग्निकुमार देव बने स्कंधक मुनि के जीव ने अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव देखा। कुंभकारकट नगर का रक्त-रंजित उद्यान, विशाल घाणी, हड्डियों का ढेर, गीध, श्वान,

सियार आदि पशु, दुष्ट पालक, नराधम दण्डक। सम्पूर्ण घटना स्मृति-पटल पर चित्रित हो गई। क्रोध में पागल बन गया वह। नगर पर अग्निवृष्टि प्रारम्भ की। सारा नगर धूँ-धूँ कर जलने लगा। नगर के लोग प्राण बचाने के लिए भागे पर जाएँ तो किधर, कहाँ? जहाँ देखो वहीं आग। सारा नगर, राजमहल, नगर-निवासी, राजा दण्डक, मन्त्री पालक आदि सभी नगर-जन जग्नि की ज्वाला में स्वाहा हो गये।

□ धर्मात्माओं की संगति से कल्याण सम्भव

बन्धुओं! करणी तीव्र पाप की एक ने की, कुछ जन सहयोगी-सहभागी बने, पर फल पूरे नगर- निवासियों को भोगना पड़ा। पापियों का साथ, मिथ्यामतियों का साथ, कुपथगामियों का साथ ऐसा ही फल देता है। किसी मिथ्यात्वी, किसी मायामति, किसी दुर्व्यसनी का साथ करते हैं यदि आप तो उसका संसर्ग आपको भी डुबा सकता है।

यह जिनेन्द्र वाणी! महापुरुषों के ये प्रेरक आगमिक प्रसंग आपसे पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि सजग बनें, आत्म-जागृत बनें, धर्म में रमण करें। ऐसा करने पर ही शाश्वत शान्ति की, अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

आनन्द ही आनन्द !



चन्द्रगुप्त आपण्यो ठाय !

(आचार्य भद्रबाहु स्वामी)

आत्म-बन्धुओं !

जिनेन्द्र भगवान की वीतरागी वाणी संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए सरस सुधारस की खान है, नव जीवनदायिनी है, जीवन के उत्थान में सहयोगिनी है, विवेक बुद्धि को जगाने वाली है, मोह, माया, ममता को क्षीण कर आत्म-रमण का मानस बनाने वाली है, सर्वदुःखनाशक है, सद्ज्ञान प्रकाशक है, शाश्वत सुखों की जननी है, भव-भव को मिटाने वाली है, अनंत-अनंत गुणों का भण्डार है अतः अनंत गुण-सम्पन्न है। आत्म-साधक के लिए यह मोक्ष का पथ बताने वाली है तो भौतिक सुख-साधकों को शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान की जानकारी देकर उन्हें अध्यात्म की उज्ज्वल राह पर अग्रसर करने वाली है।

□ तीर्थ और तीर्थकर

यह वाणी बताती है कि जीवात्मा के लिए एक मात्र साध्य है मोक्ष, जन्म-मरण से मुक्ति, अष्ट कर्मों के बन्धन से छुटकारा। यही उसका चरम लक्ष्य है, इसके लिए साधनारत रहना ही उसके जीवन का उद्देश्य है। इस संसार-सागर को तैरकर मोक्षरूपी किनारे पर पहुँचने के लिए प्रभु ने चार चैतन्य तीर्थ-स्थान बनाए—(१) श्रमण, (२) श्रमणी, (३) श्रावक, तथा (४) श्राविका। इन चार तीर्थों का समन्वय करते हुए प्रभु ने चतुर्विध संघ स्थापित किया। चतुर्विध संघरूपी चार भाव तीर्थों की स्थापना के कारण ही वे भाव-तीर्थकर बने।

प्रभु के द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ आज भी जैन-समाज में तीर्थरूप में विद्यमान है। व्यवस्था की दृष्टि से यह जैन समाज प्रभु महावीर के समय में ९ गणों (सम्प्रदायों) में बँटा हुआ था। कालान्तर में विभिन्न कारणों से अनेक संघ, अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। प्रत्येक संघ या सम्प्रदाय का अपना-अपना अलग आचार्य बनाया जाने लगा।

□ आचार्य-पद

बन्धुओं! हमारा सर्वप्रिय, सार्वभौमिक और सार्वकालिक जो महामन्त्र है, उसके पाँच परमेष्ठी पद हैं। आचार्यदेव का इन पाँच पदों में मध्य का स्थान है, अर्थात् ऊपर से भी तीसरा

और नीचे से भी तीसरा। इन पाँच परम-इष्ट पदों में दो देव-पद हैं और तीन गुरु-पद। तीन गुरु-पदों में आचार्यदेव का स्थान सर्वोपरि है।

किसी भी धर्मसंघ में आचार्य का पद सर्वाधिक गौरव-गरिमा से मण्डित पद होता है। सम्पूर्ण संघ के संगठन, संचालन, संरक्षण, संवर्धन, अनुशासन एवं सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिए सारे निर्णय आचार्य लेता है और एक आचार्य का मुख्य उत्तरदायित्व भी यही है। धर्म-संघ में आचार्यदेव जो भी निर्णय करें, वे निर्णय सर्वमान्य होते हैं। आगमों में गुम्फित जिनवाणी का यथातथ्य रूप में निरूपण करने वाले ऐसे आचार्य को तीर्थकर का उत्तराधिकारी और सकल संघ का नेत्र बताया है।

□ कौन हो आचार्य?

आवश्यक चूर्णिकार ने 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

“आङ् मर्यादाभिविध्योः चरिर्गत्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः।”

“आचारेण वा चरन्तीत्याचार्यः।”

भगवतीसूत्र की वृत्ति में 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए उस पद की गरिमा के विषय में आया है—

“आमर्यादा तद्विषय विनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशतया
तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः।”

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढ्ढिभूओ य।

गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ त्ति ॥

सारांश यह कि जो जिनेन्द्र प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयंगम करे, उसे आत्मसात् करे अथवा ऐसा करने की उत्कण्ठा रखते हों और जो शिष्यों द्वारा विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों, ऐसे साधक आचार्य-पद के अधिकारी होते हैं।

जो सूत्र और उनके अर्थ, उभय के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिए मेढ्ढिभूत अर्थात् आधार-स्तंभ के समान हों, जो अपने गण-गच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से, आपद-विपदाओं से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की वाचना गूढार्थ सहित देते हों, वे आचार्य कहलाने योग्य होते हैं।

□ आचार्य की परिभाषा

आगे इसी सूत्र में बताया है—

“आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा । आमर्यादा वाचारो विहार, आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणाप्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः ।”

जो आचार्य पाँच प्रकार के आचार अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का स्वयं सम्यग्रूपेण पालन, प्रकाशन, प्रसारण तथा उपदेश करते हैं और अपने आश्रित शिष्यों से भी उसी प्रकार का आचरण करवाते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि जो श्रमणाग्रणी सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों के अर्थ का मननपूर्वक संचयन या संग्रहण कर स्वयं विशुद्ध, निरतिचारपूर्वक साधकाचार का सम्यग्रूपेण परिपालन करते हैं एवं अपने शिष्य-शिष्याओं को आचार में स्थापित करते हैं तथा श्रद्धालु भक्तजनों को कल्याण के मार्ग में अग्रसर करते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं।

“पवयण जलहि—जलोयर, पहायामल—बुद्धि—शुद्ध—छावासो मेरुव्व णिप्पकंपो, सूरु पंचाणणो वज्जो देस—कुल—जाइ—सुद्धो, सोमंगो संग—भंग विमुक्को गयणव्व णिरुव्वलेवो, आइरियो एरिसो होई संगह—णुग्गह—कुसलो, सुत्तथ—विसारओ पहिय—कित्ती सारण—वारण—सोहण, किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ ।”

□ आचार्य के ३६ गुण और ८ सम्पदा

कैसा है आचार्य का स्वरूप और क्या-क्या गुण आवश्यक रूप से एक संघाचार्य में होने चाहिए?—इन प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य श्री भद्रबाहु, जिनका प्रसंग आज आयेगा, ने आचारांग निर्युक्ति की गाथा ८ में कहा है—

जह दीवादीवसयं पईप्पए, सो य दीप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥

अर्थात् आचार्य उस दीपक के तुल्य है जो स्वयं भी प्रकाशित होता है और आस-पास को भी, अन्यान्यों को भी, औरों को भी प्रकाशित करता है। उस एक दीप से अन्य सैकड़ों—सहस्रों दीप प्रदीप्त किए जा सकते हैं।

एक सच्चे आचार्य में छत्तीस गुण अत्यावश्यक रूप से विद्यमान होने चाहिए—

पंचिंदियसंवरणो, तह नवविहबंभचेर गुत्तिधरो ।
चउविहकसाय—मुक्को, इह अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंच विहायारपालणसमत्थो ।
पंच समिओ तिगुत्तो, इह छत्तीस गुणेहिं गुरु मज्झं ॥

अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषयों पर नियन्त्रण करना, नव-बाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना, क्रोधादि कषाय-चतुष्क को मंद बनाते हुए अपने को कषाय-मुक्त बनाना, पाँच महाव्रतों का पालन करना, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन करने में समर्थ होना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त होना—इन छत्तीस गुणों से संयुक्त संयमी आत्मा आचार्य कहला सकता है।

आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने वाला उच्च कोटि का उपर्युक्त ३६ गुणयुक्त साधक तभी आचार्य बनाया जाए, जब वह—(१) जाति-सम्पन्न हो अर्थात् जिसका मातृ-पक्ष निर्मल हो। (२) कुल-सम्पन्न हो अर्थात् उसका पितृ-पक्ष निर्मल हो। (३) बल-सम्पन्न हो अर्थात् जैसा काल है उसके अनुरूप उत्तम संहनन हो। (४) रूप-सम्पन्न हो अर्थात् शरीर का आकार (संस्थान) उत्तम हो। (५) विनय-सम्पन्न हो। (६) ज्ञान-सम्पन्न हो अर्थात् विमलमति-श्रुत आदि के धारक व अनेक मत-मतान्तर का ज्ञाता हो। (७) शुद्ध श्रद्धा-सम्पन्न अर्थात् दृढ़ सम्यक्त्वी हो। (८) निर्मल चारित्रवान हो। (९) लज्जाशील और निन्दा से डरने वाला हो। (१०) लघुता-सम्पन्न हो अर्थात् द्रव्य से उपधि याने भण्डोपकरण और भाव से अल्प और ऋजु कषायी हो। (११) ओजस्वी हो अर्थात् उपसर्ग-परीषह आदि आएँ तो धैर्य से उन्हें सहन कर सके, उनका सामना समभावपूर्वक कर सके। (१२) प्रतापी—तेजस्वी हो। (१३) वर्चस्वी-प्रभावी वाणी बोलने वाला हो। (१४) यशस्वी हो। (१५) क्रोधजयी क्षमावान हो। (१६) विनय से मानजयी बने। (१७) सरलता से माया को जीते। (१८) सन्तोष से लोभ जीतने वाला हो। (१९) जितेन्द्रिय हो। (२०) निन्दाजयी हो। (२१) परीषहजयी हो। (२२) मरणभय से मुक्त हो। (२३) उत्कृष्ट महाव्रत पालक हो। (२४) श्रेष्ठ गुणों का धारक हो। (२५) करण-सत्तरि हो। (२६) चरण-सत्तरि हो। (२७) निग्रह-प्रधान हो। (२८) द्रव्य, नय, प्रमाण आदि का सूक्ष्म ज्ञाता हो जिससे निश्चय-प्रधान बन सके। (२९) विद्या-प्रधान हो अर्थात् रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का धारक हो। (३०) मन्त्र-प्रधान हो अर्थात् विषापहरण, व्याधि-निवारण, व्यन्तरोपसर्गनाशक आदि मन्त्र जानता हो। **बन्धुओं ! ध्यान रहे कि इन चमत्कारी विद्या और मन्त्रों का ज्ञाता होने पर भी योग्य आचार्य को संघ और शासन के हित में विवशता से इनका प्रयोग करना पड़े तो वैसी स्थिति को छोड़कर उनका प्रयोग कदापि न करे।** (३१) चारों वेदों का ज्ञाता हो। (३२) आत्मा-परमात्मा के गूढार्थ को जानकर ब्रह्म (आत्मा) में दृढ़तापूर्वक रमण करने वाला हो। (३३) नैगम आदि सातों नय का संस्थापक तथा यथातथ्य उनके स्वरूप को जानने वाला हो। (३४) अभिग्रह आदि नियमों का धारक तथा प्रायश्चित्त विधि का ज्ञाता हो।

(३५) सत्य-प्रधान अटल वचनों का उच्चारण करने वाला हो। (३६) पापरूपी मल से मलिन न हो, लोक में अपवाद करावे ऐसे वस्त्रों का धारक भी न हो।

□ आचार्यदेव की ८ सम्पदाएँ

इन छत्तीस गुणों के अतिरिक्त आचार्य-पद धारण करने के लिए आठ सम्पदाओं का होना भी आवश्यक माना गया है। प्रतिक्रमण की पाँच पदों की भाववन्दना में आचार्यदेव को जो भाववन्दना दी जाती है, उसमें आता है आठ सम्पदाओं का उल्लेख। उनके नाम हैं—आचार-सम्पदा, श्रुत-सम्पदा, शरीर-सम्पदा, वचन-सम्पदा, वाचना-सम्पदा, मति-सम्पदा, प्रयोगमति-सम्पदा और संग्रह-परिज्ञा-सम्पदा।

इन आठ सम्पदाओं में से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं, अतः आठ गुणा चार अर्थात् बत्तीस और उनमें आचार विनय, श्रुत विनय, विक्षेप विनय व दोष परिघात—इन चार विनय को मिलाकर पुनः ३६ गुण ही हो जाते हैं।

इस तरह संघाचार्य ज्ञान-प्रधान, दर्शन-प्रधान, चारित्र-प्रधान, तप-प्रधान, शूर, वीर, धीर, साहसिक, शम, दम, उपशमवान, चारों तीर्थों के श्रद्धास्पद, जिनेश्वर देव के पाट के अधिकारी, जिनशासन के निर्वाहक और प्रवर्तक आदि विशिष्ट गुणों के धारक संत श्रेष्ठ ही होते हैं।

□ भगवान महावीर के पश्चात् पट्टा-परम्परा (श्रुतकेवली)

आवश्यकनिर्युक्त में—“पुव्वं तित्थं गोयमसामिस्स दव्वेहिं पज्जवेहिं अणुजाणमिति।”—इन शब्दों के द्वारा बताया गया है कि भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गणधर गौतम स्वामी को तीर्थ की अनुज्ञा प्रदान की तथा “गणं च सुहम्मसामिस्स धुरे ठावेत्ता णं अणुजाणाति।”—लिखकर आर्य सुधर्मा स्वामी को गण की अनुज्ञा प्रदान करना बतलाया।

आवश्यकनिर्युक्ति में यह उल्लेख मध्यम पावा में भगवान महावीर द्वारा तीर्थ-स्थापना के समय का है।

इस काल के लगभग ३० वर्ष पश्चात् प्रभु महावीर ने मध्यम पावा में ही निर्वाण को प्राप्त किया। निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात्—“मज्झिमाए वीरेण सुहम्मो तित्थाहिवो संठविओ।” अर्थात् मध्यम पावा में भगवान महावीर के निर्वाण पश्चात् आर्य सुधर्मा स्वामी को तीर्थाधिप—तीर्थनायक बनाया गया। अतः उन्हें ही प्रथम पट्टधर कहना युक्तिसंगत है।

आर्य सुधर्मा स्वामी के पश्चात् आर्य जम्बू स्वामी भगवान महावीर के पाट पर विराजे।

आर्य जम्बू स्वामी के पश्चात् भगवान महावीर के पाट पर क्रमशः आर्य प्रभव, आर्य सय्यंभव, आर्य यशोभद्र और आर्य संभूतिविजय पट्टधर आचार्य बने।

आर्य सुधर्मा स्वामी वीर निर्वाण वर्ष १ से २० तक तथा आर्य जम्बू स्वामी वी. नि. व. २० से ६४ तक आचार्य रहे। आर्य प्रभव वी. नि. सं. ६४ से ७५ तक, आर्य सय्यंभव वी. नि. सं. ७५ से ९८ तक, आर्य यशोभद्र स्वामी वी. नि. सं. ९८ से १४८ तक और आर्य संभूतिविजय स्वामी वी. नि. सं. १४८ से १५६ तक आचार्य-पद पर रहे। आचार्य संभूतिविजय के पश्चात् आर्य भद्रबाहु स्वामी पट्टधर बने।

□ आचार्य भद्रबाहु स्वामी

आर्य जम्बू स्वामी के पश्चात् आचार्य प्रभव स्वामी से आचार्य भद्रबाहु स्वामी तक की परम्परा श्रुतकेवली आचार्यों की परम्परा रही है। श्रुतकेवली का अर्थ है समस्त श्रुतशास्त्रों अर्थात् द्वादशांगी का केवली-सर्वज्ञों की भाँति पारगामी ज्ञाता एवं व्याख्याता। अन्तिम श्रुतकेवली थे—आचार्य भद्रबाहु स्वामी! एकभवावतारी युगपुरुष आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने 'बड़ी साधु वन्दना' में इन महापुरुष को अपनी भावाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

संभूतिविजय—शिष्य, भद्रबाहु मुनिराय।

चौदह पूर्वधारी, चन्द्रगुप्त आपण्यो ठाय ॥१७॥

वस्तुतः आचार्य भद्रबाहु स्वामी भगवान महावीर के पंचम पट्टधर आचार्य यशोभद्र स्वामी के शिष्य थे, पर आचार्य संभूतिविजय स्वामी के पट्टधर होने के कारण इन्हें आचार्य संभूतिविजय का शिष्य कहा जाने लगा। आचार्य यशोभद्र स्वामी बड़ी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे, आपकी उस प्रतिभा का ही फल था कि आपके शासनकाल में संभूतिविजय और भद्रबाहु जैसे दो समर्थ शिष्य चतुर्दश-पूर्वधर; श्रुतकेवली बने। परिशिष्ट पर्व के छट्टे सर्ग में उल्लेख मिलता है—

मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतिविजयौ मुनी।

चतुर्दशपूर्वधरौ, तस्य शिष्यौ बभूवतुः ॥

सूरि श्रीमान्यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोद्वयोः।

स्वमाचार्यकमारोप्य, परलोकमसाधयत् ॥

वी. नि. सं. १४८ में जब आचार्य यशोभद्र ने अपना अन्तिम समय निकट जाना तो अपने पश्चात् श्री संभूतिविजय तथा श्री भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। तत्पश्चात् आचार्य यशोभद्र समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर परलोक सिधारे।

□ क्या दो आचार्यों की परम्परा बनी ?

यहाँ एक बात आप सभी को ध्यान रखने की है। भगवान महावीर के पश्चात् आर्य सुधर्मा से आचार्य यशोभद्र स्वामी तक एक ही आचार्य की परम्परा बनी रही। वाचनाचार्य आदि अन्य रूप से संघ में रहते पर एक आचार्य के शासन की व्यवस्था निभाते रहे। आपके पश्चात् दो आचार्यों की परम्परा का श्रीगणेश हुआ, पर वस्तुतः तब भी शासन संचालन वी. नि. सं. १४८ से १५६ तक आर्य संभूतिविजय स्वामी ने और वी. नि. सं. १५६ से १७० तक आचार्य भद्रबाहु जी ने किया। अतः यह कहना कि उस समय जैनसंघ में किसी प्रकार का मतभेद रहा था या मतभेद का प्रारम्भ हो चुका था, यह नितान्त निराधार है। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि आचार्य यशोभद्र स्वामी के द्वारा दो आचार्यों की नियुक्ति का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है। इसका क्या कारण रहा, यह उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

बन्धुओं! भगवान महावीर के छठे पाट पर संभूतिविजय और भद्रबाहु, दोनों का नाम लिखना भी उचित नहीं है, क्योंकि भद्रबाहु जी ने हमेशा संभूतिविजय जी को ही आचार्य माना। इस दृष्टि से भगवान महावीर की पाट-परम्परा में भद्रबाहु जी का नाम सातवें पट्टधर के रूप में आता है और वही सही भी है।

□ आचार्य भद्रबाहु (जन्म, दीक्षा, आचार्य-पद)

भद्रबाहु स्वामी का जन्म प्रतिष्ठानपुर के एक प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में वी. नि. सं. ९४ में हुआ। आप पैंतालीस वर्ष पर्यन्त गृहस्थपने में रहे। वी. नि. सं. १३९ में आपने भगवान महावीर के पाँचवें पट्टधर आचार्य यशोभद्र स्वामी के पास दीक्षा अंगीकार की और दीक्षा पश्चात् अपने महान् यशस्वी गुरु यशोभद्र की सेवा में रहकर बड़ी लगन के साथ आपने द्वादशांगरूपी जिनवाणी का अध्ययन किया। चौदह पूर्वों का ज्ञान अर्थ व विवेचन सहित अर्जित कर आप श्रुतकेवली बन गये।

आचार्य यशोभद्र ने अपने अन्तिम काल वी. नि. सं. १४८ में आचार्य सम्भूतिविजय के साथ आर्य भद्रबाहु मुनीश्वर को भी आचार्य-पद पर नियुक्त किया। आपने अत्यन्त विनयपूर्वक वी. नि. सं. १४८ से १५६ तक अपने बड़े गुरुभाई आचार्य सम्भूतिविजय को ही संघनायक मानते हुए स्वयं शिक्षार्थी श्रमणों को श्रुतशास्त्र का अध्यापन कराने का कार्य किया एवं जिनशासन की महती सेवा की।

□ छेदसूत्र की रचना

वी. नि. सं. १५६ में आचार्य संभूतिविजय निर्वाण को प्राप्त हुए तब से सम्पूर्ण संघ के संचालन की बागडोर आपके हाथ में रही। जिस तरह आचार्य सय्यंभव ने 'दशवैकालिक'

की रचना कर संघ व आने वाले शासनकाल पर उपकार किया, उसी तरह आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन चार छेदसूत्रों की रचना की और अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य से शासन एवं मुमुक्षु साधकों को उपकृत किया।

□ अन्य रचनाएँ

अनेक जैनाचार्यों के मतानुसार आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित नामक दस ग्रन्थों की निर्युक्ति (व्याख्या) लिखी। दस कल्प और व्यवहार ग्रन्थ का आपने निर्माण किया। पर्युषण में जिस कल्पसूत्र का वाचन करते हैं, उसकी रचना भी आपने ही की। 'वसुदेव चरित्र' का लेखन भी किया, जिसमें एक लाख पच्चीस हजार पद हैं।

□ जिनशासन के महान् उपकारी

अनेक आचार्यों ने आचार्य भद्रबाहु को भविष्यद्रष्टा व एक महान् नैमित्तिज्ञ भी बताया है। अनेक इतिहासविज्ञों का यह भी मानना है कि महान् नैमित्तिज्ञ ज्ञान के धारक आचार्य भद्रबाहु जिन्होंने चन्द्रगुप्त के सपनों का फलादेश बताया वे भद्रबाहु स्वामी अन्य कोई थे, क्योंकि भद्रबाहु नाम के अनेक आचार्य हुए। यह खोज का विषय है। वैसे आचार्य जयमल जी म. सा. ने तो 'बड़ी साधु वन्दना' में इतना ही उल्लेख किया है कि संभूतिविजय के शिष्य चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त राजा को बोध दिया। आचार्य भद्रबाहु ने ही आचार्य स्थूलिभद्र को दो वस्तु कम दस पूर्वों का सार्थ सविवेचन सम्पूर्ण ज्ञान दिया था तथा अन्तिम चार पूर्वों की मूल रूप में वाचना देकर पूर्व ज्ञान को नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न किया था।

आपकी ज्ञानाराधना तथा श्रद्धा तो उत्तम व दृढ़ थी ही, आपकी तपःसाधना भी उच्च कोटि की थी। अपने धर्मोपदेश द्वारा आपने जन-जन के आत्मोत्थान का निरन्तर प्रयत्न किया।

□ सम्राट् चन्द्रगुप्त ने देखे सोलह सपने

आप जब आचार्य थे, उस समय धन-धान्यादि से समृद्ध मगध नाम का राज्य था। राज्य का राज्याधीश था चन्द्रगुप्त और राज्य की राजधानी थी पाटलिपुत्र। किसी समय पाक्षिक पौषध में धर्मरत महाराज चन्द्रगुप्त ने रात्रि के समय शयन करते हुए पिछले प्रहर में अत्यन्त अनौखे और विचित्र से सोलह स्वप्न देखे। राजा उन स्वप्नों को देखकर जगा तो उन पर चिन्तन करने लगा। क्या अर्थ है इन स्वप्नों का? क्या फल है इन्हें देखने का?—आदि प्रश्नों पर उसका चिन्तन-मनन चलता रहा, पर स्वप्नों का तात्पर्य वह समझ नहीं पाया। राजा की जिज्ञासा निरन्तर बढ़ती जा रही थी, उन स्वप्नों के फल को जानने—समझने की।

राजा इसी चिन्तन-मनन में था कि वनपाल ने आकर मुनिराज आचार्य भद्रबाहु के पाँच सौ शिष्यों के परिवार सहित पधारकर पाटली बाग में विराजने की सूचना महाराज चन्द्रगुप्त को दी। सूचना पाकर चन्द्रगुप्त राजा अत्यन्त हर्षित हुए। 'मुनि-दर्शन व मुनि-मुख से जिनवाणी का श्रवण वैसे ही पुण्यार्जन का हेतु है फिर इस समय तो जो सोलह स्वप्न चिन्तन-मनन में हैं, उनका वास्तविक फलार्थ तो आचार्य भगवन् जितना शुद्ध कौन बता सकता है?'—चन्द्रगुप्त राजा ने मन ही मन सोचा।

□ चन्द्रगुप्त के सोलह सपने और आचार्य भद्रबाहु द्वारा उनका फलार्थ

राजा आचार्य भगवंत के दर्शनार्थ गया। नगर के अनेक श्रेष्ठीजन, श्रावक-श्राविकावृन्द वहाँ आये हुए थे। राजा भी अनेक मन्त्रियों, राज्याधिकारियों आदि के साथ गया था। सभी ने वन्दना की और बैठकर प्रतीक्षा करने लगे, श्रुतवाणी-श्रवण की। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने उपस्थित उस धर्मसभा को धर्मोपदेश देकर प्रति-लाभान्वित किया। उनकी देशना समाप्त होने पर राजा चन्द्रगुप्त ने पिछली रात, पिछले प्रहर में जो स्वप्न देखें, आचार्य भगवन् से उनका फल पूछा। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी अन्य रचना 'चन्द्रगुप्त के सोलह सपने' में इस प्रसंग का वर्णन किया है—

पाटलीपुर नामे नगर, 'चन्द्रगुप्त' तिहां राय।
 सोलह सपना देखिया, पक्खी पोषह मांय ॥ १ ॥
 तिण काले ने तिण समे, पंच सया परिवार।
 'भद्रबाहु' समोसर्या, पाटली बाग मझार ॥ २ ॥
 'चन्द्रगुप्त' वन्दन गयो, बैठी परिषदा आय।
 मुनिवर दी धर्म-देशना, सगलां ने हित लाय ॥ ३ ॥
 चन्द्रगुप्त कहे कर जोड़ी, सांभल जो मुनिराज।
 सोले सपना मैं देखिया, ज्यांरो अर्थ देवो फुरमाय ॥ ४ ॥
 वलता मुनिवर इम कहे, सांभल तू राजान।
 सोले सुपनां रा अरथ, एक चित राखो ध्यान ॥ ५ ॥

□ भविष्य में कोई राजा संयम नहीं लेगा

[पहला स्वप्न]

दीठो सुपनो पेलड़ो, 'भागी कल्पवृक्ष' डालो रे।
 राजा संजम लेसी नहीं, दुःखमी पांचमो कालो रे ॥

चन्द्रगुप्त राजा सुणो, कहे भद्रबाहु स्वाम रे ।
चवदे पूरबना धणी, तीन ज्ञान अभिराम रे ॥

□ पाँचवें आरे में केवलज्ञान नहीं होगा

[दूसरा स्वप्न]

सूरज अकाले आथम्यो, जेहनो ए फल जोयो रे ।
जाया पंचम आरा ना, ज्याने केवलज्ञान न होवे रे ॥

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों को सुनकर कहा—
“राजन्! ये स्वप्न भविष्य में होने वाले घोर अनिष्ट के सूचक हैं।” अपना ज्ञानोपयोग लगाते हुए वे बोले—

“चन्द्रगुप्त राजन्! तुमने अपने प्रथम स्वप्न में कल्पवृक्ष की शाखा भंग होते देखी है। इसका तात्पर्य है, अब भविष्य में कोई राजा श्रमण-दीक्षा ग्रहण नहीं करेगा। दूसरे स्वप्न में अकाल में अस्त होते हुए सूर्य को देखने का तात्पर्य यह है कि इस पाँचवें आरे में जन्मे व्यक्ति को केवलज्ञान नहीं होगा, अर्थात् कवलज्ञान का अब अभाव हो जायेगा और शेष द्वादशांगादि आगमों का श्रुतज्ञान न्यून होता जायेगा।”

□ अनेक समाचारी व कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की अधिक मान्यता

[तीसरा स्वप्न]

तीजे 'चन्द्रमा चालनी', तिणरो ए फल आसी रे ।
समाचारी जुई जुई, बारोट्या धर्म थासी रे ॥

[चौथा स्वप्न]

भूत-भूतणी दीठा नाचता, चौथे सुपने राय जोसी रे ।
कुगुरु, कुदेव, कुधर्मनी, घणी मानता होसी रे ॥

“तीसरा स्वप्न था चन्द्र-दर्शन का पर चन्द्र कैसा? छलनी जैसा छिद्रों वाला चन्द्र। आचार्य भद्रबाहु ने इसका अर्थ बताते हुए कहा—पंचमारक में उज्ज्वल भावना वाले भी छिद्रान्वेषी होंगे, अतः मत, पंथ, सम्प्रदायों का विस्तार होगा। चौथे स्वप्न में भूत-भूतनी को नाचते हुए देखने का फल यह है कि भविष्य में मानव की अधोजाति के व्यन्तरादि देवों में अधिक श्रद्धा होगी। लोग मिथ्या मान्यता को अधिक मानेंगे और अरिहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु सद्धर्म तथा दयामय जिनधर्म की मान्यता घटती जायेगी।”

□ बारह काल पड़ेंगे और जंघाचारणी आदि विद्याओं का लोप होगा

[पाँचवाँ स्वप्न]

नाग दीठो बारे फणो रे, पांचमे सुपने भालो रे।
कितराइक बरसां पछे, पडसी बारे कालो रे ॥

[छट्टा स्वप्न]

देव-विमाण वल्यो छठे, तिणरो सुणो राय भेदो रे।
जंघा-विद्या-चारणी, जासी लब्धि विछेदो रे ॥

“महाराजा चन्द्रगुप्त ने पाँचवें स्वप्न में बारह फण वाला सर्प देखा तथा छठे में देवविमान को वापस लौटते हुए देखा। इन दोनों के फल का विवरण देते हुए आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने बताया कि आने वाले समय में भयंकर बारहवर्षी दुष्काल पड़ेगा और इस भरत क्षेत्र में देवताओं, विद्याधरों तथा चारण-मुनिराजों का तथा सम्पूर्ण लब्धियों का लोप हो जायेगा।”

□ वणिक् धर्म होगा, मत अधिक होंगे, आपसी खींचतान होगी

[सातवाँ स्वप्न]

ऊगो उकरड़ी मध्ये, सातमें कमल विमासी रे।
च्यारुई वर्षा मध्ये, वाण्यां जिनधर्मी थासी रे ॥
हेतु, कथा ने चौपाई, तवन सझाय ने जोड़ी रे।
इण में घणा प्रतिबोधसी, सूतरनी रुचि रेसी थोड़ी रे ॥
इको न होसी सऊवाणियां, जुदा-जुदा मत थापी रे।
खांच करसी आपो आपणी, करसी थाप उथापी रे ॥

“सातवें स्वप्न में अशुचि स्थान पर कमल की उत्पत्ति देखने का अर्थ बताते हुए कहा गया कि चार वर्णों में अब तक जिनधर्म की सत्ता क्षत्रिय वर्ण के हाथ में रही, पर भविष्य में वणिक् बुद्धि वाले लोग जिनधर्म का प्रकाशन व प्रसारण करेंगे। सन्तों और श्रावकों की शुद्ध आगम वाणी में रुचि कम हो जायेगी। वे दृष्टान्तों, कथाओं, कविताओं, भजनों, गीतों, सज्जायों आदि की रचना करेंगे और श्रोता भी अधिकांश इन्हीं से प्रतिबोध पाएँगे। सभी आचार्यों और महनीय सन्त-पुरुषों के वचन एक समान नहीं होंगे, अतः अलग-अलग मत, सम्प्रदाय, पंथ आदि बनेंगे। ये सभी आपस में अपनी-अपनी बात, अपने-अपने मत या सिद्धान्त का पक्ष लेकर एक-दूसरे से खींचतानी करेंगे, विवाद करेंगे, उलझेंगे। इस तरह कई बार ये प्रभु जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित वाणी से विपरीत सिद्धान्तों की स्थापना भी करेंगे।”

□ धर्म कम, मिथ्याडम्बर अधिक होंगे

[आठवाँ स्वप्न]

दीठो सुपनो आठमो, आगिया नो चमत्कारो रे।
 अल्प उद्योत जिनधर्म री, बहुत मिथ्यात अंधारो रे॥
 तपस्या धर्म बखाण तो, राग कर होसी भेला रे।
 इम करतां अजाणसी, छत्ती अछत्ती होसी हेला रे॥
 हिंसा धरम प्रकाश ने, साधां सूं भिड़कासी रे।
 वलि तीर्थकर ना साध थी, निकली निन्हव थासी रे॥
 क्रियाडम्बर दिखाय ने, पोते साधु कहलासी रे।
 आगियानां चमत्कार ज्यूं, होय होय ने बुझ जासी रे॥

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने सम्राट् चन्द्रगुप्त से कहा—“हे राजन्! आठवें स्वप्न में जो जुगनू की भाँति चमकती, बुझती फिर चमकती, फिर बुझती ऐसी अग्नि तुमने देखी है इसका अर्थ है— भविष्य में सम्यक्त्व का धर्म-प्रकाश कभी-कभी चमकेगा, बहुधा तो मिथ्यात्व का अन्धकार ही छाया रहेगा। तपस्याएँ व धर्मवाणी होगी, पर उसमें राग का, अनुराग का, स्वमत के प्रति हठ का भाव मुख्य होगा। लोग आडम्बर के प्रति आकर्षित होकर एकत्रित होंगे व धर्मक्रिया में भाग लेंगे। जानपणा, सदज्ञान, शास्त्रज्ञान तो कम होगा, अतः करने (होने) लायक और न करने (होने) लायक क्रियाओं को सम्मिलित कर लिया जायेगा। हिंसा में धर्म की मान्यता का प्रचार कर श्रद्धालु लोगों को यथार्थ धर्म के ज्ञाता व पालनकर्ता सच्चे साधुओं के प्रति भड़काया जायेगा। यह उसी तरह होगा, जैसे तीर्थकरों के समय ‘निन्हव’ निकले थे और उन्होंने प्रभु-आज्ञा व प्रभु-सिद्धान्त के विरुद्ध अपना मत स्थापित किया था। साधु लोग अपनी साधना में आडम्बर को प्रमुखता देंगे फिर भी वे अपने को साधु कहेंगे और लोग भी उन्हें साधु ही कहेंगे। ऐसी स्थिति जुगनू-प्रकाश की तरह होगी, अर्थात् कभी-कभी सत्यधर्म कुछ समय के लिए प्रकाशित होगा।”

□ धर्म दक्षिण दिशा में चला जायेगा

[नवाँ स्वप्न]

समुद्र सूको तीनूं दिशा, दक्षिण डोलो पानी रे।
 तीन दिसे धर्म विछेद सी, दक्षिण दिशि धर्म जाणी रे॥
 जिहां जिहां पंचकल्याण का, तिहां तिहां धर्मनी हांणो रे।
 नवमा सुपना रो अर्थ होसी, इस ए कहे नाणो रे॥

“हे राजन्! यह धर्मरूपी लहराता समुद्र आने वाले काल में पूर्व, पश्चिम व उत्तर के प्रदेशों में लोप होने लगेगा। केवल दक्षिण दिशा में ही धर्मरूपी पानी लोगों में नजर आयेगा। तात्पर्य यह कि दक्षिण को छोड़ शेष तीनों दिशाओं में धर्म का विच्छेद हो जायेगा। जहाँ-जहाँ २४ तीर्थंकर भगवंतों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल्य व मोक्ष (निर्वाण) रूपी पंचकल्याण हुए, उन-उन स्थानों पर धर्म की विशेष हानि होगी। तुम्हारे नवम् स्वप्न का यह फल होने वाला है।”

□ लक्ष्मी नीच कुलों में वास करेगी

[दसवाँ स्वप्न]

सोना री थाली मध्ये, कूतरो दीठो खातो पीता रे।
दसमां सुपना रो अरथ, सुण तूं राय सधीरो रे॥
ऊंच तणी लिछमी तिका, नीच तणे घर जासी रे।
बधसी चुगल ने चोरटा, साहुकार सिधासी रे॥

“राजन्! तुमने दसवें स्वप्न में कुत्ते को सोने की थाली में खाता हुआ देखा है, इसका तात्पर्य है कि भविष्य में लक्ष्मी उच्च वर्ण, उच्च वर्ग, उच्च गुण वालों को छोड़ नीच के घर वास करेगी। चुगलखोर और चोरों के घर लक्ष्मी बसेगी। जो साहूकार हैं, नीति से व्यापार, व्यवसाय आदि करते हैं, उनके घरों से दूर चली जायेगी।”

□ म्लेच्छों का राज होगा

[ग्यारहवाँ स्वप्न]

हाथी ऊपर बांदरो, सुपने इग्यारमें दीठो रे।
म्लेच्छ राजा होसी ऊंचा, असल क्षत्री रेसी हेठो रे॥
क्षत्री कुलना ऊपना, कहे पृथ्वीपति नाथो रे।
सोई म्लेच्छ आगले, रहसी जोड्यां हाथो रे॥

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने ग्यारहवें स्वप्न का फल बताते हुए कहा कि “हाथी के ऊपर तुमने बन्दर को बैठे हुए देखा है। उसका तात्पर्य है जो यथार्थ में क्षत्रिय हैं, राज उनके हाथ से चला जायेगा। निम्न कुल, वर्ण के हीन लोग और अनार्य लोग इस धरती पर राज करेंगे। आज जो मालिक, स्वामी, नाथ, पृथ्वीपति, नरेश, प्रजापति आदि शब्दों से सम्बोधित किए जाते हैं और जिनके समक्ष राज्य की प्रजा हाथ जोड़े खड़ी रहती है, वे स्वयं अनार्यों व हीन कुल के राज्याधिकारियों के आगे हाथ जोड़े खड़े रहेंगे।”

□ बड़ों का विनय नहीं होगा

[बारहवाँ स्वप्न]

सपनो सुण नृप बारमो, समुद्र लोपी छे कारो रे।
कोई छोरु गुरु मावित री, नहीं गिणे लाज लिगारो रे॥
विनयभाव थोड़ो हुसी, मच्छर वधसी ज्यादा रे।
छोरु गुरु मां-बाप नी, मूक देसी मर्यादा रे॥
आपणी इच्छा से चालसी, छांदे गुरु ना थोड़ा रे।
लज्जारहित अभिमानिया, किरिया करतूत में कोरा रे॥
क्षत्री लांच ग्राही हुसी, वचन कही नट जासी रे।
दगा-दगी घणा खेलसी, विश्वासघाती थासी रे॥

“हे राजन् ! तुमने बारहवें स्वप्न में समुद्र को अपनी सीमाओं से बाहर आते देखा है। इसका तात्पर्य यह है कि आने वाले समय में पुत्र-पुत्री, पोते-पोती आदि माता-पिता, दादा-दादी से तनिक भी शर्म नहीं रखेंगे। शिष्य गुरुओं को आदर नहीं देंगे। विनयभाव की कमी होगी और ईर्ष्या-द्वेषभाव बढ़ जायेगा। सन्तान गुरु व माता-पिता का कहना नहीं मानेगी, उनका सम्मान नहीं करेगी, उनके समक्ष जो व्यवहार नहीं करना चाहिए, वही व्यवहार अवश्यमेव करेगी। बेशर्म और अभिमानी बनकर वे निकम्मे तथा क्रियाहीन होंगे। गृहस्थों की सन्तानें तो खोटे काम करेंगी तथा धर्मगुरुओं के शिष्य क्रिया में कोरे होंगे। क्षत्रिय लोभ के वशीभूत हो जाएँगे, अतः “प्राण जाय पर वचन न जाई” वाली स्थिति के स्थान पर जो कहा उससे तुरन्त इनकार कर देंगे, वचनों से फिर जाएँगे। ठग-विद्या का प्रचन बढ़ जायेगा और लोग विश्वासघाती बन जायेंगे।”

कितराइक साधु-साध्वी, द्रव्ये लेसी भेषो रे।
आज्ञा थोड़ी मानसी, सीख दियां करसी धेषो रे॥
आकुल-व्याकुल वांछसी, गुरुवादिक नी घातो रे।
शिष्य अविनीत इसा हुसी, गलियार गधानी जातो रे॥

“कितने ही साधु और साध्वी केवल द्रव्य-वेश धारण करके अन्दर से जिनाज्ञाओं के विरुद्ध कार्य करेंगे। वे अपने गुरु की सीख नहीं मानेंगे, बल्कि सीख देने पर उन्हीं के प्रति द्वेषभाव रखने लगेंगे। ज्यादा कहने पर व्यथित-बेचैन बन जायेंगे और विचार करेंगे कि कैसे गुरु को नीचा दिखाया जाय? कैसे इनका अपमान किया जाय? कैसे इन्हें आघात पहुँचाया जाय? अधिकतर शिष्य गलियों में आवारा फिर रहे गधों की तरह अविनीत होंगे।”

□ अल्पवयी धर्म सँभालेंगे

[तेरहवाँ स्वप्न]

महारथ जुत्या वाछड़ा, बालुड़ा धर्म थासी रे।
 कदाचित बूढ़ा करे तो, परमाद में पड़ जाती रे॥
 बालक बहु घर छोड़सी, आँणि वैराग भावो रे।
 लज्जा संजम पालसी, बूढ़ा द्वेष स्वभावो रे॥
 सहु सरल नहीं बालका, धेटा नहीं सहु बूढ़ा रे।
 समचे ही ए भाव छै, अर्थ विचारो उंडा रे॥

“हे राजन्! अपने जो बहुत भारी रथ में छोटे बछड़े को स्वप्न में जुता हुआ देखा है, उसे वह रथ खींचते देखा है उसका स्पष्ट अर्थ है कि भविष्य में छोटे-छोटे बच्चे धर्म को निभाएँगे। कभी शायद वृद्ध लोग धर्म-निर्वाह के लिए तत्पर भी हों तो वे प्रमाद में पड़ जाएँगे। बच्चों में वैराग्यभाव अधिक जगेगा और उसी वैराग्यभाव के कारण वे घर-परिवार का त्यागकर संयम का पथ ग्रहण करेंगे। ऐसे बालक ही संयम-पालन कर धर्म की लाज बचाए रखेंगे और तब वृद्ध संत उनसे द्वेषभाव कर स्वभाव से द्वेषी बन जाएँगे।

राजन्! यही बात समुच्चय रूप से जानना, क्योंकि सभी बालक सरल स्वभावी नहीं होंगे और न सभी वृद्ध लोग अड़ियल, प्रमादी, द्वेषी होंगे। मेरी बात को गहराई से लेना। हर बात के मर्म को समझना। बिना चिन्तन-मनन किए मूल शब्दों को पकड़कर मत बैठ जाना।”

□ चतुर्विध संघ में एकता नहीं रहेगी

[चौदहवाँ स्वप्न]

रतन झांखा' दीस चवदमें, तिण सुपना रो ऐ जोरो रे।
 भरत क्षेत्र या चारुं में रे, हेत मिलाप होसी थोड़ो रे॥
 कलह कराडम्बर करा, असमाधिक रा विषेको रे।
 ऊंधाकड़ा निरबुद्धिया, करसी धाका धेको रे॥
 वैराग्यभाव थोड़ो हुसी, द्रव्यलिंगी भेष धारो रे।
 भली सीख देतां थकां, करसी क्रोध अपारो रे॥
 करसी प्रशंसा आपरी, कपट वचन बहु गेरी रे।
 आचारी साधां तणां, उलटा होसी बेरी रे॥

सूधो पंथ प्ररूपसी, तिणसूं मच्छर भावो रे ।
 निंदक बहु साधा तणां, होसी द्वेष स्वभावो रे ॥
 एक एक जीवड़ा एहवा, घाले घणाने शंका रे ।
 भेद छलावे साधां मध्ये, करमा रे वश वंका रे ॥

राजा चन्द्रगुप्त ने चौदहवें स्वप्न में रत्नों की राशि देखी, पर वे सारे रत्न मटमैले, मलावृत्त, अतः चमकरहित थे। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा—“राजन्! इस चौदहवें स्वप्न का फल यह होगा कि भविष्य में चतुर्विध संघ में प्रेमभाव की कमी हो जायेगी। उल्टी बुद्धि और निर्बुद्धि वाले जैसे-तैसे करके एक-दूसरे को एक-दूसरे से विरुद्ध करेंगे। भाव से वैराग्य वाले बहुत कम होंगे, अधिकतर वेशधारी सन्त ही होंगे। उन्हें अच्छी सीख देने पर क्रोध से बिलबिलाकर अंट-शंट बकने लगेंगे। आचारवान की निन्दा करके स्वयं को श्रेष्ठ बतायेंगे, गुरुजनों की निन्दा करेंगे। स्वयं शिथिल होने पर भी अपने को उच्च बतायेंगे। वे अपनी प्रशंसा अपने मुँह करेंगे और गूढ़-मायावी वचन बोलेंगे। साधु ही साधुजन की निन्दा करेंगे।”

□ अधिकतर मानव कुबुद्धि के होंगे

[पन्द्रहवाँ स्वप्न]

रायकंवर चढ़ियो पाडिये, सुपने पनरमे देख्यो रे ।
 गज जिम जिनधर्म छोड़ने, और धर्म विषेखो रे ॥
 न्यायमार्ग थोड़ो हुसी, नीची गमसी वातो रे ।
 कुबुद्धि घणां मानीजसी, लांच ग्राही पर घातो रे ॥

पन्द्रहवें स्वप्न का फल बताते हुए आचार्य भद्रबाहु ने कहा—“राजकुमार पाड़े की सवारी कर रहा है, का आशय यह है—जिनानुयायी भी हाथी के समान श्रेष्ठ जिनधर्म का पथ त्यागकर दूसरे मिथ्या मान्यता, आडम्बरी और अंधविश्वासी के घेरे में गिरे पंथों को मानने लगेंगे। हाथी चढ़ना छोड़कर पाड़े की सवारी से यही तात्पर्य है। न्याय-नीति का पथ अधिकतर लोग त्याग देंगे। दुर्बुद्धि लोगों की अशुभ भावनाओं पर उनका आकर्षण बढ़ेगा और विशुद्ध धर्मपंथ पर चलने वालों को कष्ट दिया जायेगा।”

□ समय पर वर्षा नहीं होगी

[सोलहवाँ स्वप्न]

बिगर मावथ हाथी लड़े, सुपने सोलमें एहो रे ।
 कितराइक वर्षा पछे, मांग्या न होसी मेहो रे ॥

अकाले विरखा हुसी, काले बरससी थोड़ो रे।
बाटां घणी जोवावसी, तिणसूं अन्न रो तोड़ो रे॥

आचार्य भद्रबाहु स्वामी राजा चन्द्रगुप्त से कहते हैं—“हे राजन्! तुमने सोलहवें स्वप्न में बिना महावतों के हाथियों को लड़ते देखा है। इसका फल यह है कि भविष्य में बादल समय पर वर्षा नहीं करेंगे। जब आवश्यकता नहीं होगी, तब तो वर्षा होगी और जब वर्षा की माँग, चाह, आवश्यकता होगी तब वर्षा नहीं होगी। मानव, पशु, पक्षी, पेड़, पौधे आदि वर्षा की प्रतीक्षा करते-करते थक जाएँगे, पथरा जाएँगे तब वर्षा होगी। समय-समय पर अन्न और पानी की कमी रहेगी।”

□ राजा चन्द्रगुप्त का दीक्षित बन दक्षिण में धर्म-प्रचार

चन्द्रगुप्त राजा ने सोलह स्वप्नों का जो फल आचार्य भद्रबाहु स्वामी से सुना, उसे सुनकर उसे विश्वास हो गया कि आने वाला समय विकट होगा। पद-पद पर भीषण संकट आएँगे। आने वाले समय की भयावहता तथा भवभ्रमण के जंजाल पर विचार करते हुए राजा को संसार से विरक्ति हो गई। चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र बिन्दुसार को राजा बनाया। राज्याभिषेक महोत्सव कर वह आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षित बन श्रमण-निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करने लगा। कालान्तर में मुनि चन्द्रगुप्त दक्षिण में कर्णाटक गये और दक्षिण में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। दक्षिण के लोगों में जैन-संस्कारों को रोपित करने में आप ही का प्रमुख हाथ रहा।

□ भीषण दुर्भिक्ष

एक समय आचार्य भद्रबाहु स्वामी किसी जिनदास सेठ के घर आहार (गोचरी) के लिए पधारे। अन्दर गये तो घर में उस समय कोई नहीं था। सुनसान उस घर में एक पालने में दो मास का शिशु झूल रहा था। उस शिशु ने चिल्लाकर भद्रबाहु से कहा—“चले जाओ! चले जाओ!!”

दो मास के शिशु का इस तरह चिल्लाकर चले जाने को कहना आचार्यश्री के लिए अद्भुत और अभूतपूर्व था। उन्होंने शान्त स्वर में उस शिशु से पूछा—“बोलो वत्स! कितने वर्ष के लिए जाना है?”

उस शिशु ने उत्तर देते हुए कहा—“बारह वर्ष के लिए।”

भद्रबाहु तो पूर्ण निमित्त ज्ञानी थे, तुरन्त समझ गये कि इस प्रदेश में निकट भविष्य में ही भयंकर दुष्काल पड़ेगा। दुष्काल भी कम समय के लिए नहीं, बारह वर्ष तक रहेगा। तत्काल

अपने स्थान लौटे। समस्त मुनि-संघ को एकत्रित किया और भावी भीषण दुर्भिक्ष की बात बताकर कहा—

“मुनिवरों! आने वाले समय में यह प्रदेश भुखमरी और लूटपाट का वीभत्स क्रीड़ांगण बनने वाला है। वह काल संयमी-जनों के लिए अति विकट होगा। संयम-पालन करना दुरूह ही नहीं अपितु असम्भव-सा बन जायेगा। ऐसे समय में समस्त श्रमणों को सुदूर प्रान्तों की ओर विहार कर देना चाहिए।”

□ संयम दृढ़ साधुओं ने संथारा किया

महाव्रतों के पालन में कहीं किसी प्रकार का दोष नहीं आ पाये, यह विचारकर अनेक संयमदृढ़ साधुओं ने अत्यन्त दुष्कर आमरण-अनशन की प्रतिज्ञाएँ स्वीकार कर सल्लेखना-संथारापूर्वक प्राणोत्सर्ग कर दिया।

केहिं वि विराहणा—भीरुएहिं, अइभीरुएहिं कम्माणं।
समणेहिं संकिलिटुं, पचक्खायाइं भत्ताइं ॥

—तित्थोगालियपइण्णा १

□ शेष साधु सुदूर दक्षिण या पूर्वोत्तर प्रदेशों में चले गए

अनेक अन्य मुनिराजों ने अन्यान्य प्रान्तों की ओर प्रस्थान कर समुद्र-तटीय प्रदेशों एवं नदियों के किनारे बसे हुए ग्राम-नगरों में विरक्त भाव से विचरण करना प्रारम्भ किया। आचार्य भद्रबाहु स्वामी भी कुछ श्रमणों के साथ विहार कर नेपाल की ओर चले गये।

दुष्काल भयंकर था। जो मुनि उन्हीं क्षेत्रों में ही रहे, जिन्होंने विहार नहीं किया, वे अधिकांशतया शिथिलाचारी बन गये। ऐसे शिथिल मुनियों ने सुरक्षित स्थानों का प्रश्रय, रात्रि में भिक्षा लाकर दिन में भोजन करना, तूम्बे के पात्र स्वीकार करना, हाथ में दण्ड धारण करना (कुत्तों या भिक्षा लूटने वालों को पीटने के उद्देश्य से), बन्द घरों के गवाक्षों से आहार लेना आदि प्रारम्भ कर दिया।

□ दुर्भिक्ष समाप्त, श्रमण पुनः मध्यवर्ती प्रदेशों में लौटे

बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर जब अच्छी वर्षा हुई, जब तालाबों—नदियों में पानी हुआ, जब संतप्त जमीन शान्त बन शीतल, उर्वरा बनने लगी, जब हरी-हरी घास नजर आने लगी, जब वृक्षों से पुनः कोपलें फूटने लगीं तब सुर्भिक्ष हो जाने की अनुभूति कर मध्य भारत के रहवासी प्रजाजनों ने सुख-चैन की श्वास ली।

दुर्भिक्ष की समाप्ति और सुर्भिक्ष होने के समाचार ज्यों-ज्यों प्राप्त होते गये, त्यों-त्यों विभिन्न सुदूर क्षेत्रों में गये हुए श्रमण व श्रमणी-समूह पुनः मध्यवर्ती भारत की ओर लौटने लगे। आचार्य भद्रबाहु नेपाल में उस समय महाप्राण-ध्यान की साधना में थे। आचार्य यशोभद्र द्वारा नियुक्त आचार्यद्वय में से आचार्य संभूतिविजय दुर्भिक्षकाल में स्वर्गस्थ हो चुके थे। ऐसे समय में आचार्य संभूतिविजय के शिष्य ने चतुर्विध संघ के कहने पर संघ-व्यवस्था का कार्य सँभाला।

□ श्रुतज्ञान विस्मृति, श्रुत-वाचना का निर्णय

भयंकर अकाल में जिन सन्तों व सतियों ने सुदूरवर्ती क्षेत्रों में अज्ञानी व अनायों के मध्य समय व्यतीत किया, भीषण परीषह सहन किये, वे सभी जब सुर्भिक्षकाल में लम्बे अन्तराल के पश्चात् एक-दूसरे से मिले तो उनको ऐसा अनुभव हुआ मानो वे परलोक में जाकर पुनः लौटे हों। 'तित्थोगालियपइण्णा' में वर्णन आया है—

ते दाइं एक्कमेक्कं, गयसेसा विरस दट्ठूणं।

परलोगगमणपच्चागयं, व मण्णंति अप्पाणं॥

उस महाभीषण दुर्भिक्ष में भूख-प्यास व अन्य अनेक मारणांतिक संकटों का पग-पग पर इन सन्त-सतियों ने अनुभव किया था और उन विषम परिस्थितियों में श्रुत का परावर्तन, स्वाध्याय आदि नहीं हो सका था। अनेक सन्त-सती अपने स्मृत श्रुतज्ञान से बहुत कुछ विस्मृत कर चुके थे। ऐसे में जब सभी आपस में मिले तो एक-दूसरे से पूछने लगे कि उन्हें क्या-क्या, कितना-कितना श्रुतज्ञान स्मृति में है। श्रुतज्ञान की अत्यधिक विस्मृति को देखकर, उस दुर्भिक्ष प्रकोप के समय स्मरण, चिन्तन, मनन, पुनरावर्तन के अभाव में एकादशांगी पाठों को भी सन्त-स्मृति-पटल से तिरोहित हुआ देखकर अंगों की वाचना निमित्त, अंगशास्त्रों की रक्षा निमित्त यह निर्णय लिया गया कि ग्यारह अंगसूत्रों के पारगामी स्थविर एक जगह एकत्रित हों और वे अंगसूत्रों की वाचना दें।

ते विंति एक्कमिक्कं, सब्भाओ कस्स कित्तिओ धरंति।

हंति दुट्ठुकालेणं, अम्हं नट्ठो हु सब्भावो॥

—तित्थोगालियपइण्णा

□ पाटलिपुत्र में प्रथम बृहद् आगम-वाचना

निर्णय की सूचना मिलने पर पाटलिपुत्र में लगभग वी. नि. सं. १६० में प्रथम बृहद् आगम-वाचना हुई। उपस्थित समस्त श्रमण उस वाचना में सम्मिलित हुए। आर्य स्थूलिभद्र

के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई इस वाचना में सभी श्रमणों के आत्यंतिक सहयोग के फलस्वरूप एक-एक अंग के पाठों का यथातथ्य रूप में पुनर्स्मरण किया जाना सम्भव हुआ। वाचना चलती रही, मुनियों द्वारा कंठस्थ करने का कार्य भी साथ-साथ चलता रहा। ग्यारह अंग सम्पूर्ण, लगभग सभी मुनियों ने कंठस्थ कर लिये।

कतिपय मास इस कार्य में व्यतीत हुए। तब दृष्टिवाद के लिए सभी से पूछा गया। यह भी पूछा गया कि मुनियों में कोई चतुर्दश पूर्वधारी मुनि हैं या नहीं। सभी मुनियों ने इनकार कर दिया। कतिपय श्रमणों ने बताया कि समस्त श्रमणों में केवल आचार्य भद्रबाहु ही हैं, जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं। संघ चिन्तित हुआ, क्योंकि—

ते विंति सव्व सारस्स, दिट्ठवायस्स नत्थि पडिसारो ।
कह पुव्वगएण विणा, पवयणसारं धरेहामो ॥

बिना चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किए भगवान महावीर द्वारा प्रवचनों के सार को किस प्रकार धारण किया जा सकता है?

□ चौदह पूर्व की वाचनाओं के लिए आचार्य भद्रबाहु को संघ का बुलावा

संघ ने विचार कर निर्णय लिया कि श्रमणों के एक विशाल संघाटक को आचार्य भद्रबाहु के पास इस प्रार्थना के साथ नेपाल भेजा जाये कि वे साधुओं को चतुर्दश पूर्वों की वाचनाएँ देकर श्रुतज्ञान की रक्षा करें।

आर्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में पाँच सौ साधुओं का संघाटक इस निर्णय के अनुसार नेपाल गया। आचार्य भद्रबाहु उस समय महाप्राणध्यान-साधना में रत थे। आचार्यश्री को जब संघ की ओर से निवेदन किया गया, चौदह पूर्वों की वाचनाएँ देने के लिए, तो बताते हैं कि एक बार तो आचार्य भद्रबाहु ने अपनी साधना की बात कहते हुए इनकार कर दिया।

इस पर कुछ श्रमणों ने बड़े विनीत स्वर में कहा—“आचार्यदेव! संघ-आज्ञा से हम पाँच सौ श्रमण चौदह पूर्वों की वाचनाएँ लेने यहाँ आये हैं। आप संघाचार्य हैं, सर्वसत्ता-सम्पन्न हैं, इनकार कर सकते हैं। फिर भी क्या यह उचित नहीं होगा कि आप संघ के सर्वसम्मत निर्णय पर पुनर्विचार करें। भगवन्! क्या यह सम्भव नहीं कि संघादेश न मानने पर जो प्रायश्चित्त संघ-विधान में है, वह आपको स्वीकार करना पड़े?”

□ आचार्य भद्रबाहु महाप्राणध्यान-साधना में, वहीं पर श्रमणों की वाचना

बन्धुओं! उस समय संघाज्ञा न मानने पर संघ से निष्कासन के प्रायश्चित्त का विधान था। अतः आचार्य भद्रबाहु ने कुछ देर चिन्तन-मनन कर कहा—“श्रमणों! मैं इस समय

महाप्राणध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ फिर भी संघादेश को मानते हुए मैं नित्य सात वाचनाएँ दूँगा। पर मेरी एक शर्त होगी। जिस समय मैं महाप्राणध्यान-साधना में रहूँ उस समय मैं किसी से बात नहीं करूँगा व कोई मुझसे बात नहीं करेगा। ध्यान खोलने के पश्चात् मैं प्रतिदिन पूर्वो की सात वाचनाएँ दूँगा। गोचरी से लौटकर एक, प्रातः, संध्या, मध्याह्न में एक-एक व प्रतिक्रमण पश्चात् तीन।” श्रमण-संघाटक के मुख्य श्रमणों ने चिन्तन किया कि “यह ठीक ही है। आचार्यदेव की आत्म-साधना भी चलती रहेगी और संघ के आदेश की पूर्ति भी हो जायेगी।”

□ पाँच सौ श्रमणों में से स्थिर रहे स्थूलिभद्र मुनि

वाचनाएँ प्रारम्भ हुई। समय व्यतीत होता रहा। विषय की जटिलता, दुरूहता अथवा अभिलषित वाचनाएँ न मिलने, मिल रहे श्रुतज्ञान को धारण न कर पाने से शनैः-शनैः स्थूलिभद्र मुनि को छोड़कर शेष सभी ४९९ मुनि विहार कर पुनः भारत (पाटलिपुत्र) की ओर आ गये। केवल स्थूलिभद्र ही अन्त समय तक वाचनाएँ ग्रहण करते रहे। आठ वर्ष के सुदीर्घकाल में स्थूलिभद्र मुनि ने आठ पूर्व की वाचनाएँ सार्थ, साविवेचन ग्रहण कीं, कंठस्थ कीं, चिन्तन-मननपूर्वक उस ज्ञान को धारण किया। इस तरह आर्य स्थूलिभद्र आठ वर्ष में आठ पूर्वो के ज्ञाता बन गये।

आर्य स्थूलिभद्र के धैर्य, उनकी जिज्ञासा-वृत्ति, उनके ज्ञान-पिपासु गुण, उनकी धारणा-शक्ति आदि से आचार्य भद्रबाहु अत्यन्त सन्तुष्ट, प्रमुदित, प्रसन्न थे। एक दिन आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलिभद्र मुनि से कहा—“देवानुप्रिय! मेरी साधना, मेरा ध्यान अब लगभग समाप्ति के सन्निकट है। ध्यान पूर्ण होने तक तो प्रतिदिन जो क्रम चल रहा है, वही चलता रहेगा। ध्यान-समाप्ति के पश्चात् अधिक समय मिलने पर मैं तुम्हें यथेष्ट वाचनाएँ दूँगा।”

□ ज्ञान का कोई पार नहीं, वह तो अगाध समुद्र है

आर्य स्थूलिभद्र मुनि ने विनयपूर्वक गुरु-चरणों को अपने मस्तक का स्पर्श कराते हुए पूछा—“प्रभु! अभी कितना अध्ययन अवशिष्ट है?”

आचार्य सस्मित बोले—“वत्स! सागर से एक बूँद तुल्य ज्ञान तुम अभी ले पाये हो। एक बिन्दु के अतिरिक्त अवशिष्ट सागर-पयोनिधि जितना ज्ञान अभी तुम्हारे अध्ययनार्थ अवशिष्ट हैं।”

एक क्षण के लिए स्थूलिभद्र मुनि के चेहरे पर निराशा की हल्की-सी झलक लक्षित हुई। तब आचार्यदेव ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—“वत्स! इस तरह निराशा को भीतर

प्रवेश मत करने दो। उत्साह को बनाए रखो। मैं तुम्हें बहुत शीघ्र शेष पूर्वो की वाचनाएँ देकर तुम्हारा अध्ययन पूरा करा दूँगा।”

□ मुनि स्थूलिभद्र द्वारा साध्वी बहनों को चमत्कार दिखाना

बन्धुओं! आचार्य भद्रबाहु के महाप्राणध्यान की साधना समाप्ति तक आर्य स्थूलिभद्र मुनि ने दो वस्तु कम दश पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसके बाद किसी समय आचार्य भद्रबाहु एवं महामुनि स्थूलिभद्र आदि सन्तरत्नों के दर्शनार्थ स्थूलिभद्र की यक्षा आदि सात बहनें साध्वियाँ गईं। आचार्यदेव को वन्दनादि के पश्चात् यक्षा साध्वी ने विनीत स्वर में अपने ज्येष्ठ भ्राता स्थूलिभद्र के विषय में पूछा। आचार्यदेव का इंगित पाकर वे उस ओर बढ़ीं, जिधर आर्य स्थूलिभद्र स्वाध्याय-साधनारत थे। आर्य स्थूलिभद्र ने जब उन्हें अपनी ओर आते देखा तो उनके मन में उन्हें अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने का कौतूहल उत्पन्न हुआ।

वे शीघ्र निकटस्थ एक खण्डहर में गये और तत्क्षण विद्या का प्रयोग कर एक विशाल केशरी-सिंह के रूप में काया-परिवर्तित कर वहाँ स्थित हो गये। यक्षा आदि सात ही साध्वियाँ खण्डहर में गईं तो उन्हें कहीं भी अपने अग्रज-मुनि नजर नहीं आये, तभी उनकी नजर उस विशालकाय सिंह पर पड़ी। भयभीत साध्वियाँ उल्टे पाँव लौटकर त्वरित गति से चलते हुए पुनः आचार्यदेव के निकट पहुँचीं। यक्षा सती ने आचार्यदेव से कहा—“भगवन्! वहाँ तो हमारे भ्राता-मुनि नहीं हैं अपितु एक विशालकाय केशरी-सिंह बैठा हुआ है।”

आचार्य भद्रबाहु ने उपयोग लगाया। वस्तुस्थिति उनको ज्ञात हो गई। उन्होंने पुनः यक्षा आदि साध्वियों को वहाँ भेजा। इस बार उन्हें आर्य स्थूलिभद्र के दर्शन-वन्दन का अवसर मिल गया। सिंह की जगह उन्हें पाकर वे प्रसन्न हुईं। जब स्थूलिभद्र मुनि ने बताया कि वे ही सिंह के रूप में थे, उन्होंने ही अपनी विद्या का परीक्षण किया था, तो सातों साध्वी-बहनें अपने भ्राता-मुनि को विद्याओं का आगार (कोष) समझ आनन्दित हुईं।

साध्वियाँ जब पुनः अपने स्थान को लौट गईं तो वाचना का समय होने पर आर्य स्थूलिभद्र आचार्यश्री की सेवा में पहुँचे। आचार्य भद्रबाहु का मन आर्य स्थूलिभद्र की ज्ञान-ग्रहण योग्यता के प्रति शंकाशील बन गया था।

□ मुनि स्थूलिभद्र शेष चार पूर्वो की वाचना के अयोग्य घोषित

बन्धुओं! सद्ज्ञान की प्राप्ति कठिन है। आगमज्ञान अति कठिन है। आगमज्ञान से भी कठिन है—चौदह पूर्वो का ज्ञान। पर आचार्यों का कथन है कि “पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लेना

जितना कठिन है, उससे कहीं अधिक कठिन है—उस ज्ञान को गुप्त रखना, पचा लेना, उसका प्रदर्शन न करना। गोपनीय विद्याओं के चमत्कार का यशादि के लिए प्रदर्शन का लोभ ज्ञानी की ज्ञान- गरिमा को हानि पहुँचाने वाला तथा उसकी ज्ञान-धारण योग्यता को परिवर्तित करने वाला होता है।”

आचार्य भद्रबाहु ने भी यही समझकर आर्य स्थूलिभद्र से कहा—“वत्स! अपनी विद्या का चमत्कार दिखलाकर तुमने ज्ञानार्जन और ज्ञान-पाचन की अपनी योग्यता पर आज प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। मैंने निर्णय लिया है कि तुम्हारे लिए अब इतना ज्ञान ही पर्याप्त होगा। वत्स! आगे के जो चार पूर्व हैं, वे अनेक दिव्य विद्याओं और चमत्कारपूर्ण लब्धियों से ओत-प्रोत हैं। तुम उन्हें धारणकर स्व की विस्मृति रख पाओगे, मुझे कठिन लगता है। विद्या-प्रदर्शन तो ‘स्व’ की ओर आकर्षण है। साधक को तो चाहिए कि वह प्रतिक्षण ‘आत्मानन्द-प्राप्ति’ का लक्ष्य रखकर सजग बना रहे।”

□ मुनि स्थूलिभद्र द्वारा क्षमायाचना

स्थूलिभद्र मुनि को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं था कि एक साधारण-सा प्रदर्शन मेरे लिए ऐसे भयंकर परिणाम की उत्पत्ति करेगा। मुनिवर ने बार-बार अपनी भूल के लिए क्षमायाचनाएँ कीं। पुनः ऐसी भूल कभी नहीं करने की प्रतिज्ञा भी गुरु-सम्मुख अनेक बार दोहराई।

आचार्य ने स्थूलिभद्र को उस समय के समस्त श्रमणों में बुद्धिबल, अध्यवसाय, धैर्य, गाम्भीर्य, वैराग्य, त्याग, विनय आदि गुणों में श्रेष्ठ मानकर भी जब आगे के पूर्वों की वाचनाएँ देने से इनकार कर दिया तो संघ ने उनकी सेवा में निवेदन किया कि “हे आचार्य भगवन्! आर्य स्थूलिभद्र को उनके अपराध के लिए उचित प्रायश्चित्त प्रदान कर उन्हें क्षमादान देते हुए कृपापूर्वक उन्हें आगे की वाचनाएँ प्रदान करें।”

इस पर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने जो कुछ कहा, उसका वर्णन ‘तित्थोगालियपड़ण्णा’ में इस प्रकार प्राप्त होता है—

जह जह एही काले, तह तह अप्पावराहसंरद्धा।
अणगारा पडणीए, निसंसयउ वट्टवेहिंति ॥
उप्पायणीहिं अवरे, केई विज्जाए इत्तरणं।
उव्विहविज्जाहिं, इट्ठाहिं काहि उड्डा हं ॥

मंतेहिं य चुण्णेहिं य, कुच्छियविज्जाहिं तेण निमित्तेणं ।
 कारुण उवज्जाय, भमिही सोणंत संसारे ॥

—तित्थोगालियपइण्णा

□ संघ व मुनि स्थूलिभद्र का विनीत निवेदन

तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होगा, त्यों-त्यों 'क्षणे रुष्टा-क्षणे तुष्टा' स्वभाव वाले, अविनयी, गुरु-आज्ञा की अवहेलना करने वाले स्वल्पसत्वधारी श्रमण होंगे। उनके पास यदि महान् लब्धियों वाली, चमत्कारिणी ये शक्तिशालिनी विद्याएँ चली गईं तो वे स्वल्प-क्षुद्र बुद्धि वाले श्रमण साधारण बात पर भी किसी का अनिष्ट कर संयम-पतित बन सकते हैं और अनंतकाल के लिए अपने संसार-भ्रमण को बढ़ा सकते हैं।

आचार्य भद्रबाहु के श्रीमुख से यह सब सुनकर महामुनि आर्य स्थूलिभद्र बोले—“स्वामी ! मुझ पर कृपा करो। आने वाले समय में भावी पीढ़ियाँ मुझे अपयश देंगी कि मेरे कारण ही अन्तिम चार पूर्व विनष्ट हो गये।”

□ चार पूर्वों का विच्छेद

चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु ने निश्चित रूप से यह जान लिया कि मेरे आयुष्य की समाप्ति के साथ चौदह पूर्वों में से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो जाएगा, अतः उन्होंने अन्तिम चार पूर्वों की मूल वाचनाएँ आर्य स्थूलिभद्र को दीं।

□ आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास

आचार्य भद्रबाहु पैंतालीस वर्ष की आयु-पर्यन्त गृहस्थवास में रहे। उन्होंने सत्रह वर्ष का सामान्य संयम पाला और तब जीवनकाल के शेष अन्तिम चौदह वर्षों में वे आचार्य-पद पर रहे। ७६ वर्ष की आयु पूर्ण करके वी. नि. सं. १७० में कालधर्म को प्राप्त हुए।

आचार्य भद्रबाहु वीर-शासनकाल के अन्तिम श्रुतकेवली थे। आपके स्वर्गवास के साथ श्रुतकेवली परम्परा समाप्त हो गई।

आनन्द ही आनन्द !

□□

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित

श्री बड़ी साधु वन्दना

नमूं अनन्त चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।
इण आर्य क्षेत्र मां, घाली धर्म नी शीर॥१॥

महाअतुल-बली नर, शूर-वीर ने धीर।
तीरथ प्रवर्तावी, पहुंचा भव-जल तीर॥२॥

सीमंधर प्रमुख, जघन्य तीर्थकर बीस।
छै अढी द्वीप मां, जयवंता जगदीश॥३॥

एक सौ ने सत्तर, उत्कृष्टा पदे जगीश।
धन्य मोटा प्रभु जी, तेह ने नमाऊं शीश॥४॥

केवली दोय कोड़ी, उत्कृष्टा नव क्रोड़।
मुनि दोय सहस कोड़ी, उत्कृष्टा नव सहस कोड़॥५॥

विचरे छे विदेहे, मोटा तपसी घोर।
भावे करि वन्दूं, टाले भव नी खोड़॥६॥

चौबीसे जिन ना, सगला ही गणधार।
चौदह सौ ने बावन, ते प्रणमूं सुखकार॥७॥

जिनशासन-नायक, धन्य श्री वीर जिनन्द।
गौतमादिक गणधर, बर्तायो आनन्द॥८॥

श्री ऋषभदेव ना, भरतादिक सौ पूत।
वैराग्य मन आणी, संयम लियो अद्भूत॥९॥

केवल उपजाव्यूं, कर करणी करतूत।
जिनमत दीपावी, सगला मोक्ष पहूंत।।१०।।

श्री भरतेश्वर ना, हुआ पटोधर आठ।
आदित्य जसादिक, पहूंत्या शिवपुर वाट।।११।।

श्री जिन-अन्तर ना, हुआ पाठ असंख।
मुनि मुक्ति पहूंत्या, टालि कर्मनो वंक।।१२।।

धन्य कपिल मुनिवर, नमी नमूं अणगार।
जेणे तत्क्षण त्याग्यो, सहस रमणी परिवार।।१३।।

मुनि बल हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार।
शुद्ध संयम पाली, पाम्या भव नो पार।।१४।।

वलि इखुकार राजा, घर कमलावती नार।
भग्गू ने जशा, तेहना दोग कुमार।।१५।।

छये छती ऋद्धि छांडी, लीधो संयम भार।
इण अल्पकाल मां, पाम्या मोक्ष द्वार।।१६।।

वलि संयति राजा, हिरण आहिडे जाय।
मुनिवर गर्दभाली, आण्यो मारग ठाय।।१७।।

चारित्र लेईने, भेट्या गुरु ना पाय।
क्षत्री राज ऋषीश्वर, चर्चाकरी चित्त लाय।।१८।।

वलि दशे चक्रवर्ती, राज्य रमणी ऋद्धि छोड़।
दशे मुक्ति पहूंत्या, कुल ने शोभा च्छोड़।।१९।।

इण अवसर्पिणी काल मां, आठ राम गया मोक्ष।
बलभद्र मुनीश्वर, गया पंचमे देवलोक।।२०।।

दशार्णभद्र राजा, वीर वांछा धरि मान।
पछि इन्द्र हटायो, दियो छकाय अभयदान।।२१।।

करकण्डू प्रमुख, चारे प्रत्येक बुद्ध।
मुनि मुक्ति पहुंच्या, जीत्या कर्म महाजुद्ध॥ २२॥

धन्य मोटा मुनिवर, 'म गापुत्र' जगीश।
मुनिवर अनाथी, जीत्या राग ने रीस॥ २३॥

वलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।
केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर-खेम॥ २४॥

धन्य विजयघोष मुनि, जयघोष बलि जाण।
श्री गर्गाचार्य, पहुंच्या छै निर्वाण॥ २५॥

श्री उत्तराध्ययन मां, जिनवर कर्या बखाण।
शुद्ध मन से ध्यावो, मन में धीरज आण॥ २६॥

वलि खंदक सन्यासी, राख्यो गौतम-स्नेह।
महावीर समीपे, पंच महाव्रत लेह॥ २७॥

तप कठिन करीने, झौंसी आपणी देह।
गया अच्युत देवलोके, चवि लेसे भव-छेह॥ २८॥

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सार।
शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥ २९॥

शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सार।
ये चारे मुनिवर, पहुंच्या मोक्ष मंझार॥ ३०॥

भगवंत नी माता, धन्य-धन्य सती देवानन्दा।
वलि सती जयन्ती, छोड़ दिया घर-फन्दा॥ ३१॥

सती मुक्ति पहुंच्या, वलि ते वीर नी नन्द।
महासती सुदर्शना, घणी सतियों ना वन्द॥ ३२॥

वलि कार्तिक सेठे, पड़िमा वही शूर-वीर।
जिम्यो मोरां ऊपर, तापस बलती खीर॥ ३३॥

पछी चारित्र लीधूं, मित्र एक सहस आठ धीर।
मरी हुआ शक्रेन्द्र, चवि लेसे भव-तीर।। ३४।।

वलि राय उदायन, दियो भाणेज ने राज।
पोते चारित्र लेईने, सार्या आत्म-काज।। ३५।।

गंगदत्त मुनि आनन्द, तारण तिरण री जहाज।
मुनि कौशल रोहो, दियो घणा ने साज।। ३६।।

धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभूति अणगार।
आराधक हुई ने, गया देवलोक मंझार।। ३७।।

चवी मुक्ति जासे, वलि सिंह मुनीश्वर सार।
बीजा पण मुनिवर, भगवतीमां अधिकार।। ३८।।

श्रेणिक नो बेटो, मोटो मुनिवर मेघ।
तजी आठ अन्तेउर, आण्यो मन संवेग।। ३९।।

वीर पै व्रत लेईने, बांधी तप नी तेग।
गया विजय विमाने, चवि लेसे शिव वेग।। ४०।।

धन्य थावच्चा-पुत्र, तजी बतीसों नार।
तेनी साथे निकल्या, पुरुष एक हजार।। ४१।।

शुकदेव संन्यासी, एक सहस शिष्य लार।
पाँच सौ शैलक, लीधो संयम-भार।। ४२।।

सब सहस अढ़ाई, घणा जीवां ने तार।
पुण्डरिक गिरि ऊपर, कियो पादोपगमन संथार।। ४३।।

आराधक हुई ने, कीधो खेवो पार।
हुआ मोटा मुनिवर, नाम लिया निस्तार।। ४४।।

धन्य जिनपाल मुनिवर, दोय धन्ना हुआ साध।
गया प्रथम देवलोक, मोक्ष जासे आराध।। ४५।।

श्री मल्लिनाथना छह मित्र, महाबल प्रमुख मुनिराय।
सर्वे मुक्ति सिधाव्या, मोटी पदवी पाय॥४६॥

वलि जितशत्रु राजा, सुबुद्धि नामे प्रधान।
पोते चारित्र लेई ने, पाम्या मोक्ष निधान॥४७॥

धन्य तेतली मुनिवर, दियो छ काय अभयदान।
पोटिला प्रतिबोध्या, पाम्या केवलज्ञान॥४८॥

धन्य पांचे पाण्डव, तजी द्रौपदी नार।
थेवरां नी पासे, लीधो संयम-भार॥४९॥

श्री नेमि वन्दन नो, एहवो अभिग्रह कीध।
मास-मासखमण तप, शत्रुंजय जई सिद्ध॥५०॥

धर्मघोष तणा शिष्य, धर्मरुचि अनगार।
कीड़ियो नी करुणा, आणी दया अपार॥५१॥

कड़वा तुंबा नो, कीधो सगलो आहार।
सर्वार्थसिद्ध पहुंत्या, चवि लेसे भव-पार॥५२॥

वलि पुंडरीक राजा, कुंडरीक डिगियो जाण।
पोते चारित्र लेई ने, न घाली धर्म मां हाण॥५३॥

सर्वार्थसिद्ध पहुंत्या, चवि लेसे निर्वाण।
श्री ज्ञातासूत्र मां, जिनवर कर्या बखाण॥५४॥

गौतमादिक कुंवर, सगा अठारे भ्रात।
सब अंधकविष्णु-सुत, धारिणी ज्यांरी मात॥५५॥

तजी आठ अंतेउर, काढी दीक्षा नी बात।
चारित्र लेई ने, कीधो मुक्ति नो साथ॥५६॥

श्री अनीक से नादिक, छह सहोदर भाय।
वसुदेव ना नंदन, देवकी ज्यांरी माय॥५७॥

भद्विलपुर नगरी, नाग गाहावई जाण।
सुलसा-घर वधिया, सांभली नेमि नी वाण॥५८॥

तजी बत्तीस-बत्तीस अंतेउर, निकलिया छिटकाय।
नल कूबेर समाना, भेट्या श्री नेमि ना पाय॥५९॥

करी छठ-छठ पारणा, मन में वैराग्य लाय।
एक मास संधारे, मुक्ति विराज्या जाय॥६०॥

वली दारुक सारण, सुमुख-दुमुख मुनिराय।
वली कुंवर अनाध ष्ट, गया मुक्ति-गढ़ मांय॥६१॥

वसुदेव ना नंदन, धन-धन गजसुकुमाल।
रूपे अति सुन्दर, कलावन्त वय बाल॥६२॥

श्री नेमि समीपे, छोड्यो मोह-जंजाल।
भिक्षु नी पड़िमा, गया मसाण महाकाल॥६३॥

देखी सोमिल कोप्यो, मस्तक बांधी पाल।
खेरा नां खीरा, शिर ठविया असराल॥६४॥

मुनि नजर न खंडी, मेटी मन नी झाल।
परीषह सही ने, मुक्ति गया तत्काल॥६५॥

धन जाली मयाली, उवयाली आदि साध।
सांब ने प्रद्युम्न, अनिरुध साधु अगाध॥६६॥

वलि सतनेमि, द ढनेमि, करणी कीधी निर्बाध।
दशे मुक्ति पहुंच्या, जिनवर-वचन आराध॥६७॥

धन अर्जुनमाली, कियो कदाग्रह दूर।
वीर पै व्रत लई ने, सत्यवादी हुआ शूर॥६८॥

करी छठ-छठ पारणा, क्षमा करी भरपूर।
छह मासां मांही, कर्म किया चकचूर॥६९॥

कुंवर अइमुत्ते, दीठा गौतम स्वाम।
सुणि वीर नी वाणी, कीधो उत्तम काम॥७०॥

चारित्र लेई ने, पहुंच्या शिवपुर-ठाम।
धुर आदि मकाई, अन्त अलक्ष मुनि नाम॥७१॥

वली कृष्णराय नी, अग्रमहिषी आठ।
पुत्र-बहू दोय, संच्या पुण्य ना ठाठ॥७२॥

जादव-कुल सतियां, टाल्यो दुःख उचाट।
पहुंची शिवपुर मां, ए छे सूत्र नो पाठ॥७३॥

श्रेणिक नी राणी, काली आदिक दश जाण।
दशे पुत्र-वियोगे, सांभली वीर नी वाण॥७४॥

चन्दनबाला पै, संयम लेई हुई जाण।
तप कर देह झौंसी, पहुंची छै निर्वाण॥७५॥

नंदादिक तेरह, श्रेणिक न प नी नार।
सगली चन्दनबाला पै, लीधो संयम भार॥७६॥

एक मास संथारे, पहुंची मुक्ति मंझार।
ए नेउ जणा नो, अंतगड़ मां अधिकार॥७७॥

श्रेणिक ना बेटा, जाली आदिक तेवीश।
वीर पै व्रत लेईने, पाल्यो विसवावीस॥७८॥

तप कठिन करी ने, पूरी मन जगीश।
देवलोकें पहुंच्या, मोक्ष जासे तजी रीश॥७९॥

काकन्दी नो धन्नो, तजी बत्तीसों नार।
महावीर समीपे, लीधो संयम भार॥८०॥

करी छठ-छठ पारणा, आयंबिल उज्जित आहार।
श्री वीर बखाण्यो, धन धन्नो अणगार॥८१॥

एक मास संधारे, सर्वार्थसिद्ध पहुंचत।
महाविदेह क्षेत्रमां, करसे भव नो अंत॥८२॥

धन्ना नी रीते, हुआ नव ही संत।
श्री अनुत्तरोववाई मां, भाखि गया भगवंत॥८३॥

सुबाहु प्रमुख, पांच पांच सौ नार।
तजी वीर पै लीधा, पांच महाव्रत सार॥८४॥

चारित्र लेई ने, पाल्यो निर-अतिचार।
देवलोकें पहुंच्या, सुख विपाके अधिकार॥८५॥

श्रेणिक ना पोता, पउमादिक हुआ दस।
वीर पै व्रत लेई ने, काढ्यो देह नो कस॥८६॥

संयम आराधी, देवलोक मां जई बस।
महाविदेह क्षेत्र मां, मोक्ष जासे लेई जस॥८७॥

बलभद्र ना नंदन, निषधादिक हुआ बार।
तजी पचास अंतेउरी, त्याग दियो संसार॥८८॥

सहु नेमि समीपे, चार महाव्रत लीध।
सर्वार्थसिद्ध पहुंच्या, होसे विदेहे सिद्ध॥८९॥

धन्ना ने शालिभद्र, मुनीश्वरों नी जोड़।
नारी ना बन्धन, तत्क्षण नांख्या तोड़॥९०॥

घर-कुटुम्ब-कबीलो, धन-कंचन नी कोड़।
मास-मासखमण तप, टालसे भव नी खोड़॥९१॥

श्री सुधर्मास्वामी ना शिष्य, धन-धन जम्बू स्वाम।
तजी आठ अंतेउरी, मात-पिता धनधाम॥९२॥

प्रभवादिक तारी, पहुंच्या शिवपुर-ठाम।
सूत्र प्रवर्तावी, जग मां राख्युं नाम॥९३॥

धन ढंढण मुनिवर, कृष्ण राय ना नन्द।
शुद्ध अभिग्रह पाली, टाल दियो भव फन्द॥१४॥

वलि खंदक ऋषि नी, देह उतारी खाल।
परीषह सहीने, भव-फेरा दिया टाल॥१५॥

वलि खंदक ऋषि ना, हुआ पांच सौ शीश।
घाणी मां पील्या, मुक्ति गया तज रीश॥१६॥

संभूतिविजय-शिष्य, भद्रबाहु मुनिराय।
चौदह पूर्वधारी, चन्द्रगुप्त आप्यो ठाय॥१७॥

वलि आर्द्रकुंवर मुनि, स्थूलभद्र नन्दिषेण।
अरणक अइमुत्तो, मुनीश्वरों नी श्रेण॥१८॥

चौबीसे जिन ना मुनिवर, संख्या अठावीस लाख।
ऊपर सहस अड़तालीस, सूत्र परंपरा भाख॥१९॥

कोई उत्तम वांचो, मोंढे जयणा राख।
उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख॥१००॥

धन्य मरुदेवी माता, ध्यायो निर्मल ध्यान।
गज-होदे पायो, निर्मल केवलज्ञान॥१०१॥

धन्य आदीश्वर नी पुत्री, ब्राह्मी सुन्दरी दोय।
चारित्र लेई ने, मुक्ति गई सिद्ध होय॥१०२॥

चौबीसे जिन नी, बड़ी शिष्यणी चौबीस।
सती मुक्ति पहंच्या, पूरी मन जगीश॥१०३॥

चौबीसे जिन ना, सर्व साधवी सार।
सुड़तालीस लाख ने, आठ से सतरह हजार॥१०४॥^१

१. संख्या गुजराती भाषा में है। अर्थ है चौबीसों तीर्थकरों के कुल साधवी जी (४७) सैंतालीस लाख (१७) सत्रह हजार (८) आठ सौ थे।

चेड़ा नी पुत्री, राखी धर्म नी प्रीत।
राजीमती विजया, म गावती सुविनीत।।१०५।।

पद्मावती मयणरेहा, द्रोपदी दमयंती सीत।
इत्यादिक सतियां, गई जमारो जीत।।१०६।।

चौबीसे जिन नां, साधु-साधवी सार।
गया मोक्ष देवलोके, हृदय राखो धार।।१०७।।

इण अढी द्वीप मां, घरड़ा तपसी बाल।
शुद्ध पंच महाव्रतधारी, नमो-नमो तिहुं काल।।१०८।।

इण यतियों सतियों ना, लीजे नितप्रति नाम।
शुद्ध मन थी ध्यावो, एह तिरण नो ठाम।।१०९।।

इण यतियों सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव।
इम कहे ऋषि 'जयमल', एह तिरण नो दाव।।११०।।

संवत अठारा ने, वर्ष साते सिरदार।
गढ़ जालोर मांही, एह कह्यो अधिकार।।१११।।

।। इति बड़ी साधु वंदना ।।

